आधुनिक यूरोप एवं एशिया

का

इतिहास

(१४५३ ई०—१७८९ ई०)

डॉ० लईक अहमद	ए	स्व० डॉ० निर्मल चन्द्र राय
अध्यक्ष, इतिहास विभाग	व	प्रवक्ता, इतिहास विभाग
यूइंग क्रिश्चियन कालेज, इलाहाबाद	म्	इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रयाग पुस्तक सदन

२१, यूनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद

● **प्रकाशक :**

प्रयाग पुस्तक सदन
२१, यूनिवर्सिटी रो
इलाहाबाद

● संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण : १६-१

● मूल्य : बीस रुपये मात्र ।

● **मुद्रक :**
शिव प्रिंटर्स,
आर्य नगर, इलाहाबाद

प्रस्तुत संस्करण के प्रति

'आधुनिक यूरोप एवं एशिया' का परिवर्धित एवं संशोधित संस्करण पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है। इस कृति को अधिक उपादेय बनाने हेतु विभिन्न अध्यायों में यथास्थान संशोधन कर नवीन सामग्री का समावेशन किया गया है। इस संस्करण में मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियों का भी यथासम्भव परिष्कार किया गया है।

आशा है कि प्रस्तुत संस्करण पाठकों की आवश्यकता की अधिकाधिक पूर्ति करने में सक्षम होगा।

यूइंग क्रिश्चियन कालेज, इलाहाबाद
२७ अक्तूबर, १९८१ दीपावली

—लईक अहमद

विषय-सूची

अध्याय १

आधुनिक युग का प्रारम्भ

(BEGINING OF MODERN AGE)

इतिहास क्रमबद्ध घटनाओं का विवरण है। अतः वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इसका विभाजन नहीं किया जा सकता। किन्तु अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इतिहास में घटित होने वाली कुछ विशेष घटनाओं एवं परिवतनों को सीमा-चिह्न के रूप में स्वीकार कर उन्हीं के आधार पर विद्वानों ने विश्व के इतिहास को प्राचीन युग, मध्य युग एवं आधुनिक युग इन तीन भागों में विभाजित किया है। सामान्यतः प्राचीन युग के अन्तर्गत पूर्व-पाषाण काल से महान रोमन साम्राज्य के पतन अथवा लगभग सन् ४०० ई० तक, मध्य युग के अन्तर्गत लगभग ४०० ई० से सन् १४५३ ई० अथवा पवित्र रोमन साम्राज्य (बाइजेन्टियन साम्राज्य) की राजधानी कुस्तुनतुनियाँ पर ऑटोमन तुर्कों की विजय तक तथा आधुनिक युग के अन्तर्गत सन् १४५३ ई० के बाद के इतिहास का अध्ययन किया जाता है।

पूर्व-मध्य युग

विश्व इतिहास के मध्य युग (लगभग सन् ४०० ई० से सन् १४५३ ई०) को पूर्व-मध्य युग एवं उत्तर-मध्य युग में विभाजित किया गया है। सन् ४०० ई० से ८०० ई० तक के काल को पूर्व-मध्य युग स्वीकार किया गया है। इस युग की निम्नलिखित विशेषतायें है—

(क) ईसाई धर्म का विकास एवं प्रसार :

ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसामसीह (Jesus Christ) थे। जिनका जन्म फिलिस्तीन के बेथेलहम नामक स्थान में हुआ था। यहूदियो के बीच पालन-पोषण होने एवं जीवन व्यतीत करने के कारण वे उनके सस्कारों से प्रभावित हुये। किन्तु यहूदियो की संकीर्ण मनोवृत्ति उन पर अपना प्रभाव न डाल सकी। प्रारम्भ से ही ईसामसीह सार्वभौमिकता की भावना में विश्वास करते थे। उन्होंने सादगी के साथ जीवन व्यतीत करने पर विशेष बल दिया। टाइबेरियस के शासन काल में लगभग सन् ३० ई० में ३० वर्ष की आयु में उन्हें सूली पर चढ़ा दिया गया।

ईसामसीह ने अपने धर्म के अन्तर्गत यहूदी धर्म के एकेश्वरवाद, अमरता,

भौतिक आदर्शवादिता, पुनर्जन्म, अन्तिम निर्णय, स्वर्ग तथा नरक आदि के सिद्धान्तों को यथावत स्वीकार किया । यहूदी धर्म की भांति उनका भी यह विश्वास था कि भविष्य में ईश्वर के दूत का आगमन होगा जो धर्म का राज्य स्थापित करेगा किन्तु इसके साथ ही ईसामसीह के धर्म मे मौलिकता भी दिखाई देती है । उनमें सम्पूर्ण मानव जाति के प्रति सहानुभूति की भावना थी । वे विश्व के बाह्य आडम्बरों को घृणा की दृष्टि से देखते थे । उन्होंने रूढ़िवाद एवं कर्मकाण्डों की निन्दा की । परिणामस्वरूप उनका विरोध आरम्भ हुआ जो कालान्तर में उनकी मृत्यु का कारण बनी । संक्षेप में, ईसामसीह के धर्म के प्रमुख तत्वों का निम्नलिखित रूप में उल्लेख किया जा सकता है ।

उन्होने आन्तरिक जीवन तथा समाज मे एक ऐसे धार्मिक राज्य की कल्पना की, जिससे ईश्वर का राज्य हो । ईसामसीह ने बाह्य आडम्बरों का अस्वीकार नहीं किया, वरन् उनसे घृणा करते हुये मनुष्य की आन्तरिक शुद्धि पर विशेष बल दिया । उनके अनुसार ईश्वर के प्रति श्रद्धा एवं अपने द्वारा किये गये पापों के प्रायश्चित द्वारा ही ब्रह्माण्ड में धर्म का राज्य स्थापित हो सकता है । ईसामसीह के अनुसार मानव ईश्वर का पुत्र होने के कारण सर्वोपरि तथा सर्वश्रेष्ठ है । इसलिये उन्होंने सार्वभौम भ्रातृत्त्व (Universal brotherhood) की कल्पना की । ईसामसीह के अनुसार क्षमा प्रदान करना मनुष्य का एक अमूल्य गुण है । मनुष्य को अपने शत्रुओं से भी मित्र जैसा व्यवहार करना चाहिये और उसके दुर्गुणों को क्षमा कर देना चाहिए । ईसामसीह ने अहिंसा एवं शान्ति की भावना पर भी काफी बल दिया और कहा कि मनुष्य में बदले की भावना नहीं होनी चाहिये । उन्होंने ईश्वर के ऊपर पूर्ण श्रद्धा पर अत्यधिक बल दिया । इतना ही नहीं ईसामसीह ने नैतिक एवं मानवीय मान्यताओं पर भी काफी जोर दिया और रूढ़िवादिता एवं परम्परागत धार्मिक संस्कारों का विरोध किया ।

ईसामसीह के समय तक उनके सिद्धान्त काफी फैल चुके थे और उनके शिष्यों के विश्वास के अनुसार ईसाई धर्म के प्रवर्त्तक ने अपने को ईश्वर का पुत्र स्वीकार करते हुए ईसा के नाम से अपना परिचय दिया जो ईश्वर द्वारा इस पृथ्वी पर मानव जाति के पापों के मध्य रहने तथा मृत्यु को प्राप्त होने के लिए भेजा गया था । उनके शिष्यों का यह विश्वास था कि तीन दिन तक कब्र में रहने के पश्चात् ईसामसीह स्वर्ग चले गये जहाँ से एक बार फिर वह विश्व का उद्धार करने के लिए आयेंगे ।

ईसाई धर्म का प्रचार मुख्यतः सन्त पॉल के द्वारा हुआ । जिन्होंने कहा कि ईसामसीह ईश्वर के पुत्र थे । उनका जन्म सृष्टि की नींव से हुआ था और सूली पर जिनकी मृत्यु मानव जाति को उसके पापों से मुक्ति दिलाने के लिए हुई थी । सन्त पॉल के अनुसार "मनुष्य स्वभाव से पापी है और इसीलिए वह केवल ईश्वर की कृपा और उसके प्रति श्रद्धा के द्वारा (जिसके प्रतीक ईसामसीह हैं) ही पापों से

बच सकता है।" इसका तात्पर्य यह है कि "मनुष्य का भाग्य पूर्णतः ईश्वर की इच्छा पर निर्भर करता है।" ईश्वर उन्हीं पर दया करता है जिन पर वह दया करना चाहता है।

कालान्तर में ईसाई धर्म के अत्यधिक प्रचार के कारण एक ऐसे संगठन की आवश्यकता प्रतीत हुई जो ईसाई धर्मावलम्बियों को एक सूत्र में बाँध कर उन्हे नियम-बद्ध कर सके। फलस्वरूप सन् ४०० ई० तक आते-आते चर्च संगठन की स्थापना की गयी और सन् ४५५ ई० में उसका स्वरूप निर्धारित कर रोम के पोप को सर्वोच्च माना गया और यह चर्च सगठन 'रोमन कैथोलिक चर्च' के नाम से जाना जाने लगा। इस चर्च संगठन ने उत्तर-मध्य युग तक आते-आते सभी क्षेत्रों में अपना प्रभाव स्थापित कर लिया।

(ख) इस्लाम धर्म का अभ्युदय एव प्रसार :

इस्लाम धर्म के प्रचारक पैगम्बर मोहम्मद साहब का जन्म मक्का में ५७० ई० में कुरैश कबीले में हुआ था। इस ससार मे आँखे खोलने से पूर्व ही उनके पिता अब्दुल्ला का स्वर्गवास हो गया तथा छः वर्ष पश्चात उनकी माता का भी देहावसान हो गया। इस प्रकार मोहम्मद साहब का पालन पोषण उनके चाचा अबू तालिब ने किया जो कि एक व्यापारी थे। मोहम्मद साहब को २५ वर्ष की आयु में खादिजा नामक एक विधवा स्त्री ने अपना व्यापारिक कार्यकर्ता नियुक्त किया। खादिजा उनके गुणों से इतना प्रभावित हुई कि कुछ समय पश्चात उसने मोहम्मद साहब से विवाह कर लिया। खादिजा से मोहम्मद साहब के दो पुत्र एवं चार पुत्रियाँ हुईं। जिसमें एक पुत्री का नाम फातिमा था जिसका विवाह मोहम्मद साहब के चाचा अबू तालिब के पुत्र अली से हुआ जो कालान्तर में इस्लाम धर्म के चौथे तथा अन्तिम खलीफा हुए।

मोहम्मद साहब को ४० वर्ष की आयु में हिरा गुफा में ईश्वर का सर्वप्रथम पैगाम (सन्देश) मिला कि "अल्लाह के अतिरिक्त कोई दूसरा नही है। मोहम्मद उसका पैगम्बर (प्रतिनिधि) है।" पैगम्बर मोहम्मद साहब ने मक्का में फैली हुई मूर्ति पूजा का खण्डन किया। उनके इस कार्य से कुरैश कबीला उनसे अत्यन्त रुष्ट हो गया। अतः मोहम्मद साहब को विवश होकर मक्का छोडकर मदीने की ओर प्रस्थान करना पड़ा और यहीं से अर्थात् सन् ६२२ ई० से हिजरी सम्वत का आरम्भ होता है। उनके मदीने पहुँचने पर वहाँ के निवासियों ने बहुत स्वागत किया और उनको ईश्वर का पैगम्बर भी स्वीकार किया। कुछ समय पश्चात मोहम्मद साहब ने मक्का पर आक्रमण करके वहाँ के लोगों को परास्त किया और इस प्रकार वहाँ के लोगों ने भी उन्हें अपना प्रधान एवं ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार किया। मोहम्मद साहब ने अत्यन्त उत्साह एवं लगन के साथ अपने धर्म का प्रचार किया। किन्तु वह अधिक

समय तक जीवित न रह सके और केवल ६३ वर्ष की आयु में सन् ६३२ ई० में उनका स्वर्गवास हो गया।

इस्लाम धर्म के अनुयायी 'मुसलमान' कहलाते हैं और 'कुरान' उनका मूल एवं पवित्र ग्रन्थ है। कुरान के अनुसार ईश्वर एक है, उसके अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है और मोहम्मद साहब उसके पैगम्बर हैं। ईश्वर का न कोई आदि है और न अन्त। वह सर्वशक्तिमान, सर्वद्रष्टा एवं अत्यन्त दयालु है। इस्लाम धर्म के अन्तर्गत प्रत्येक मुसलमान को समान अधिकार प्राप्त हैं। प्रत्येक मुसलमान के लिए पाँच परम कर्त्तव्य हैं। सर्वप्रथम, कलमा अर्थात् ईश्वर तथा उसके पैगम्बर में विश्वास करना। दूसरे, नमाज जो दिन में पाँच बार पढ़ी जाती है। तीसरे, जकात जिसके अन्तर्गत एक मुसलमान अपनी आय का १/४० भाग निर्धनों एवं असहायों की सहायता के लिए दान के रूप में देता है। चौथे, रमजान के महीने में एक मास तक रोजा (व्रत) रखना। पाँचवे, हज के अन्तर्गत प्रत्येक मुसलमान को अपने जीवन काल मे मक्का की तीर्थ-यात्रा करनी चाहिये।

पैगम्बर मोहम्मद साहब के पश्चात् उनके खलीफाओं ने बड़े उत्साह के साथ धर्म का प्रचार एवं राज्य विस्तार किया। परिणामस्वरूप कुछ समय पश्चात अरब से निकलकर इस्लाम धर्म ने यूरोप में भी प्रवेश किया।

(ग) जर्मन जातियों का बढ़ता हुआ प्रभाव :

पूर्व-मध्य काल की अन्तिम विशेषता जर्मन जातियों का बढ़ता हुआ प्रभाव था जो नार्डिक वंश (Nordic stock) के थे। समय के साथ-साथ उन्होंने यूरोप के विभिन्न देशों में अपना प्रभाव स्थापित करना प्रारम्भ किया।

उत्तर-मध्य युग

उत्तर-मध्य युग लगभग सन् ८०० ई० से १४५३ ई० तक माना जाता है। इस काल की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं :—

(क) धार्मिक एकता :

उत्तर-मध्य युग को सर्वप्रथम विशेषता यूरोपीय जगत की धार्मिक एकता थी। पाँचवीं शताब्दी तक आते-आते कैथोलिक चर्च संगठन धर्म के निरंतर बढ़ते हुये प्रभाव के कारण अपना प्रभाव बढ़ा रहा था। ११वीं शताब्दी तक आते-आते लगभग सम्पूर्ण यूरोप ईसाई धर्म का अनुयायी हो गया। १२वीं शताब्दी से लेकर १५वीं शताब्दी के अन्त तक चर्च के इस प्रभाव के कारण यूरोप एवं ईसाई जगत को एक ही समझा जाने लगा। क्योंकि ईसाई धर्म का अर्थ था यूरोप तथा यूरोप का अर्थ था ईसाई जगत। ईसाई धर्म ने केवल धार्मिक जीवन को ही प्रभावित नहीं किया

वरन् जीवन के सभी क्षेत्रो यथा राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि को भी अपने प्रभाव के अन्तर्गत कर लिया था।

(ख) सामन्तवाद :

इस काल की दूसरी विशेषता सामन्तवादी व्यवस्था थी। मध्य-युगीन समाज मुख्य रूप से सामन्तवाद पर आधारित था। सामन्तवाद ऐसी सामाजिक व्यवस्था थी जिसके अन्तर्गत सामन्त तथा जागीरदार अपने क्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों पर प्रभाव बनाये रखना अपना अधिकार समझते थे। इतिहासकार हेज के अनुसार "सामन्त राजा के सेवक तथा कृषकों के स्वामी थे।" कृषकों को अपने सामन्तों के समक्ष यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि "मैं प्राप्त भूमि के लिए आपका सेवक हूँ तथा जीवन पर्यन्त स्वामी-भक्ति के साथ आपकी सेवा करता रहूँगा।" इन सेवाओं के बदले वंशानुगत सामन्त अपने आधीनस्थ सेवकों की रक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर स्वीकार करते थे। अस्तु, इस प्रथा में दास और स्वामी दोनों एक दूसरे पर निर्भर थे। स्वामी, दासों की रक्षा करते थे तथा दास उसके बदले उनकी सेवा करते थे। इसके अतिरिक्त कृषकों अथवा दासों को अपने क्षेत्र के सामन्त अथवा जागीरदार को अनेक प्रकार के कर तथा उपहार भी देने पड़ते थे। उन्हें अपने स्वामी के खेतों में अनिवार्य रूप से बेगार भी करना पड़ता था।

आधुनिक युग का प्रारम्भ

आधुनिक युग के प्रारम्भ होने की तिथि के सम्बन्ध में इतिहासकार एक मत नहीं है। क्योंकि विभिन्न घटनाओं के आधार पर इतिहासकारों ने अलग-अलग तिथियाँ निश्चित की है। कुछ इतिहासकार आधुनिक इतिहास का प्रारम्भ सन् १४५३ ई० में कुस्तुनतुनियाँ पर तुर्कों के आधिपत्य अथवा सन् १४९२ ई० में कोलम्बस द्वारा अमेरिका की खोज से मानते हैं। कुछ इतिहासकारो के अनुसार आधुनिक काल का प्रारम्भ १६वीं शताब्दी के धर्मसुधार आन्दोलन से होना है तथा कुछ इतिहासकार आधुनिक काल का प्रारम्भ १३वीं शताब्दी से बताते हैं। किन्तु अधिकतर इतिहासकार आधुनिक इतिहास का प्रारम्भ १५वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से स्वीकार करते हैं। क्योंकि आधुनिक सभ्यता को एक निश्चित स्वरूप प्रदान करने में अनेक आन्दोलनों का सहयोग रहा है, जिनमें से कुछ का उदय अन्य आन्दोलनों से पूर्व हुआ। किन्तु १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वे सभी आन्दोलन विकास की ओर उन्मुख थे। अस्तु यदि हम आधुनिक युग के इतिहास का प्रारम्भ सन् १४५३ ई० मे कुस्तुनतुनियाँ के पतन तथा उस पर तुर्कों के आधिपत्य से स्वीकार करें तो यह अधिक तर्क संगत होगा।

आधुनिक युग के प्रारम्भ में कुस्तुनतुनियाँ पर तुर्कों के आधिपत्य का अत्यधिक महत्व है। क्योंकि कुस्तुनतुनियाँ यूरोप में यूनानी विद्या, संस्कृति, व्यापार एवं वाणिज्य का प्रधान केन्द्र था। इस पर तुर्कों का अधिकार हो जाने के कारण यहाँ के साहित्यकारों, कलाकारों एवं विद्याप्रेमियों ने इटली में जाकर शरण ली जो पहले से ही यूरोपीय पुनर्जागरण का केन्द्र बन चुका था। इन लोगों ने इटली में पहुँचकर अपने सहयोग द्वारा पुनर्जागरण को नवीन शक्ति एव स्फूर्ति प्रदान की। मानववाद के उत्थान के साथ-साथ लोगो में आलोचनात्मक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हुआ जिसने भविष्य में प्रोटेस्टेन्टवाद को जन्म दिया। इसके अतिरिक्त कुस्तुनतुनियाँ के पतन के पश्चात् यूरोप तथा पूर्वी देशों के मध्य व्यापार स्थगित हो गया। क्योंकि इस नगर से होकर जाने वाले स्थलीय मार्ग यूरोपीय व्यापार के लिए बन्द हो गये। अतः यूरोपीय साहसिको ने नये व्यापारिक मार्गों की खोज प्रारम्भ की। सन् १४९२ ई० में कोलम्बस ने अमेरिका की खोज की तथा सन् १४९८ ई० में वास्को-डि-गामा ने भारत के मार्ग का पता लगाया। इन भौगोलिक खोजों के फलस्वरूप यूरोपीय राज्यों में उपनिवेश स्थापन, धर्म प्रचार तथा साम्राज्य विस्तार के लिए प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हुई। इस प्रकार कुस्तुनतुनियाँ के पतन से पुनर्जागरण की गति तीव्र हो उठी। जिसने मध्ययुगीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में नवीन परिवर्तनों को जन्म दिया। आधुनिक इतिहास को प्रारम्भ करने वाले इन परिवर्तनों अथवा विशेषताओं का हम निम्नलिखित रूप में उल्लेख कर सकते हैं।

(क) राजनीतिक :

मध्य युग से आधुनिक युग को अलग करने वाली पहली विशेषता राष्ट्रीय राज्यों का उदय है। मध्य काल में धार्मिक क्षेत्र में पोप तथा राजनीति में सम्राट का प्रधानता थी। किन्तु १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अनेक राष्ट्रीय राज्यों का उदय हुआ जिसने मध्य युग की राजनीतिक व्यवस्था पर गहरा आघात किया। राजाओं ने अपनी शक्ति को बढ़ाने का प्रयास आरम्भ कर दिया। वे कुलीन वर्ग की शक्तियों को समाप्त कर अपने राज्यों में एक सुदृढ़ केन्द्रीयकृत शासन की स्थापना में प्रयत्नशील हो गये। इतना ही नहीं चर्च के अन्तर्गत भी मतभेद प्रारम्भ हो गया। वहाँ भी एक वर्ग राष्ट्रीय भावना से पूर्ण था। इस राष्ट्रीयता की भावना के कारण ही विभिन्न देशों के मध्य अपनी प्रधानता स्थापित करने के उद्देश्य से प्रतिद्वन्दिता एवं संघर्ष का उदय हुआ। यूरोप के छोटे बड़े प्रत्येक देश यूरोपीय राजनीति में अपने प्रभाव को स्थापित करने में लग गये। इन विभिन्न देशों की आपसी शत्रुता ने 'शक्ति सन्तुलन' (Balance of Power) को जन्म दिया। जब कभी भी एक देश

शक्तिशाली होने लगा तो उसके विरुद्ध अन्य देशो ने गुट का निर्माण किया और शक्ति सन्तुलन को बनाये रखने का प्रयास किया। सन् १४६४ ई० में जब फ्रांस के राजा चार्ल्स आठवें ने इटली पर आक्रमण किया और नेपल्स पर अधिकार कर लिया तो यूरोप के अन्य राज्यों के लिए यह असह्य हो गया। उन्होने फ्रांस के विरुद्ध एक गुट का निर्माण किया। इस प्रकार भविष्य मे इस गुट निर्माण ने राष्ट्रीय प्रतिद्वन्दिता एव शत्रुता को जन्म दिया।

(ख) सामाजिक :

मध्य-कालीन समाज सामन्तवाद पर आधारित था किन्तु अब सामन्तवाद पतनोन्मुख हो चला था। क्योंकि नये आविष्कारों तथा शस्त्रों के निर्माण के कारण सामन्तो का सैनिक महत्व कम होने लगा। इसके अतिरिक्त मध्य काल में सामन्तों के प्रति लोग अपनी स्वामिभक्ति रखते थे, किन्तु राष्ट्रीयता की भावना के विकास के कारण अब वे सामन्तों के स्थान पर राजा के प्रति स्वामिभक्ति रखने लगे। आधुनिक युग की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता समाज में मध्यम वर्ग का उदय था। मध्य काल में समाज तीन वर्गों में विभाजित था। पहला पुरोहित वर्ग (Clergy), दूसरा सामन्त वर्ग (Nobility) तथा तीसरा तृतीय वर्ग (Third Estate) कहलाता था। किन्तु मध्य युग के अन्तिम चरण मे पुरोहित वर्ग का प्रभाव काफी कम होने लगा तथा कुलीन वर्ग की शक्ति भी पतनशील हो चली थी तथा समाज में एक नवीन वर्ग अर्थात् मध्यम वर्ग का उदय हो रहा था। फ्रांस में इस मध्यम वर्ग को 'बुर्जुआ' की संज्ञा दी गयी। इस नये वर्ग के अन्तर्गत व्यापारी छोटे उद्योगपति एवं पूँजीपति सम्मिलित थे। इसी वर्ग मे लेखक, इतिहासकार तथा वैज्ञानिकों का भी उदय हुआ जिन्होने अपनी साहित्यिक रचनाओं तथा खोजों के द्वारा अपने-अपने क्षेत्रों में नवीन जागृति उत्पन्न कर दी। इसके अतिरिक्त राजनीति के क्षेत्र में मध्यम वर्ग का प्रभाव प्रतिदिन बढ़ने लगा जिसने मध्य युग को समाप्त कर आधुनिक युग का प्रारम्भ किया।

(ग) आर्थिक :

आर्थिक क्षेत्र में आधुनिक युग की सबसे प्रमुख विशेषता वाणिज्य का विकास था। वाणिज्य के विकास के सम्बन्ध में दो घटनायें अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं जिनके कारण आधुनिक युग मे वाणिज्य के क्षेत्र में काफी प्रगति हुई—सर्वप्रथम पूर्व की ओर नवीन सामुद्रिक मार्ग की प्राप्ति तथा दूसरी घटना 'नवीन संसार' की खोज थी। इन घटनाओ के फलस्वरूप व्यापार के केन्द्र में भी परिवर्तन हुआ। अब भूमध्य-सागर से हट कर अटलांटिक-सागर व्यापार का क्षेत्र बना। इसके साथ ही साथ उपनिवेशों की स्थापना के लिए अनेक देशों ने प्रयास प्रारम्भ कर दिये। व्यापार एवं वाणिज्य की उन्नति के उद्देश्य से यूरोपीय देशों ने अपनी नाविक-शक्ति को उन्नति-

शील बनाने का प्रयत्न किया इसके अतिरिक्त यह नाविक शक्ति उपनिवेशों की स्थापना के सम्बन्ध में भी सहायक सिद्ध हुई।

वाणिज्य के क्षेत्र में पूँजीवाद का विकास हुआ तथा विभिन्न स्थानो पर अनेक व्यापारिक कम्पनियों की स्थापना हुई। इन कम्पनियों ने उपनिवेशों को अपना बाजार बना कर उनका शोषण प्रारम्भ किया।

(घ) धार्मिक :

मध्य युग में पोप ईसाई जगत का प्रधान था तथा वह अन्य पदाधिकारियों की सहायता से शासन करता था। वह प्रधान विधिवेत्ता, प्रधान न्यायाधीश तथा चर्च का प्रमुख प्रशासक था। वह किसी भी व्यक्ति को देश-निष्कासन का आदेश दे सकता था। पोप की आय का प्रमुख साधन चर्च की सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली धनराशि तथा चर्च द्वारा वसूल की जाने वाली धनराशि थी। किन्तु १४वीं तथा १५वीं शताब्दी में पुरोहित वर्ग के विरुद्ध समाज में अनेक भावनाओं का उदय हुआ। पश्चिमी यूरोप के अनेक देशों के चर्च में फैली हुई कुरीतियों की ओर लोगों का ध्यान गया और उन्होंने चर्च की बुराइयों के विरुद्ध विद्रोह आरम्भ कर दिया। पोप के न्यायालय के विरुद्ध भी लोग विरोध करने लगे थे। चर्च विरोधी इन भावनाओं का काफी तेजी से प्रचार होने लगा। साहित्यिकारों ने विरोध के लिए क्षेत्रीय भाषा को माध्यम के रूप में चुना। इस प्रकार की साहित्यिक रचनाओं में बोकेचियो कृत 'डिकैमराँ' (Decameron) तथा चॉसर कृत 'केन्टरबरी टेल्स' (Canterbury Tales) प्रमुख उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त यूरोप के अन्य देशों मे भी चर्च के विरुद्ध अनेक आन्दोलन हुये जिनमें इंग्लैण्ड में जॉन विक्लिफ (John Wycliff) तथा बोहेमिया में जॉन हस (John Huss) के आन्दोलन विशेष उल्लेखनीय है।

इसके साथ ही साथ राष्ट्रीय राज्यों की सरकारों ने अपने को पोप के प्रभाव से मुक्त करने का प्रयास आरम्भ किया। १४वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड की ससद ने अनेक ऐसे नियम पास किये जिनके द्वारा उसने इंग्लैण्ड में पोप के प्रभाव को कम करने का प्रयास किया। इसके पश्चात यूरोप के अन्य देशों ने भी इंग्लैण्ड की ही भाँति राज्य के प्रशासन से पोप तथा चर्च के प्रभाव को सीमित करने का प्रयास किया। १६वीं शताब्दी में इस चर्च विरोधी भावना ने धर्म सुधार आन्दोलन का रूप धारण कर लिया और जिसके फलस्वरूप 'प्रोटेस्टेन्ट चर्च' की स्थापना हुई।

(ङ) सांस्कृतिक :

आधुनिक युग को प्रारम्भ करने में 'सांस्कृतिक पुनर्जागरण' का अत्यधिक महत्व है। मध्यकालीन यूरोपीय समाज, शिक्षा एवं संस्कृति पर रोमन कैथोलिक चर्च की प्रधानता स्थापित थी। धर्म पर आधारित समाज के अन्तर्गत धर्मशास्त्रों एवं धर्म

के अध्ययन तथा लोकप्रिय अन्धविश्वासो में विश्वास पर बल दिया जाता था। जन समूहों एव वर्गों के विवेक पर चर्च का अत्यधिक प्रभाव था। किसी को अपने विचारों को व्यक्त करने की स्वतन्त्रता न थी। लेखक, कलाकार, वैज्ञानिक एवं दार्शनिक चर्च से प्रेरित उसी संकुचित विचारधारा के अनुयायी बने हुये थे। परन्तु 'श्रेण्य विद्या' (Classical learning) के पुनरुद्दार ने अधकार युग के आवरण को खींचकर पुनर्जागरण काल का शुभारम्भ किया। पुनर्जागरण काल की संस्कृति ने धर्म-निरपेक्षवाद, मानववाद, उदारवाद तथा सर्वदेशीयता का प्रतिनिधित्व किया। शिक्षा, कला एव साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में इस धर्म-निरपेक्षता की भावना स्पष्ट दिखाई देने लगी। लोगों में प्रकृति के प्रति विशेष रुचि उत्पन्न होने के कारण उनमे वैज्ञानिक दृष्टिकोण का उदय हुआ। जिससे लोगो ने अब धर्म के सम्बन्ध मे भी सोचना प्रारम्भ किया। विज्ञान के क्षेत्र मे अनेक आविष्कारों मे छापे खाने का आविष्कार भी एक था। छापेखाने के आविष्कार के कारण पुस्तकें अब सस्ती बिकने लगीं जिससे अब साधारण लोगों के लिए भी उन पुस्तकों को खरीद कर पढ़ना सरल हो गया। मध्य युग की भाँति शिक्षा केवल पुरोहित वर्ग तक ही सीमित न रही। अब यह सामान्य जनता के बीच भी पहुँचने लगी। इस प्रकार यूरोप के विभिन्न देशों में यह नवीन जागृति पुस्तकों के माध्यम से पहुँच सकी। संक्षेप में, सांस्कृतिक जागरण के फलस्वरूप लोगों में धर्म-निरपेक्षता तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हुआ जिसने धर्म-सुधार आन्दोलन का मार्ग प्रशस्त किया।

— — —

अध्याय २

सांस्कृतिक पुनर्जागरण

(RENAISSANCE)

'पुनर्जागरण' (Renaissance) शब्द का अर्थ 'पुनर्जन्म' (Rebirth) अथवा फिर से जागना (Revival) अथवा किसी समाप्तप्राय अवशेषो का पुनरुद्धार है। कुछ इतिहासकारों ने इस आन्दोलन को 'सांस्कृतिक पुनरुत्थान' का नाम भी दिया है। इसकी कोई सरल एव स्पष्ट परिभाषा नही दी जा सकती है। व्यापक रूप से यह कहा जा सकता है कि यूरोपीय इतिहास में मध्य एवं आधुनिक युग के सधि काल मे प्राचीन विद्या, साहित्य, कला एव विज्ञान के क्षेत्र मे जो पुनरुद्धार हुआ उसे सस्कृति का 'पुनर्जन्म' अथवा 'पुनर्जागरण'' कहते है। इतिहासकार राबर्ट एरगान्ग के अनुसार, "सास्कृतिक पुनर्जागरण का तात्पर्य मध्य युग से आधुनिक युग को लाने वाले उन सभी परिवर्तनो से है जैसे सामन्तीय व्यवस्था का पतन, प्राचीन साहित्य के अध्ययन के प्रति अभिरुचि, राष्ट्रीय राज्यों का उत्कर्ष, आधुनिक विज्ञान का आरम्भ, गतिशील अक्षर एवं मुद्रणालय (छापाखाना) का आविष्कार, बारूद, कुतुबनुमा का आविष्कार, नये व्यापारिक मार्गों की खोज, नये देशो तथा अमेरिका की खोज तथा प्रारम्भिक पूँजीवाद के विकास से है।" सीमित रूप से इसका अभिप्राय उन विशेष सास्कृतिक परिवर्तनों से है जो १३वी शताब्दी से लेकर १६वीं शताब्दी के मध्य तक हुए थे।

इतिहासकार फिशर के मतानुसार, "सर्वप्रथम इटली के नगरों में प्राचीन यूनानी एवं रोमन कला, साहित्य, सस्कृति का पुनर्गठन, मानववादी आन्दोलन का प्रारम्भ, धार्मिक क्षेत्र मे प्राचीन यूनानी सभ्यता का समावेश, स्थापत्य एवं चित्रकला का नवीन स्वरूप, व्यक्तिवादी एव स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धान्तों का विकास, नवीन रुचि, नया दृष्टिकोण, वैज्ञानिक एव ऐतिहासिक आलोचना, छापेखाने का आविष्कार दर्शन एव धर्मशास्त्र का नवीन स्वरूप तथा विवेचन आदि विशेषताओं को सामूहिक रूप से सास्कृतिक पुनर्जागरण कहते है।"

संक्षेप मे, मध्य युग के उत्तरार्द्ध मे सम्पूर्ण यूरोप एक मोहमयी निद्रा में सोया हुआ था। रोमन कैथोलिक चर्च, सामन्तवादी व्यवस्था आदि के प्रभाव से वहा का जन-जीवन जकडा हुआ था, परन्तु धीरे-धीरे वहाँ जागृति के चिह्न प्रगट होने लगे। यह प्रवृत्ति ऐसे तो १३वी शताब्दी से ही प्रारम्भ हो गयी थी किन्तु १४वीं एवं १५वी शताब्दी मे इसने एक स्पष्ट रूप धारण कर लिया और कुछ अशो मे १६वीं

शताब्दी के आरम्भिक चरण में भी यह प्रवृति वर्तमान रही। सभी क्षेत्रों मे निरन्तर प्रगति होती रही। इसीलिये इस प्रवृति के युग का हम 'पुनर्जागरण' अथवा 'पुनः जागरण' कहते हैं।

पुनर्जागरण आन्दोलन के कारण :

पुनर्जागरण आन्दोलन के कारणा पर यदि हम दृष्टिपात करें तो ज्ञात होगा कि यह आन्दोलन किसी एक आकस्मिक घटना का परिणाम न था वरन् यह एक क्रमिक एव क्रमबद्ध विकास का फल था।

पुनर्जागरण आन्दोलन का सर्वप्रथम कारण अध्ययन एवं विवेचन की वह प्रवृत्ति थी जो १३वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में आरम्भ हुई और जिसके अन्तर्गत प्राचीन रोमन एवं यूनानी साहित्य के अध्ययन तथा वर्तमान परम्पराओं के साथ उसके उचित समिश्रण की ओर विद्वानो ने ध्यान दिया। १२वी शताब्दी तक यूरोप के विभिन्न देश मध्ययुगीन परम्पराओं से जकड़े हुये थे। किन्तु उत्तर-मध्यकालीन संस्थाओं की अवनति के फलस्वरूप विचार-पद्धति की एक नवीन कड़ी का सूत्रपात हुआ जो पुनर्जागरण आन्दोलन को आगे बढ़ाने मे काफी सहयोगी हुई।

इस आन्दोलन का दूसरा कारण विभिन्न विचारकों एव दार्शनिकों द्वारा स्वतन्त्र विचारों की अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति का उदय था। प्राचीन युग की यूनानी एव रोमन सभ्यतायें अत्यन्त सुसंस्कृत एवं विकसित थी। अरस्तू तथा प्लेटो आदि दार्शनिकों ने लक्ष्य की प्राप्ति और तथ्य तक पहुँचने में तर्क एवं विचार का आश्रय लिया था। उन्होंने अपने विचारों में अन्ध-विश्वास एवं धार्मिकता आदि का कोई स्थान नहीं दिया। दूसरे शब्दों में, इन विचारको ने अपने दर्शन में तत्व-चिंतन का विशुद्ध प्रतिपादन का प्रयास किया। उत्तर-मध्य कालीन संस्थाओं की अवनति के पश्चात पश्चिमी यूरोप के विभिन्न देशों के विद्वानों ने अरस्तु, प्लेटो आदि प्राचीन दार्शनिको के विचारो को समझने का प्रयास किया जो पुनर्जागरण आन्दोलन का एक कारण बना।

पुनर्जागरण आन्दोलन का तीसरा प्रमुख कारण १३वीं शताब्दी में रोमन कैथोलिक चर्च विरोधी विचारों का उदय था। मध्य युग का अति शक्तिशाली चर्च १४वीं शताब्दी तक आते-आते शक्तिहीन हो चला था। यूरोप में १३वीं तथा १४वी शताब्दी में कुछ ऐसे विचारक भी हुये जिन्होंने चर्च के प्रमाणवाद तथा प्रभाव को स्वीकार न करते हुए निष्पक्ष वैज्ञानिक अनुसंधान तथा विचारों के स्वतन्त्र प्रकाशन पर अत्यधिक बल दिया। ऐसे विचारकों में रोजर बेकन (Roger Bacon, 1214-1294 ई०) अग्रगण्य था। उसका विचार था कि पुरानी परिपाटी के अन्धानुकरण के स्थान पर मस्तिष्क एवं बुद्धि से काम लेना चाहिये। प्राचीन विचारों को

मानने से कोई लाभ नहीं है। अपितु उसके स्थान पर यदि बुद्धि एवं तर्क के द्वारा सत्य की खोज की जाय तो मानव समाज का कल्याण होगा। रोजर बेकन का यह भी मत था कि यदि मनुष्य अपने मस्तिष्क एवं बुद्धि को प्रमाणवाद से स्वतन्त्र कर ले तो वह प्रगति के पथ पर अग्रसर होगा। अभी तक लोग चर्च की आलोचना करने का साहस न करते थे। क्योंकि चर्च का विरोध करने वाले मृत्यु-दण्ड के भागी होते थे किन्तु रोजर बेकन ने सर्वप्रथम चर्च को चुनौती दी। उसकी विचार-धारा को अन्य विचारकों ने आगे बढाया। उनके इन विचारों ने पुनर्जागरण में सहयोग प्रदान किया।

तुर्क नेता महमूद द्वितीय द्वारा कुस्तुनतुनियाँ की विजय भी पुनर्जागरण को प्रारम्भ करने में सहायक हुई। सन् १४५३ ई० में पूर्व बाइजेन्टियन साम्राज्य की राजधानी कुस्तुनतुनियाँ यूरोपीय सभ्यता एवं संस्कृति का केन्द्र था। वहाँ के विद्वान प्राचीन यूनानी एवं रोमन साहित्य के अध्ययन पर विशेष बल दे रहे थे। परन्तु सन् १४५३ ई० में तुर्कों के विजयोपरान्त परिस्थिति में परिवर्तन हो गया। तुर्कों के अत्याचार के कारण विद्वानों ने कुस्तुनतुनियाँ छोड़कर पश्चिम यूरोप की ओर प्रस्थान किया तथा वे इटली जा पहुँचे जो स्वयं संस्कृति का एक प्रमुख केन्द्र था। विद्वानों के साथ पठन-पाठन की परम्परा भी इटली पहुँची। इटली के विद्वानों ने इनका स्वागत किया। इन दोनों देशों के विद्वानों के सम्मिलित प्रयासों के फलस्वरूप इटली में एक नई परम्परा का विकास हुआ जो सांस्कृतिक पुनर्जागरण आन्दोलन के रूप में प्रगट हुई।

इटली में पुनर्जागरण का आरम्भ

पुनर्जागरण का प्रारम्भ सर्वप्रथम इटली से हुआ। इसके निम्नलिखित कारण थे :

(क) राजनीतिक दृष्टि से उस समय इटली एक छोटा एवं महत्वहीन देश था। किन्तु सांस्कृतिक क्षेत्र मे उसकी विशेषतायें यूरोप के अन्य देशों की अपेक्षा अधिक थी। वहाँ के दार्शनिक और विचारक अपने मतों को किसी भी रूप में व्यक्त करने के लिए पूर्णतः स्वतन्त्र थे। जिसके कारण वहाँ के दार्शनिक एवं विचारक अध्ययन एवं मनन की ओर अधिक ध्यान दे रहे थे।

(ख) इटली के विचारक तथा दार्शनिक अन्य देशों के विद्वानों की अपेक्षा तर्क के स्थान पर जीवन की वास्तविकता को सदैव ध्यान में रखते हुए अध्ययन एवं मनन किया करते थे। जिससे वे जीवन के मूलभूत वास्तविक तथ्यों को समझने मे सफल हुए तथा अन्य देशो की अपेक्षा इटली में पुनर्जागरण आन्दोलन को अधिक बढ़ावा मिला।

(ग) इटली के विद्वान उपर्युक्त विशेषताओं के कारण अपने अध्ययन में सत्य

एवं अनुभव के मध्य भेद करने में सफल सिद्ध हुए। जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने पुनर्जागरण आन्दोलन की प्रगति में सहयोग दिया।

(घ) इटली के निवासी अपने को प्राचीन रोमन का वंशज स्वीकार कहते थे उनकी अपनी प्राचीन परम्परायें थीं। जिसे वहाँ के विद्वानों ने बनाये रखने का प्रयास किया। इससे पुनजर्गारण आन्दोलन के विकास में बल मिला।

(ङ) इटैलियन भाषा अन्य देशों की भाषाओं विशेषकर लैटिन भाषा से अधिक समृद्धि एवं विकसित थी। क्योंकि वहाँ के दार्शनिकों विचारकों एवं विद्वानों ने इसी भाषा में अपने विचारों को व्यक्त किया था। इटैलियन भाषा का यह परिपूर्णता इटली में पुनर्जागरण आन्दोलन के प्रारम्भ होने में सहायक हुई।

(च) अन्त में, इटली की सामाजिक परिस्थितियाँ भी पुनर्जागरण आन्दोलन के प्रारम्भ होने में सहायक सिद्ध हुई। उस समय इटली छोटे-छोटे स्वतन्त्र नगर-राज्यों में विभाजित था और इनके शासक अपने-अपने क्षेत्रों को अधिक से अधिक विकसित एवं प्रगतिशील बनाना चाहते थे। सांस्कृतिक क्षेत्र में यह आपसी प्रतिद्वन्दिता भी पुनर्जागरण आन्दोलन के विकास में सहायक सिद्ध हुई।

साहित्य

पुनर्जागरण काल के विद्वानों ने प्राचीन यूनानी और रोमन साहित्य के पुनर्अध्ययन, अनुशीलन तथा विवेचन की ओर ध्यान देकर प्रचलित विचार-धारा के साथ उसको सामिश्रित करने का प्रयास किया। सर्वप्रथम केवल कुस्तुनतुनियाँ के विद्वानों ने ही इस दिशा में अपना ध्यान आकृष्ट किया। किन्तु सन् १४५३ ई० में कुस्तुनतुनियाँ पर तुर्कों का अधिकार हो जाने के कारण वहाँ के विद्वान पश्चिमी यूरोप के अन्य भागों में गये तथा उनके साथ-साथ प्राचीन साहित्य के अध्ययन और विवेचन की यह प्रवृत्ति भी गयी। फलस्वरूप, विद्वानों की इस रुचि-परिवर्तन ने विद्या, विज्ञान तथा कला के क्षेत्र में नया मान्यतायें स्थापित की। प्राचीन युग की आधार-शिला पर ही नवयुग के इन आदर्शों का निर्माण किया गया।

इस युग के अन्तर्गत विद्या और साहित्य के क्षेत्र में तीन प्रमुख धारायें सामने आईं—पहली विचारधारा 'मानववाद' (Humanism) के नाम से प्रसिद्ध हुई; दूसरी विचारधारा प्राचीन साहित्य (Classicism) के प्रति अभिरुचि की थी तथा तीसरी विचारधारा व्यक्तिवाद (Individualism) के नाम से प्रसिद्ध हुई।

पुनर्जागरण युग मे मानववादी विचारधारा सर्वप्रमुख सामने आई। मानववादी विद्वानों ने प्राचीन यूनानी तथा रोमन साहित्य के अध्ययन पर विशेष बल दिया। साधारणतः 'मानववाद' शब्द साहित्य-प्रियता अथवा साहित्यक अभिरुचि का प्रतीक है। इस शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'ह्यूमनिटस' (Humanitus) शब्द से हुई है जिसका अर्थ 'उन्नत ज्ञान' है। इन मानववादी साहित्यकारों की दृष्टि में मनुष्य को

सभ्यता के पथ पर आगे बढ़ने के लिए प्राचीन साहित्य तथा संस्कृति का ज्ञान आवश्यक है। उन्होंने मध्य काल में प्रचलित धर्म तथा शास्त्र के प्रति कोई निष्ठा नहीं दिखाई तथा अपना ध्यान प्राचीन ग्रन्थों के पुनरुद्धार की ओर केन्द्रित किया। प्राचीन ग्रन्थों को सुरक्षित रखने तथा उन्हें प्रकाश में लाने के लिए उनमें अशुद्धियों का परिमार्जन कर उनकी प्रतिलिपियाँ तैयार की गयीं। मानववाद का उद्देश्य मनुष्य के मध्यकालीन बन्धनों को तोड़कर उन सभी विषयों का अध्ययन करना था जो मानव जीवन से सम्बन्धित हो। इसके अन्तर्गत यह प्रयास किया गया कि मानव मस्तिष्क मध्यकालीन दर्शन तथा धर्म के प्रभावों से अपने को मुक्त कर सके।

इन मानववादी विद्वानों के परिश्रम का यह प्रभाव हुआ कि सर्वसाधारण का मध्यकालीन धर्म तथा दर्शन पर से धीरे-धीरे विश्वास उठता गया। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि इस मानववाद को जनता ने बहुत शीघ्र अपनाया था। इसे अपना प्रभाव स्थापित करने में काफी समय लगा। १३ वीं शताब्दी में फ्लोरेन्स का इतिहास जिवोवानो विलानी (Giovvani Villani), सालस (Saulas), लिवी Livy, वर्जिल (Vergil) एवं ल्यूकान (Lucan) आदि प्राचीन विद्वानों के नाम से परिचित था। इसके पूर्व लगभग पूरे मध्यकाल में वर्जिल के साथ-साथ सीजर (Caesar) और सिसरो (Cicero) के नाम प्रख्यात थे। साथ ही मध्ययुगीन विश्वविद्यालयों में अरस्तू (Aristotle) के दर्शन और रोमन विधि के अध्ययन का भी प्रबन्ध किया गया था। ऐसा ज्ञात होता था कि मानो अरस्तू प्राचीन युग का विद्वान न होकर मध्य युग के ईसाई धर्म का कोई प्रख्यात सन्त हो। समय के साथ-साथ यह मानववादी विचार-धारा भी बढ़ती गयी और १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इटली में इन मानववादी विचारों का चरमोत्कर्ष हुआ।

इटली में इस नवयुग का निर्देशक महाकवि दान्ते (Dante, 1265-1321) था जिसने अपनी कविताओं द्वारा इस युग का सूत्रपात किया तथा जिसे पहला मानववादी कवि कहा जा सकता है। उसके काव्य में भाषा का लावण्य, भावों की रोचकता एवं मानसिक परिकल्पनाओं की विविधता एवं वैचित्र्य है। अपनी मातृ-भाषा इटैलियन में दान्ते ने अपने प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ 'डिवाइन कॉमेडी' (Divine Comedy) की रचना की। इस ग्रन्थ में उसने मृत्यु के पश्चात आत्मा के भ्रमण का चित्र प्रस्तुत किया है।

दान्ते के पश्चात दूसरा प्रसिद्ध विद्वान फ्रांसिस्को पेट्रार्क (Francesco Petrarch, 1304-1374) था। पेट्रार्क ने दान्ते को अपना आधार बनाते हुए काव्य रचना की, परन्तु दान्ते के मध्ययुगीन प्रेम का अंधानुकरण नहीं किया। वह मध्ययुगीन ईसाई धर्म में दृढ़ विश्वास रखता था। अपने काव्य में पेट्रार्क ने प्राचीन ग्रीक तथा मध्ययुगीन लैटिन का समिश्रण करने में अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा

दिखाई और यह उसकी देन थी। पेट्रार्क ने प्राचीनता में नवीनता का समिश्रण अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया और इसीलिये उसे 'मानवाद का पिता' (Father of Humanism) कहा जाता है। पेट्रार्क की उसी मानवता को जिवोनी बोकेचियो (Giovanni Boccaccio, 1313-1375) ने अपनी कथाओं द्वारा और आगे बढ़ाया। यह भी फ्लोरेंस का रहने वाला था। एक व्यवसायिक का पुत्र होने के कारण प्रारम्भ में वाणिज्य और व्यापार की शिक्षा प्राप्त करने के लिए वह नेपल्स पहुँचा। वहीं पर उसने कुछ कविताओं की रचना की जो शृङ्गार रस की थी। परन्तु बाद में पद्य के स्थान पर उसने गद्य की रचना प्रारम्भ कर दी। उसकी प्रसिद्धि का आधार उसकी 'फियामेटा' (Fiametta) तथा 'डिकैमरॉ' (Decameron) नामक रचनायें है। 'फियामेटा' साहित्य सर्वप्रथम मनोवैज्ञानिक उपन्यास था जिसके कारण बहुत से विद्वान उसे 'उपन्यास का जन्मदाता' कहते हैं। बोकेचियो अपनी 'डिकैमरॉ' (Decameron) की रचना से बहुत अधिक प्रसिद्ध हुआ। 'डिकैमरॉ' (Decameron) का दूसरा नाम 'दस दिन' (Ten days) भी है जिसमें १०० लघु कथाओं का संग्रह है जो सन् १३४८ ई० और १३५३ ई० के बीच लिखी गयी थीं। इन कथाओं में उपन्यास की भाँति कोई एक कथानक नहीं है, अपितु कई भिन्न-भिन्न कथानक हैं जो सात स्त्रियों और तीन पुरुषों के एक समूह के द्वारा फ्लोरेंस नगर में फैले हुये प्लेग के कारण बाहर भाग जाने पर समय काटने के लिए कही गयी थीं। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह शर्त थी कि वह दस दिन तक कहानियाँ सुनाये अतः ग्रंथ का नाम 'दस दिन' (Ten days) अथवा 'डिकैमरॉ' (Decameron) रखा गया। इसकी यह कथायें विभिन्न युगों का प्रतिनिधित्व करती हैं, कुछ कहानियाँ हमको प्राचीन युग की ओर ले जाती हैं, कुछ सीरियन और हिब्रू सभ्यता का दिग्दर्शन कराती हैं और कुछ कहानियाँ पूर्णतः मध्य-युगीन प्रभुत्व से युक्त है। साधारण रूप से यह कहानियाँ मध्य युग में प्रचलित विचारधारा की प्रतिलिपि नहीं है क्योंकि वे अधिक स्पष्ट और अहंवादी है। परन्तु इनमें मध्य युग के प्रति विरोध का कोई चिह्न भी नहीं दिखाई देता। बोकैचियो की इन कथाओं का महत्व इसीलिये है कि इन्होंने एक ओर तो इटैलियन गद्य का स्वरूप निर्धारित किया और दूसरी ओर अन्य देशों के लेखकों पर अपना अमिट प्रभाव भी डाला।

सन् १३७५ ई० में बोकैचियो की मृत्यु के पश्चात इटैलियन साहित्य के पुनर्जागरण का प्रथम चरण समाप्त होता है। पेट्रार्क और बोकैचियो का यह युग ट्रिसेन्टो (Trecento) के नाम से भी अभिहित किया जाता है और यह शब्द सन् १३०० ई० के पश्चात प्रारम्भ होने वाले युग का द्योतक है।

१५वीं शताब्दी इटली के साहित्य में 'क्वाट्रोसेन्टो' (Quattrocento) के नाम से प्रसिद्ध है। इस युग में लैटिन भाषा का पुनरुद्धार हुआ और प्राचीन रोमन साहित्य

के अध्ययन की प्रवृत्ति और भी तीव्र हो उठी। इस युग के साहित्यकारों ने लैटिन भाषा का अनुकरण करने का प्रयत्न करते हुये दान्ते और बोकेचियो द्वारा प्रयुक्त इटैलियन भाषा पर व्यङ्ग किया। इस मनोवृत्ति के फलस्वरूप इस युग में उच्च कोटि के साहित्य की रचना नहीं हो सकी। मुख्य रूप से पॉगियो (Poggio), बेकादली (Beccadelli), फिल्फो (Fielfo) आदि इस युग के लेखक थे।

किन्तु क्वाट्रोसेन्टो युग की एक अन्य प्रमुख विशेषता ग्रीक भाषा और साहित्य के अध्ययन की था। सन् १३१३ ई० में ग्रीक विद्वान मैनुअल क्रिसालोरस (Manual Chrysaloras) कुस्तुनतुनियाँ से वेनिस आया और उसके साथ अनेक अन्य ग्रीक विद्वान भी इटली आये। परिणामस्वरूप वहाँ के लोग ग्रीक भाषा के अध्ययन की ओर उन्मुख हुये और जिवानी आरिस्पा (Giovanni Aurispa) ने सन् १४१३ से १४२३ ई० के बीच लगभग २५० प्राचीन ग्रीक ग्रथों का पुनरुद्धार किया और इस प्रकार सोफाक्लोज (Sop acles), यूरीपाइडस (Euripides) और थीसीडाइडस (Thucydides) आदि विद्वानों से ग्रंथ अधुनिक विश्व के सामने आए।

सन् १५०० ई० से आरम्भ होने वाले युग को सिनक्वेसेन्टो (Cinquecento) के नाम से जाना जाता है जिसमे, प्राचीन और अर्वाचीन प्रभावो को सम्मिश्रित करने तथा मौलिक प्रभावों' को प्रतिपादित करने की प्रवृत्त मुख्य थी। इटेलियन भाषा को यूनानी तथा लैटिन भाषा के समान स्तर पर लाने का प्रयास किया गया। इस युग में महाकाव्य, नाटक एवं इतिहास इन तीनों क्षेत्रो में अनेक ग्रथ लिखे गये। लूडाविको आरिस्टो (Ludovico Ariosto, 1474-1533) प्रमुख काव्यकार था और उसकी कविता 'आरलैंडो फयरिओजो' (Orlando Furioso) आज भी अत्यधिक प्रसिद्ध है। दूसरा कवि जैकोपो सनाजारो (Jacopo Sannazaro, 1458-1530) था जिसने 'आर्केडिया' (Arcadia) नामक कविता लिखी।

नाटक के क्षेत्र में इटली के नाटककार साधारण से अधिक प्रगति नहीं कर सके। इसका प्रमुख कारण नाटककारो का मानवजीवन के गम्भीरतम पहलू पर अधिक ध्यान न देना था। यही कारण था उन्होंने दुखान्त की अपेक्षा सुखान्त और व्यंगात्मक नाटको की रचनायें कीं। इटली का प्रख्यात दार्शनिक एवं इतिहासकार निकालो मेकियावली (Niccolo Machiavelli, 1469-1527) एक नाटककार भी था। उसने 'मैन्ड्रागोला' (Mandragola) नामक नाटक की रचना की जो तत्कालीन पुनर्जागरण समाज पर एक व्यङ्ग था दूसरा नाटककार पीट्रो आरटिनो (Pietro Aretino, 1493-1556) था। जिसने अपने नाटको में मानवजीवन का सरल और स्पष्ट वर्णन किया।

अनेक ऐतिहासिक ग्रथ भी लिखे गये। मध्ययुगीन शौर्य-गाथायें, नगरों के उत्थान, बुर्जुआ समाज के उत्थान और यूरोप में बढ़ती हुई धर्म-निरपेक्षता की भावना

इन सब ने नगरों के इतिहास लेखन को प्रोत्साहित किया। इतिहासकारों में मेकियावली का नाम सर्वप्रथम आता है। अपने प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ 'फ्लोरेंस गणराज्य के उदय का वृत्तान्त' (An Account of the Evolution of Florentine Republic to the Lorenzo de Medici) में मेकियावली ने प्रचलित धार्मिक भावनाओं का तिरस्कार करते हुए एक नये दृष्टिकोण को स्थान दिया। यह नया दृष्टिकोण वैज्ञानिक होने साथ-साथ उन सभी स्वाभाविक नियमों को आगे बढ़ाने का था जिसके अनुसार मनुष्य का नैतिक जीवन नियन्त्रित होता है। इसके अतिरिक्त 'प्रिन्स' (Prince) नामक ग्रन्थ में सरकार और उद्बुद्ध निरंकुशता पर तथा 'डिस्कोर्स ऑन लिवी' (Discourse on Livy) नामक ग्रन्थ में सरकार के सिद्धान्त और स्वभाव पर मेकियावली ने प्रकाश डाला। उसके पश्चात् दूसरा इतिहासकार फ्रान्सिस्को गिकारडीनी (Francesco Guicciardini, 1483-1540) था जिसने 'फ्लोरेंस का इतिहास' तथा 'इटली का इतिहास' नामक ग्रन्थों की रचना की। इटली के इतिहास नामक ग्रन्थ में सन् १४९२ ई० से लेकर १५६४ ई० तक का इतिहास अत्यन्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। अन्त में लोरेंजो वल्ला (Lorenzo Valla, 1406-1457) का नाम लिया जा सकता है जिसने सर्वप्रथम ऐतिहासिक आलोचना का सूत्रपात किया। सावधानी के साथ विवेचन करते हुए उसने सुप्रसिद्ध 'कान्सटेनटाइन के दान' (Donation of Constantine) नामक निबन्ध की ऐतिहासिकता को अस्वीकार करते हुए अकाट्य तर्कों द्वारा अपने विचारों का सफल और साहसपूर्ण प्रतिपादन किया। कालान्तर में उसके विचारों ने कैथोलिक चर्च के दुर्गुणों पर प्रहार करने में सहायता प्रदान की।

कला

कला के क्षेत्र में भी इस युग में काफी प्रगति हुई। जिस प्रकार साहित्य के क्षेत्र में इस युग के विद्वानों ने प्राचीन रोमन एवं यूनानी साहित्य के प्रति अभिरुचि दिखाई, उसी प्रकार कला के क्षेत्र में भी कलाकारों और शिल्पकारों ने विभिन्न कला शैलियों से प्रेरणा ग्रहण कर नये आदर्श स्थापित करने का प्रयास किया। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पुनर्जागरण कालीन कला के अन्तर्गत यूनानी, रोमन तथा गॉथिक (प्राचीन एवं मध्य युगीन) कला शैलियों का सम्मिश्रण दिखाई देता है। एरगान्ग के अनुसार "पुनर्जागरण युगीन कला वस्तुतः कोई अलग और अभूतपूर्व शैली न थी, वरन् कई शैलियों की समष्टि थी। यह स्वरूप में व्यक्तिवादी थी तथा प्राचीन यूनानी एवं रोमन शैली में इसकी समता पाई जाती है। यह कला-शैली काफी सीमा तक मौलिक एवं नवीन थी।"

पुनर्जागरण कालीन कला के विकास का उल्लेख करने से पूर्व संक्षेप में प्राचीन

तथा मध्ययुगीन कला शैलियों की प्रमुख विशेषताओं की ओर ध्यान देना आवश्यक है। प्राचीन अथवा यूनानी एवं रोमन कला शैली के अन्तर्गत जीवन के आदर्श को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया था। यह शैली धार्मिक प्रभावों से मुक्त थी। भवन निर्माण में क्षितिज के समानान्तर खड़ी रेखायें, वक्र रेखायें, स्तम्भ तथा गोल गुम्बद बनाये जाते थे। इसके विपरीत मध्ययुगीन अथवा गॉथिक कला शैली के अन्तर्गत सजावट पर अधिक ध्यान दिया जाता था तथा वह धार्मिक प्रभाव से परिपूर्ण थी। इस शैली के अन्तर्गत मुख्य रूप से नोकीले मेहराब, लम्बे व नोकदार स्तम्भ, पतली खिड़कियाँ, लम्बे तथा अण्डाकार गुम्बद तथा आधार पुश्तो का प्रयोग किया जाने लगा। पुनर्जागरण कालीन कलाकारों ने गॉथिक शैली का परित्याग करते हुए प्राचीन कला शैली का आदर्श ग्रहण किया।

स्थापत्य-कला :

साहित्य की भाँति स्थापत्य कला शैली का विकास भी सर्वप्रथम इटली से ही आरम्भ हुआ। फिलिप्पो ब्रूनेलेस्की (Fillippo Bruneleschi, 1377-1446) सबसे पहला कलाकार था जिसने रोमन कला शैली का आधार ग्रहण कर गॉथिक शैली का परित्याग कर दिया। इस स्थापत्य-कला शैली का चरमोत्कर्ष माइकेल एन्जेलो (Michel Angelo, 1475-1564) के समय में हुआ। सौन्दर्य एवं सजावट की ओर ध्यान, आनुपातिक एकता, पंक्तियों की वक्रता आदि इस शैली की प्रमुख विशेषतायें थी। फ्लोरेन्स का मेडिची गिरजाघर इस युग का प्रतीक कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त रोम में सन्त पीटर का गिरजाघर तथा वहाँ के अनेक विशाल प्रसाद इस स्थापत्य कला शैली के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में आज भी विद्यमान हैं। वेनिस में भी इस स्थापत्य कला शैली को प्रोत्साहन मिला।

मूर्ति-कला :

मूर्ति-कला के क्षेत्र में सर्वप्रथम लोरेन्जो गिबर्टी (Lorenzo Ghiberti, 1378-1453) था जिसने फ्लोरेन्स नगर के द्वारों पर अति उत्तम मूर्तियों का निर्माण किया। दूसरा शिल्पकार दोनातेलो (Donatello 1386-1466) था जो ब्रूनेलेस्की का समकालीन था। दोनातेलो ने शिल्प के प्राचीन आदर्शों को अपना आधार बनाया तथा अनेक मूर्तियों का निर्माण किया। परन्तु उसकी प्रसिद्धि का मूल कारण वेनिस में निर्मित सन्त मार्क (St. Mark) की मूर्ति है। जिसके अन्तर्गत प्राकृतिक एवं कलात्मक आदर्शों को प्राचीन आदर्शों के साथ सम्मिश्रित करने का प्रयास किया। दोनातेलो साधारण जीवन से प्रेरणा प्राप्त करने वाला सर्वप्रथम मूर्तिकार था। ल्युका देला राबिया (Luca Della Robbia, 1414-1482) ने दोनातेलो का अनुकरण किया। वेरोशियो (Verocchio) भी एक प्रमुख मूर्तिकार

था। परन्तु बहुमुखी प्रतिभावना माइकेल एन्जेलो (Michel Angelo, 1475-1564) इस युग का सर्वश्रेष्ठ मूर्तिकार कहा जा सकता है। मूर्तिकार होने के साथ-साथ वह एक स्थापत्य-कलाकार एवं चित्रकार भी था। उसने धार्मिक आदर्शों को ग्रहण करते हुए हिब्रू सन्तों एवं प्राचीन पौराणिक चरित्रों की मूर्तियों के निर्माण को अपना प्रमुख विषय बनाया। इसके अतिरिक्त एक उदार विचार-धारा का व्यक्ति होने के कारण उसने ईसाई धर्म की मूर्तियों का निर्माण भी किया। किन्तु वह ईसाई धर्म के आदर्शों से प्रभावित नहीं था। उसकी यह भावना 'अन्तिम निर्णय' (Last Judgement) नामक चित्र में स्पष्ट दिखाई देती है।

चित्र-कला :

पुनर्जागरण युग में सबसे अधिक प्रगति चित्रकला के क्षेत्र में हुई। क्योंकि उस समय की विचारधाराओं यथा मानववाद, व्यक्तिवाद आदि ने चित्रकला को अत्यधिक प्रभावित किया। अब तक चित्रकला मध्यकालीन धार्मिक रूढ़िवादिता एवं परम्पराओं से प्रभावित थी। परन्तु १६वीं शताब्दी तक आते-आते वह धार्मिकता को छोड़कर यथार्थवादी हो गई। पुनर्जागरण काल की चित्रकला का क्रमिक विकास हुआ था। इसकी कुछ अपनी विशेषतायें थीं। चित्रकला चर्च एवं धर्म के बन्धनों से मुक्त होकर मनुष्य की अभिव्यक्ति का माध्यम बन गई। चित्रकला की विषय-वस्तु का विस्तार हो जाने के कारण प्राकृतिक दृश्य बनाये जाने लगे। तैल रंगों से परिचित हो जाने के कारण इस युग के चित्रकारों ने तैल रंगों का प्रयोग प्रारम्भ किया। अन्त में हम कह सकते हैं कि इस युग की चित्रकला सादगी को छोड़कर कलात्मक (aesthetic) हो गई।

१५वीं शताब्दी से पूर्व चित्रकार दीवारों पर और कभी-कभी लकड़ी के तख्तों पर भी चित्र बनाया करते थे। यह चित्रकार रंगों से परिचित थे। परन्तु सन् १५०० ई० तक परिस्थिति बदल गई। अब चित्रकार रंगों के उचित मिश्रण और तैल रंगों का प्रयोग जान गये। उन्होंने अब दीवारों के अतिरिक्त कपड़ों और लकड़ी पर साधारण रूप से चित्र बनाना आरम्भ किया। यही कारण है कि पूर्व-पुनर्जागरण तथा उत्तर-पुनर्जागरण चित्रकार शैली में काफी अन्तर दिखायी देता है। कला के अन्य अंगों की भाँति चित्रकला को भी धार्मिक परम्परा से अलग हटाकर यथार्थवादी बनाने का प्रयास मेसाशियो अथवा मजाचियो (Masaccio, 1401-1428) द्वारा किया गया। फ्रा फिलिपो लिप्पी (Fra Filipppo Lippi) तथा अन्य चित्रकारों ने इस नवीन शैली की पुष्टि की। परन्तु पुनर्जागरण कालीन चित्रकला के विकास से इटली के पाँच चित्रकारों अर्थात् बॉतिचेली (Botticelli, 1447-1510), लियोनार्डो द विंची (Leonardo da Vinci, 1452-1519)

माइकेल एन्जेलो (Michel Angelo, 1475-1564), रफैल (Raphael, 1484-1520) तथा टीशियन (Titian, 1477-1576) आदि की देन अद्भुत है। फ्लोरेन्स के नागरिक बॉतिचेली ने रहस्यवाद के मिश्रण के द्वारा अपने चित्रों में एक अद्भुत कोमलता, आकर्षण एवं हृदयग्राहिता उत्पन्न कर दी। फ्लोरेन्स नगर के ही निवासी बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न लियोनार्डो द विंची को सर्वश्रेष्ठ चित्रकार कहा जा सकता है। उसके चित्रों में 'मोना लीसा' (Mona Lisa) और 'अन्तिम भोज' (Last Supper) नामक चित्र अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। उसने अपने चित्रों में अंग प्रत्यंग के गठन, प्रकाश, छाया और रंग के उचित समन्वय की ओर अधिक ध्यान दिया। उसने यथार्थ में आदर्श को सम्मिलित करने का प्रयास किया। फ्लोरेन्स निवासी माइकेल एन्जेलो ने भी यथार्थ एवं आदर्श को समविन्त करने का प्रयास किया। वह भी अद्भुत प्रतिभा का व्यक्ति था। किन्तु लोगों ने उसके यथार्थ को नहीं समझा। जिससे वह दुःखी हुआ और इसका प्रभाव उसके चित्रों पर भी पड़ा। रोम के सीस्टाइन चेपल में २० वर्ष के कठिन परिश्रम के उपरान्त बाइबिल के आधार पर माइकेल एन्जेलो ने एक विशाल चित्रमाला तैयार की। उसका 'अन्तिम निर्णय' (Last Judgement) विश्व के सर्वप्रसिद्ध एवं सर्वश्रेष्ठ चित्रों में है। इस चित्र में उसने ईश्वर की दया अथवा प्रेम की भावना के स्थान पर भय और आतंक की भावना का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है।

रफैल, माइकेल एन्जेलो से प्रभावित था और उसके द्वारा बनाये गये चित्र रंगो के उचित मिश्रण, सौन्दर्य और लावण्य में अद्वितीय हैं। रंगों का उचित प्रयोग करने वाला अपने समय का वह सर्वश्रेष्ठ चित्रकार था। उसके द्वारा निर्मित 'सीस्टाइन मेडोना' (Sistine Madonna) अत्यधिक प्रसिद्ध है। इस युग का अन्तिम चित्र-कार वेनिस निवासी टीशियन (Titian) था जो रङ्ग के सौन्दर्य तथा उसके मिश्रण में अद्वितीय था। उसके अपने समकालीन सम्राट चार्ल्स पन्चम और पोप पॉल तृतीय के चित्र बनाये। उसके चित्रो में तत्कालीन ऐश्वर्य एवं वैभव की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। वेनिस चित्र शैली का वह सर्वश्रेष्ठ चित्रकार कहा जा सकता है।

संगीत :

मध्य युगीन संगीत पुनर्जागरण की १६वीं शताब्दी में और भी अधिक विक-सित एवं परिवर्द्धित होकर 'आधुनिक सगीत' एवं 'शास्त्रीय संगीत' पद्धति को आरम्भ करने में सहायक सिद्ध हुई। परम्परागत चले आ रहे संगीत की ध्वनि, मात्रा, राग एवं पद्धति का परिवर्धन कर इस युग के संगीतज्ञों ने सौम्यता, लय एवं एकरूपता (Harmony, Rhythm and Symmetry) को लक्ष्य बनाते हुए संगीत शास्त्र को पूर्णता प्रदान करने का सफल प्रयत्न किया। नई-नई धुनें बनाई गईं। यन्त्रीय संगीत

(Instrumental music) का अत्यधिक विकास हुआ । इटली के संगीतज्ञ पैलेस्ट्रीना (Palestrina) एवं गैबरीली (Gabrieli) ने यूनानी, रोमन तथा हिब्रू आदर्शों से प्रभावित होकर संगीत के क्षेत्र में नये-नये प्रयोग किये ।

यूरोपीय देशों में पुनर्जागरण का विकास

साहित्य :

पुनर्जागरणकालीन साहित्य की यह विचारधारा केवल इटली तक ही सीमित नहीं रह सकी अपितु यूरोप के अन्य देशों तथा जर्मनी, फ्रांस, स्पेन, इंग्लैण्ड आदि को भ इसने प्रभावित किया । इसे 'उत्तरकालीन पुनर्जागरण' (Northern Renaissance) के नाम से पुकारा जाता है ।

इटली के समीप स्थित होने के कारण जर्मनी के साहित्यकार एवं विद्वान इस मानववादी साहित्यिक विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित हुए । प्रमुख मानववादी साहित्यकारों में पहला नाम रूडॉल्फ एग्रीकोला (Rudolf Agricola, 1445-1485) का लिया जा सकता जिसके विषय में इरैसमस (Erasmus) ने यह घोषणा की थी कि वह इटली की संस्कृति को जर्मनी लाने वाला पहला व्यक्ति था । उसके पश्चात् उलरिक वान हटन (Ulrich Von Hutten, 1488-1523) और क्रोटस रुबेनस (Crotus Rubianus, 1480-1539) का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने सम्मिलित रूप से (Letters of obscure man) नामक ग्रन्थ की रचना की जो इतिहास में सर्वाधिक व्यंगपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है । इनके उपरान्त जॉन रियूकलिन (John Reuchlin, 1455-1512) का नाम आता है जिसने अपने ग्रंथों में चर्च और उसके सिद्धान्तों का वास्तविक आलोकन किया और धार्मिक परम्पराओं की हँसी उड़ाई ।

किन्तु राटरडम का निवासी डेसीडेरियस इरैसमस (Desiderius Erasmus, 1466-1536) मानव साहित्यकारों में सर्वप्रथम था । प्राचीन साहित्य के अध्ययन और मनन के पश्चात् उसने अपने विचारो के द्वारा समाज का ध्यान प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति की विशेषताओं की ओर आकर्षित किया । उसने मध्ययुगीन अज्ञानता, चर्च एवं धार्मिक परम्पराओं की निन्दा की जिससे समाज के व्यक्ति चर्च के विरुद्ध होने लगे । उसने बाइबिल के नवीन संस्करण को सम्पादित किया तथा 'मूर्खता की प्रशंसा' (Praise of Folly) एवं 'कॉलोकीज' (Colloquies) नामक ग्रंथों की रचना की । अपने ग्रन्थ 'मूर्खता की प्रशंसा' में उसने धार्मिक परम्पराओं की खुलकर हँसी उड़ाई और इस ग्रन्थ के कारण उसने विश्व प्रसिद्धि प्राप्त की । इरैसमस को अपने विचारों के कारण अपने युग का सर्वश्रेष्ठ, सुसभ्य व्यक्ति तथा 'मानववादी राजकुमार' कहा जाता है ।

आरम्भ हुइ, परन्तु इंग्लैंड में कला की यह नवीन शैली १७वीं शताब्दी में ही प्रवेश

फ्रांस के साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में पुनर्जागरण युग मे अत्यधिक विकास हुआ। फ्रांस का सर्वप्रथम साहित्यकार रबेलास (Francois Rabelais, 1490-1553) था। प्रारम्भ मे उसने साधू के रूप में शिक्षा ग्रहण की परन्तु बाद उसने चिकित्सा-शास्त्र की शिक्षा ग्रहण की और चिकित्सक हो गया। अपने ग्रन्थो के द्वारा उसने मानववादी विचारों को सामने रखते हुये व्यङ्गपूर्ण भाषा मे चर्च तथा प्रचलित अन्धविश्वास का परिहास उडाया। उसके प्रमुख ग्रंथों मे 'गारगन्तुआ' (Gargantua) और 'पैन्टाग्रुअल' (Pantagrual) के नाम लिये जा सकते है। किन्तु फ्रास का दूसरा साहित्यकार मॉन्तेन (Michael de Montaigne, 1533-1592) भिन्न प्रकृति का व्यक्ति था। अपने निबन्धों में उसने यह विचारधारा व्यक्त की कि धर्म और नैतिकता प्रचलित नियमों के परिणाम है और विभिन्न धर्मों के सिद्धान्तो में मूलतः कोई भी भेद नहीं है।

स्पेन में पुनर्जागरणकालीन साहित्य ने कतिपय कुछ नई प्रवृत्तियो का आरम्भ किया और वही सबसे अधिक नाटको की रचना की गई। जिसमें रूपकात्मक नाटक-शैली में धार्मिक भावनाओं और रहस्यों का दिग्दर्शन कराया। सर्वाधिक प्रसिद्ध नाटक कार लोप द वेगा (Lope de Vaga, 1562-1635) था जिसके सम्बन्ध मे यह विश्वास किया जाता है कि उसने लगभग २००० नाटकों की रचना की थी जिनमें ५०० के लगभग अब मिलते हैं। उसके नाटकों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—पहले वर्ग के नाटको में उच्च वर्ग के षडयन्त्र और विचारों का भण्डाफोड़ किया गया और दूसरे वर्ग के नाटकों में राष्ट्रीय महत्ता को प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया। इस वर्ग के नाटको में स्पेन के गौरव और वहाँ के नाटक की मर्यादा को भी प्रतिबिम्बित करने की चेष्टा की गई। इसके अनन्तर 'टिरसो द मोलिना' (Tirso de Molina, 1571-1648) स्पेन का दूसरा प्रमुख नाटककार था जो 'डॉनजुआँ' (Don Juan) नामक एक कल्पित दुष्चरित सामन्त के जीवन चरित् के लिए बहुत प्रसिद्ध है। परन्तु स्पेन का सबसे प्रसिद्ध साहित्यकार मिगेल दी सरवेन्टीज (Miguel de Cervantes, 1547-1616) था जिसने 'डान क्यूजो' (Don Quixot) की रचना की। यह ग्रन्थ सामन्तवाद पर व्यंग था और आज भी विश्व साहित्य में एक उच्च स्थान रखता है।

इग्लैण्ड का सर्वप्रथम मानववादी साहित्यकार सर टॉमस मोर (Sir Thomas More) था। वह इंग्लैण्ड का 'लार्ड चान्सलर' (Lord Chancellor) था। किन्तु १५३५ ई० मे उसकी हत्या करवा दी गई। क्योकि उसने राजा को चर्च का प्रधान स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था। उसकी ख्याति का आधार उसका 'यूटोपिया' (Utopia) नामक ग्रन्थ है जिसकी रचना लगभग जून १५१६ ई० में की गई थी और

जिसमें एक काल्पनिक द्वीप में एक आदर्श समाज की परिकल्पना की गई थी। इंग्लैंड का प्रख्यात दार्शनिक फ्रांसिस बेकन (Francis Bacon, 1561-1627) एक महान् साहित्यकार भी था। अपने दर्शन में उसने इस बात पर बहुत अधिक जोर दिया कि दार्शनिक को प्रकृति का निकट से अध्ययन करना चाहिए। उसके उपरान्त चॉसर (Chaucer) का नाम लिया जा सकता है जिसने 'कैन्टरबरी टेल्स' (Canterbury Tales) की रचना की। चॉसर एक प्रसिद्ध कवि भी था। एडमन्ड स्पेन्सर (Edmand Spencer) इंग्लैण्ड के पुनर्जागरण युग के महान कवियों में था। अपने काव्य ग्रंथ 'फेयरी क्वीन' (Faerie Queene) में उसने साम्राज्ञी एलिजाबेथ के राज्यकाल में इंग्लैण्ड की महत्ता एवं गौरव का परिचय दिया।

किन्तु इंग्लैण्ड में सबसे अधिक प्रगति नाटक के क्षेत्र में हुई और इस युग का महान् नाटककार विलियम शेक्सपियर (William Shakespeare) था। शेक्सपियर ने लगभग ४० नाटक १५० सोनेट और दो कवितायें लिखीं। लेकिन उसकी प्रसिद्धि का प्रमुख आधार उसके द्वारा लिखे नाटक थे जिन्हें कथानक के आधार पर तीन भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे नाटक रखे जा सकते हैं जिनके अन्तर्गत साहित्य में प्रचलित परम्परा का अनुकरण किया गया इस प्रकार के नाटकों में 'मर्चेन्ट ऑव वेनिस' (Merchant of Venice) और 'मिड समर नाइट्सड्रीम' (Mid Summer Nights Dream) का नाम लिया जा सकता है। दूसरे वर्ग में वे नाटक रखे जा सकते हैं जिनमें ऐतिहासिक कथानक लिये गये। इस वर्ग में 'जूलियस सीजर' (Julius Caesar) का नाम लिया जा सकता है और तीसरे वर्ग में परम्परागत प्रेम कथानकों का आश्रय लिया गया जैसे 'रोमियो जूलियट' (Romeo and Juliet)। अपनी कविताओं में उसने भौतिक प्रेम को अपना आधार बनाया।

कला :

ललित कलाओं के क्षेत्र में भी पश्चिमी यूरोप के देश इटली से प्रभावित हुये। इटली के कलाकारों ने लगभग सम्पूर्ण यूरोप में अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया। उन देशों में प्रचलित गॉथिक शैली का परित्याग कर इटली की नवीन स्थापत्य शैली में भवनों का निर्माण किया जाने लगा। फ्रांस के शासकों ने इटली के कलाकारों का आयात किया, जिन्होंने पेरिस और अनेक नगरों में नयी शैली के भवन बनाये। उस युग का बना हुआ पेरिस का 'लूवर प्रासाद' (Louvre Palace) आज भी अपने युग की कला के सर्वश्रेष्ठ प्रतीक के रूप में विद्यमान है।

स्पेन में फिलिप द्वितीय ने इस नवीन कला शैली को संरक्षण प्रदान कर अनेक महलों का निर्माण कराया। नीदरलैण्ड्स तथा जर्मनी में भी यह नवीन कला शैली प्रविष्ट हुई, परन्तु इंग्लैण्ड में कला की यह नवीन शैली १७वीं शताब्दी में ही प्रवेश

कर सकी। मूर्ति-कला के क्षेत्र में भी फ्रांस, स्पेन, जर्मनी आदि देशों में इटैलियन मूर्तिकारों के द्वारा मूर्तियों का निर्माण किया गया। चित्रकला के क्षेत्र में भी अत्यधिक प्रगति हुई। फ्रांस के चित्रकारों ने लियोनार्डो द विन्ची (Leonardo da Vinci) के चित्रों की शैली का आधार ग्रहण किया क्योंकि यह फ्रान्सिस प्रथम के संरक्षण में अनेक वर्षों तक पेरिस में रहा था। स्पेन में फिलिप द्वितीय (Philip II) ने इस नवीन चित्रकला शैली को संरक्षण प्रदान किया। स्पेन के चित्रकारों में एलग्रीको (Elgreco), म्यूरिलो (Murillo), जर्मनी में ड्यूरर (Durer) एवं होल्बीन (Holbein), फ्लैन्डर्स में ह्यूबर्ट (Hubert), जॉन वान ईक (John Van Iyke) तथा हालैण्ड में रैम्ब्रेन्ट (Rambrandt) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

पश्चिमी यूरोप के देशों में १५वीं तथा १६वीं शताब्दियों में संगीत के क्षेत्र में, कला एवं स्थापत्य के साथ-साथ, इतना अधिक विकास हुआ कि वह उन्नति के नए शिखर पर पहुँच कर पुनर्जागरण युग की अन्यतम उपलब्धि बन गई। इंग्लैण्ड में जॉन बुल (John Bull) एवं विलियम बर्ड (Willian Byrd) ने राज्याश्रय में अन्यतम धुनें बनाई और वहाँ के राष्ट्रीय गीत 'गाड सेव दि किंग' (God Save the King) की धुन तैयार की।

विज्ञान

पुनर्जागरण युग के अन्तर्गत विज्ञान के क्षेत्र में भी प्रगति हुई। १६वीं शताब्दी तक आते-आते लगभग सम्पूर्ण यूरोप में मानववादी एवं व्यक्तिवादी विचारधाराओं के कारण तथा प्राचीन सभ्यताओं के प्रति अभिरुचि के कारण जो एक नई विचार-श्रृंखला सामने आई उसके फलस्वरूप वैज्ञानिकों के दृष्टिकोण मे भी परिवर्तन हुआ। इस काल के वैज्ञानिकों ने गणित, ज्योतिष, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, चिकित्सा शास्त्र आदि के क्षेत्र में नये वैज्ञानिक अन्वेषणों के द्वारा अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। लेकिन १४वीं शताब्दी में बारूद का आविष्कार एवं १५वीं शताब्दी में छापेखाने के आविष्कार पुनर्जागरण युग की महान देन थी। १४वीं शताब्दी में बारूद के आविष्कार के पश्चात् मनुष्य उसके प्रयोग का साधन ढूढने लगा, जिसके फलस्वरूप तोप एवं बन्दूक आविष्कृत किये गये। तोप और बन्दूक के आविष्कार ने युद्ध विद्या के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये। क्योंकि इनके सामने परम्परागत युद्ध शैली (सैनिकों का शस्त्र से लड़ना) बेकार हो गई। दूसरी ओर तोप एवं बन्दूक के आविष्कार ने सामन्तवाद का अन्त कर केन्द्रीय शक्ति के विकास को प्रोत्साहित किया।

इस युग का दूसरा महत्वपूर्ण आविष्कार छापाखाना अथवा मुद्रणालय था, जिसने एक क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। १५वीं शताब्दी के पूर्व पुस्तकें या तो कंठाग्र

की जाती थीं अथवा कठोर परिश्रम के पश्चात् हाथ से लिखी जाती थीं। यह हस्त-लिखित ग्रन्थ एक तो बहुत मँहगे होते थे और दूसरे, इनकी अधिक प्रतिलिपि भी नहीं की जा सकती थी। अधिक मूल्य होने के कारण साधारण जनता इन ग्रंथों का अध्ययन नहीं कर पाती थी। प्राचीन युग में ग्रन्थों की रचना ताड़-पत्र अथवा भोज-पत्र पर की जाती थी जिसको सम्भाल कर सुरक्षित रखना एक दुष्कर कार्य था। इसके पश्चात् दूसरे चरण में लेखकों ने एक प्रकार के पेड़ की छाल(Papyrus) का प्रयोग आरम्भ किया। वह वजनी होने के साथ मँहगा भी पड़ता था और यूरोप के देशों को मिस्र के द्वारा निर्यात किया जाता था। कालान्तर में मिस्र पर अरबों का अधिकार हो जाने से वह (Papyrus) यूरोप के देशों को मिलना बन्द हो गया। फल-स्वरूप मनुष्य ने तीसरे चरण में जानवरों की चिकनी की हुई खाल पर ग्रन्थ-रचना आरम्भ की। लेकिन यह भी बहुत व्यय साध्य सिद्ध हुआ। अतः यूरोप के विद्वानों के सामने मुख्य रूप से दो समस्यायें सामने आईं। प्रथम, लेखन कार्य के लिये किसी सस्ती वस्तु का प्रयोग और दूसरे गतिशील अक्षरों का आविष्कार जिससे हाथ से लेखन कार्य न किया जा सके।

लेकिन इन समस्याओं को सुलझाने के लिये अभी काफी समय लगता था। अतः विकास के चतुर्थ चरण में लिखने के लिये जानवर की खाल के स्थान पर रेशम का प्रयोग किया जाने लगा जो मुख्य रूप से चीन का आविष्कार था। कालान्तर में सर्वप्रथम ८वीं शताब्दी में अरब के दमिश्क नामक नगर में कागज बनाने की चेष्टा की गई और वह सफल रही। विकास के अनेक चरण से निकलने के पश्चात् १३ वीं शताब्दी के आते-आते आधुनिक कागज का स्वरूप निर्धारित हो गया जिसका निर्यात यूरोप के देशों को किया जाने लगा। लेकिन सुधार के लिये बराबर प्रयत्न होते रहे और १५वीं शताब्दी में कागज का आधुनिक रूप सामने आया। कागज का आविष्कार हो जाने के कारण ग्रन्थ रचना की समस्या हल हो गई। दूसरी समस्या मुद्रण अथवा छापने की थी। अभी तक छापने का कार्य स्थायी अक्षरों द्वारा किया जाता था, अर्थात लकड़ी के बड़े-बड़े तख्तों पर अक्षरों को उभारा जाता था और उसके ऊपर स्याही या उसी प्रकार की कोई वस्तु लगाकर कागज, रेशम, या चमड़े की खाल आदि को दबाकर अक्षरों को छाप लिया जाता था। परन्तु इसमें कई कठिनाइयाँ थीं। लकड़ी के तख्तों पर एक बार जो अक्षर खोद दिये जाते थे उनका प्रयोग दूसरे अक्षरों के लिये नहीं किया जा सकता था। दूसरी कठिनाई यह थी कि लीनन आदि पर इस प्रकार की छपाई स्पष्ट नहीं आती थी। अतः लोगों का ध्यान इस ओर गया कि ऐसे अक्षर बनाए जाँय जो गतिशील हों तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाये जा सकें क्योंकि ऐसे अक्षर बार-बार प्रयोग किये जा सकते थे। इस प्रकार गतिशील अक्षरों की पद्धति लकड़ी के अक्षरों से ली गई।

सर्वप्रथम नीदरलैण्ड्स के निवासी लोरेन्सकास्टर (Lourenscastor) नामक व्यक्ति ने ऐसे अक्षरों का आविष्कार किया जो सुविधा के अनुसार हटाये या लगाये जा सकते थे। सन् १४५० ई० के लगभग जर्मनी के मेन्ज (Mainz) नगर के निवासी जॉन गटेनबर्ग (John Guttenberg) ने इन अक्षरों में और सुधार कर अपने पहले प्रेस की स्थापना की। सन् १४५४ ई० में जॉन गटेनबर्ग (John Guttenberg) द्वारा सर्वप्रथम बाइबिल की प्रतियाँ मुद्रित की गईं। इस प्रकार वह एक क्रान्तिकारी आविष्कार का जनक था। शीघ्र ही यूरोप के विभिन्न देशों के नगरों में नये-नये प्रेस स्थापित किये गये और पुस्तकों की छपाई होने लगी। १६वीं शताब्दी तक मुद्रण कला के क्षेत्र में और भी प्रगति हुई जिसके फलस्वरूप महत्वपूर्ण प्रभाव सामने आये।

सर्वप्रथम मुद्रण-यन्त्र के आविष्कार से पुस्तकों की पूर्ति की समस्या आसानी से हल हो गई क्योंकि इसके द्वारा बड़ी संख्या में पुस्तकें छापी जा सकती थीं। दूसरे, बहुत अधिक संख्या में पुस्तक छपने के कारण उनका मूल्य कम हो गया और साधारण जनता भी इन पुस्तको के ज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ हो सकी। तीसरे इससे पूर्व पुस्तकों की प्रतिलिपियों में त्रुटि होने की सम्भावना बहुत होती थी। परन्तु यांत्रिक मुद्रण से यह सम्भावना कम हो गई और सर्वसाधारण में ज्ञान प्राप्त करने की नई जिज्ञासा के फलस्वरूप शिक्षा का प्रसार हुआ। इस प्रकार मुद्रण-यन्त्र का यह आविष्कार क्रान्तिकारी होने के साथ-साथ महत्वपूर्ण एवं लाभदायक आविष्कार सिद्ध हुआ।

ज्योतिष :

मध्य काल की जनता का विश्वास टालमी (Ptolemy) के सिद्धान्त में था। टालमी के अनुसार पृथ्वी ब्रह्माण्ड का एक स्थायी एवं केन्द्रीय ग्रह है। सूर्य, चन्द्रमा, तारे तथा अन्य सभी ग्रह प्रत्येक २४ घण्टे में पृथ्वी का चक्कर लगाते हैं। रोमन कैथोलिक चर्च द्वारा टालमी के इस सिद्धान्त को यथावत ग्रहण कर लिया गया था क्योंकि चर्च स्वयं इसी सिद्धान्त में विश्वास करता था। किन्तु इसके विपरीत कोपरनिकस ने पाइथागोरस के उस सिद्धान्त का विकास किया जिसके अनुसार सूर्य ब्रह्माण्ड का केन्द्र है और अपनी धुरी पर स्थायी रह कर चक्कर लगाता है। पृथ्वी अनेक ग्रहों की भाँति एक ग्रह है जो सूर्य का चक्कर लगाती है। कोपरनिकस (Copernicus) ने अपने अध्ययन मनन के पश्चात् पाइथागोरस के सिद्धान्त को सामने रखा और पृथ्वी को बहुत महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया। १६वीं शताब्दी के वैज्ञानिकों ने कोपरनिकस के सिद्धान्त का समर्थन करते हुये इसे और आगे बढ़ाया। इन वैज्ञानिकों में डेनमार्क निवासी टाइकोब्रेही (Tychobrahe) तथा जर्मनी के निवासी केपलर (Kepler) का

नाम लिया जा सकता है। इन दोनों के अतिरिक्त इटली निवासी गैलीलियो (Galileo) ने भी कोपरनिकस के सिद्धान्त का समर्थन किया। टाइकोब्रेही ने टालमी और कोपरनिकस के सिद्धान्तों के मध्य सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश की। परन्तु वह सफल नहीं हो सका क्योंकि वह रूढ़िवादी विचारधारा से ग्रसित था। उसके अनुसार पृथ्वी ब्रह्माण्ड में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। जर्मनी निवासी जॉन केपलर (John Kepler, 1571-1630) ने अपने प्रयोगों के द्वारा टालमी के सिद्धान्त के अवशेषों को समाप्त कर यह स्पष्ट कर दिया कि पृथ्वी तथा अन्य ग्रह सूर्य का चक्कर लगाते है। उनके अनुसार प्रत्येक ग्रह अपनी धुरी पर घूमते हुये सूर्य का अण्डाकार रूप में चक्कर लगाते हैं। पृथ्वी भी इसी प्रकार अण्डाकार रूप से सूर्य का चक्कर लगाते हुये अपना अन्तर बराबर बनाये रखती है। इटली निवासी गलीलियो ने इस बात को और भी स्पष्टता के साथ प्रयोगों द्वारा सिद्ध कर दिया कि सूर्य अपनी धुरी पर घूमता रहता है। वह ब्रह्माण्ड का केन्द्र है और पृथ्वी उसका चक्कर लगाया करती है। इस प्रकार कोपरनिकस के सिद्धान्त को उसने काफी स्पष्ट रूप से सामने रखा। ज्योतिष के क्षत्र में ही गलीलियो का सन् १६०९ ई० में दूसरा महत्वपूर्ण योगदान दूर्बीन (Telescope) का आविष्कार था। जिसके द्वारा उसने वृहस्पति के उपग्रह, शनि ग्रह के वृत्त तथा सूर्य के धब्बों तथा चिन्हों का पता लगाया। उसके अनुसार, आकाशगंगा स्वर्गीय शरीरों का समूह है जो आकाश मण्डल से स्वतन्त्र है। इसके अतिरिक्त गलीलियो ने तारों के विस्तृत दूरी के सम्बन्ध में अपने निश्चित विचार स्थापित किये। ज्योतिषी होने के साथ-साथ वह एक महान् वैज्ञानिक भी था और उसने सर्वप्रथम यह सिद्धान्त सामने रखा कि एक ही ऊँचाई से एक ही साथ में गिराई जानेवाली समान तौल की वस्तुये पृथ्वी पर एक साथ गिरेंगी।

गणित :

१५वीं शताब्दी से लेकर १६वीं शताब्दी के मध्य गणित के क्षेत्र में भी काफी प्रगति हुई। इटली में तार्तगेलिया (Tartagalia) और कार्डन (Corden) ने धनफल सम्बन्धी समीकरण (Cubic Equation) को हल करने के क्षेत्र में काफी प्रयास किये। नीदरलैण्ड्स के निवासी स्टेबनस (Stabnus) ने दशमलव अंश से सम्बन्धित एक ग्रंथ की रचना की तथा नाप-तौल एवं सिक्कों में दशमलव पद्धति के प्रयोग पर जोर दिया। स्काटलैण्ड के निवासी जॉन नेपियर (John Napier) ने सर्वप्रथम लॉगरिथम (Logarithm) का आविष्कार किया तथा दशमलव प्रणाली का प्रयोग करने वाला वह पहला व्यक्ति था।

भौतिक विज्ञान :

१६वीं शताब्दी में भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई।

पॉर्टा (Porta) नामक एक इटैलियन ने 'जादुई लालटेन' (Magic Lantern) का आविष्कार किया। इसी प्रकार नीदरलैण्ड्स निवासी जानसेन (Jan Seu) ने सन् १५९० ई० में सूक्ष्मदर्शक यन्त्र का आविष्कार किया। इसके पश्चात् इसी युग में दूरदर्शक यन्त्र का आविष्कार भी हुआ तथा इंग्लैण्ड के विलियम गिल्बर्ट (William Gilbert) नामक व्यक्ति ने चुम्बकीय विषयों का अध्ययन कर बिजली का आविष्कार किया। इस युग का प्रसिद्ध भौतिकशास्त्री गलीलियो (Galilio) था जिसने वायु-थर्मामीटर एवं भौतिक-तुला का ज्योमितीय गणना के बाद आविष्कार किया।

औषधि शास्त्र :

इस क्षेत्र में अन्य विद्वानों की अपेक्षा कम विकास हुआ। पुनर्जागरण युग के चिकित्सकों ने प्राचीन यूनान के हिपॉक्रेटीज (Hippocrates) तथा गैलन (Galen) के विचारों का अध्ययन कर कुछ महत्वपूर्ण परिणाम सामने रखे। स्पेन निवासी सर्वेटस (Sirvetus, 1511-1553) ने यह विचारधारा सामने रखी कि प्रत्येक मनुष्य के शरीर में रक्त का संचालन होता हैं। उसके इस अध्ययन को इंग्लैण्ड के विलियम हार्वे (William Harvey, 1578-1657) ने और आगे बढ़ाया और यह सिद्ध कर दिया कि मनुष्य के शरीर की रचना में हृदय का महत्वपूर्ण स्थान है और रक्त को शुद्ध करने तथा उसके संचालन का वह पूर्णरूपेण उत्तरदायी होता है। विलियम हार्वे (William Harvey) ने यह स्पष्ट कर दिया कि मनुष्य-शरीर में रक्त संचालन का सर्वोपरि स्थान है। नीदरलैण्ड्स निवासी वेसालियस (Vesalius) ने मानव-शरीर को चीरफाड़ कर मानव-शरीर की रचना के ज्ञान पर अत्यधिक जोर दिया।

सायन शास्त्र तथा प्राणि विज्ञान :

इस क्षेत्र में नीदरलैण्ड्स निवासी हेलमाण्ट (Helmont) ने गैस का आविष्कार कर विशेष योगदान दिया। वह पहला वैज्ञानिक था जिसने यह बताया कि वातावरण में विभिन्न प्रकार की गैसें होती हैं। इसके पश्चात् गैसनर (Gesner) नामक वैज्ञानिक ने पौधों एवं पशुओं का अध्ययन किया। पशुओं के अध्ययन के पश्चात् चार खण्डों में पशुओं के इतिहास की रचना की। गेसनर आधुनिक जीव-विज्ञान का जन्मदाता कहा जा सकता है।

कैलेण्डर का सुधार :

१६वीं शताब्दी में एक क्रान्तिकारी सुधार कैलेण्डर के क्षेत्र में किया गया। अभी तक जूलियन कैलेण्डर प्रयोग में लाया जाता था जिसमें वर्ष एवं महीनों के दिनों की संख्या निश्चित नहीं थी। बहुत दिनों से इस बात का प्रयास किया जा रहा

था कि इसको सुधार कर यूरोप के सभी देशों के लिए एक कैलेण्डर की रचना की जाय। अंततः १५८२ ई० में पोप ग्रेगरी त्रयोदश (Pope Gregory xiii) इस प्रयत्नमें सफल हुआ। उसने प्रचलित कैलेण्डर को दस दिन पीछे खिसका कर यह निश्चित कर दिया कि एक वर्ष में ३६५ दिन होंगे और नव वर्ष पहली जनवरी से ही सदैव आरम्भ होगा। गणनानुसार प्रतिवर्ष ६ घण्टे बढ़ जाने पर प्रत्येक चौथे साल एक दिन बढ़ गया। यह वर्ष 'Leap year' कहा गया और यह व्यवस्था की गई कि जो संख्या ४ से कट सके वही 'Leap year' होगा यथा १९६४,६८, ७२, ७६, ८० आदि। इस कैलेण्डर को शीघ्र यूरोप के सभी देशों ने अपना लिया, केवल रूस ने इसे २०वीं शताब्दी में अपनाया।

भौगोलिक अन्वेषण

साहित्य, कला, विज्ञान के साथ पुर्नजागरण युग में भौगोलिक अन्वेषण एवं व्यापार के विस्तार की ओर भी ध्यान दिया गया। इसके लिए अनेक कारण उत्तरदायी ठहराये जा सकते हैं। सर्वप्रथम तो यह कि सांस्कृतिक पुनर्जागरण के द्वारा लोगों में मध्ययुगीन भावनाओं का अन्त होने लगा तथा उनमें नई वस्तुओं की जानने की इच्छा पैदा हुई। फलस्वरूप, भौगोलिक खोजों के लिये अनेक सामुद्रिक यात्रायें की गईं। इसका द्वितीय कारण आर्थिक था। क्योंकि कुस्तुनतुनियाँ के पतन के पश्चात् पूर्वी देशों के साथ यूरोप का व्यापारिक सम्बन्ध समाप्त हो गया। इस प्रकार भूमध्यसागर का व्यापारिक महत्व समाप्त होने लगे और नई भौगोलिक खोजों के कारण अब अटलाण्टिक महासागर का महत्व बढ़ने लगा। इन भौगोलिक खोजों का तीसरा कारण धार्मिक था क्योंकि धर्म की भावना ने इन यूरोपीय देशों को इस ओर उत्साहित किया कि वे नये स्थानों का पता लगाकर वहाँ अपने धर्म का प्रचार करें। इसके अतिरिक्त नवीन आविष्कारों के कारण भौगोलिक खोजों का यह कार्य काफी सरल हो गया। कुतुबनुमा के अविष्कार के कारण समुद्र में अब दिशाओं का ज्ञान भलीभाँति प्राप्त किया जा सकता था। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण पुर्तगाल तथा स्पेन ने सर्वप्रथम इस ओर प्रयास किया। तत्पश्चात् अन्य देशों ने भौगोलिक खोजों की दिशा में प्रवेश किया।

पुर्तगाल ने सर्वप्रथम भौगोलिक खोजों की दिशा में प्रयास प्रारम्भ किया। १५वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पुर्तगाल ही ऐसा देश था जो यूरोप के अन्य देशों की अपेक्षा काफी संगठित था। भौगोलिक खोजों की ओर राजकुमार हेनरी (१३९४ ई०-१४६० ई०) के काल में प्रयास प्रारम्भ हुआ। यद्यपि उसने व्यक्तिगत रूप से कोई यात्रा नहीं की और न ही उसने किसी स्थान को खोज निकाला फिर भी उसने नाविकों की जो सहायता की वह अति सराहनीय है। जिनके फलस्वरूप अनेक भौगोलिक

यात्रायें की गईं। यही कारण है कि उसे 'महान नाविक' (The Navigator) की संज्ञा से विभूषित किया जाता है। उसने नाविकों के प्रशिक्षण के लिए एक स्कूल की स्थापना की तथा उसने नाविकों को नये स्थानों की खोज के लिये काफी प्रोत्साहित किया। परिणामस्वरूप मडीरा (Madeira) एवं अजोर (Azores) के द्वीप समूहों का पता लगाया गया तथा वहाँ पुर्तगाली उपनिवेशों की स्थापना हुई। सन् १४६० ई० में हेनरी की मृत्यु हो गई किन्तु भौगोलिक खोजों का कार्य पूर्ववत् चलता रहा। सन् १४८८ ई० में कप्तान डायज (Diaz) ने आशा-अन्तरीप का पता लगाया। सन् १४९७ ई० में वास्कोडिगामा ने पुर्तगाल से प्रस्थान किया और सन् १४९८ ई० में यह भारत में कालीकट पहुँचा तथा सन् १४९९ ई० में उसने वापस लौटने के लिये प्रस्थान किया। इस प्रकार पूर्व एवं पश्चिम के मध्य सम्पर्क स्थापित हो गया। यूरोप एवं भारतीय व्यापार पर पुर्तगालियों का एकाधिकार स्थापित हो गया। इसके पश्चात् १५१७ ई० में उन्होंने चीन में प्रवेश किया और कुछ वर्षों पश्चात् वे जापान भी पहुँच गये। इन नवीन स्थानों की खोज के पश्चात् ईसाई मिशनरियों ने भी वहाँ प्रवेश किया और वहाँ अपने धर्म का प्रचार आरम्भ किया। इसके अतिरिक्त सन् १५०० ई० में पेड्रो कैबराल (Pedro Cabral) के नेतृत्व में ब्राजील को खोज निकाला गया और उसे पुर्तगाल के साम्राज्य में मिला लिया गया।

इसके पश्चात् स्पेन ने भी भौगोलिक खोजों की दिशा में प्रवेश किया। स्पेनी शासकों के प्रोत्साहन के फलस्वरूप अनेक मार्गों एवं स्थानों का पता लगाया गया। स्पेनी शासक की सहायता से इटली निवासी कप्तान कोलम्बस (Columbus) ने अगस्त १४९२ ई० में स्पेनी बन्दरगाह से नये मार्ग का पता लगाने के लिए प्रस्थान किया। उसने अटलाँटिक सागर को पार किया और अक्टूबर १४९२ ई० में वह ऐसे स्थान पर पहुँचा जिसे उसने 'इण्डीज' (Indies) का नाम दिया सन् १५०३ ई० में 'अमेरिगो' (Amerigo) नामक एक इटली निवासी ने एक पत्र प्रकाशित किया जिसमें उसने कोलम्बस द्वारा खोजे गये स्थान को 'नया संसार' (New world) कहा तथा चार वर्ष पश्चात् एक जर्मन प्रोफेसर ने इसे विश्व का चौथा भाग बताया और 'अमेरिगो' (लैटिन में 'Americus') के नाम पर इसका नाम 'अमेरिका' रखा। सन् १५१३ ई० में स्पेनी नाविक बालबोआ (Balboa) ने प्रशान्त महासागर का पता लगाया।

पुर्तगाल तथा स्पेन के पश्चात् अन्य देशों ने भी भौगोलिक खोजों की दिशा में प्रयास किया। सन् १४९७ ई० में इंग्लैण्ड के राजा हेनरी सप्तम ने इटली के निवासी कप्तान कैबॉट (Cabot) को नये स्थानों की खोज के लिये नियुक्त किया। उसने ब्रिटेन (Breton) द्वीप का पता लगाया। इसी प्रकार पेरू (Peru), मेक्सिको

(Mexico), फ्लोरिडा (Florida) आदि अनेक स्थानों को भी खोज निकाला गया। सन् १५१६ ई० मैजलान (Magellan) की यात्रा का भी बहुत महत्व है जिसके परिणामस्वरूप पृथ्वी की परिधि का ज्ञान प्राप्त हुआ और यह भी सिद्ध हो गया कि पृथ्वी वृत्ताकार है।

परिणाम :

इन भौगोलिक खोजों का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह था कि समुद्र-पार यूरोपीय साम्राज्य का विस्तार हुआ तथा उपनिवेशों की स्थापना हुई। इसका दूसरा परिणाम पूँजीवाद का उदय था। यूरोप के लोगों को नये बाजारों की प्राप्ति हुई जिसके द्वारा वस्तुओं की आवश्यकता एवं खपत में भी वृद्धि हुई। व्यापार के क्षेत्र में भूमध्य सागर की महत्ता कम हो गई और अटलान्टिक सागर की महत्ता बढ़ गई। इसके अतिरिक्त इन भौगोलिक खोजों के परिणामस्वरूप वाणिज्य के क्षेत्र में भी विकास हुआ। तीसरे, इन भौगोलिक खोजों के कारण दास व्यापार का पुनः विकास हुआ। चौथे, व्यापार एवं वाणिज्य के विकास के कारण मध्य वर्ग का उदय सम्भव हो सका। इन भौगोलिक खोजों का अन्तिम परिणाम अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्दिता को जन्म देना था। क्योंकि विभिन्न देशों के मध्य अपनी-अपनी औपनिवेशिक प्रधानता स्थापित करने के उद्देश्य से दौड़ प्रारम्भ हुई जिसके फलस्वरूप विभिन्न देशों के मध्य प्रतिद्वन्दिता को जन्म मिला तथा अनेक युद्ध हुये।

अध्याय ३

धर्म-सुधार आन्दोलन

(REFORMATION MOVEMENT)

सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यूरोप में रोमन कैथोलिक चर्च एक महत्वपूर्ण संस्था थी। पाश्चात्य यूरोप में पैदा होने वाला प्रत्येक शिशु चर्च का जन्मजात सदस्य होता था। प्रत्येक ईसाई कैथोलिक चर्च के सिद्धान्तों के अनुसार संस्कारों को सम्पन्न किया करता था। पोप की शक्तियाँ तथा अधिकार विस्तृत एवं असीमित थे। वह ही चर्च का प्रधान प्रशासक था। इसके अतिरिक्त धार्मिक मामलों के सम्बन्ध में वह आदेश जारी करता था तथा मुख्य न्यायाधीश के रूप में न्याय भी किया करता था। कैथोलिक चर्च के अनुसार, पोप जिन अधिकारों का उपयोग करता था वे प्रभु ईसा-मसीह द्वारा पीटर को प्रदान किये गये थे। इस प्रकार पीटर को रोम के प्रथम बिशप के रूप में स्वीकार किया गया तथा उसके पश्चात् ये अधिकार उसके उत्तराधिकारियों को प्रदान कर दिये गये।

पोप की सहायता के लिए चर्च के अन्तर्गत कार्डिनल, आर्चबिशप तथा बिशप आदि पदाधिकारी होते थे जो पोप द्वारा नियुक्त किये जाते थे। इन विभिन्न पदाधिकारियों के द्वारा इसाईयों के धार्मिक, नैतिक एवं राजनीतिक जीवन को नियन्त्रित किया जाता था। व्यक्तिगत इकाई के रूप में अपने क्षेत्रों मे कार्डिनल को अनेक कार्य करने पड़ते थे तथा संस्था के रूप में वे 'पवित्र संस्था' (Sacred College) अथवा 'कार्डिनलों की संस्था' (College of Cardinals) के नाम से जाने जाते थे। सन् १५८६ ई० के पश्चात् इस संस्था के अन्तर्गत कार्डिनलों की संख्या ५३ हो गई। क्योंकि इसी वर्ष पोप ने यह आदेश जारी किया था कि इनकी संख्या ७० से अधिक न होने पाये। इस संस्था का प्रमुख कार्य पोप की मृत्यु के पश्चात् उसके स्थान पर एक नये पोप का निर्वाचन करना था। इसके पश्चात् चर्च का दूसरा प्रमुख अधिकारी आर्चबिशप था। वह एक प्रान्त का प्रधान धर्माधिकारी होता था। उसका प्रमुख कर्त्तव्य धार्मिक कानूनों को लागू करवाना, मुकदमों की अपीलें सुनना, प्रान्तीय सिनॉड (Synod) की सभा बुलाना तथा उसकी अध्यक्षता करना था। आर्चबिशप के अधीन अनेक बिशप होते थे जो प्रान्त के विभिन्न क्षेत्रों में रहते थे। इनका प्रमुख कार्य सिद्धान्तों की पवित्रता

तथा पादरियों में नैतिक स्तर को बनाये रखना था। इसके अतिरिक्त वह चच की भू-सम्पत्ति की भी देख-रेख किया करता था जो उसके क्षेत्र में होती थी। बिशप के पश्चात् पादरी होते थे जो उप-क्षेत्रों में निवास करते थे। इन पादरियों का प्रमुख कर्त्तव्य 'आत्मा को मुक्ति' दिलाना था। इसके लिए वह उपदेश देता तथा ईसाइयों के विभिन्न संस्कारों में उनका निर्देशन करता था।

चर्च के अनुसार यह संस्कार 'मानव-उद्धार के लिए अप्रत्यक्ष कृपा से प्रत्यक्ष प्रतीक थे।' इस प्रकार एक ईसाई को मुक्ति प्राप्ति के लिए सात संस्कारों का पालन करना आवश्यक था। इन संस्कारों के सम्पन्नीकरण में प्रत्येक ईसाई को पादरी की सहयता लेना अनिवार्य था। यह सात संस्कार इस प्रकार थे :—

(१) **जन्म** (Baptism—बैपटिज्म) : इस संस्कार के द्वारा नवजात शिशु के उसके जन्म से पूर्व के पापों को धोया जाता था।

(२) **प्रमाणीकरण** (Confirmation—कन्फर्मेशन) : इस संस्कार के द्वारा बालक को चर्च की सदस्यता तथा ईसामसीह की सेवा के लिए मान्यता प्रदान की जाती थी।

(३) **प्रायश्चित** (Penance-पेनान्स) : इसके द्वारा प्रथम संस्कार अर्थात् जन्म से लेकर किये गये सभी पापों पर पश्चाताप अथवा प्रायश्चित करना पड़ता था। इस पश्चाताप से उसे क्षमा मिल जाती थी।

(४) **पवित्र यूकारिस्ट** (Holy Eucharist-होली यूकारिस्ट) : इस संस्कार के अन्तर्गत रोटी एवं मदिरा की पूजा की जाती थी। रोटी एवं मदिरा क्रमशः प्रभु ईसा के शरीर एवं लहू के प्रतीक थे। चर्च के अनुसार, पूजा में रखी हुई रोटी तथा मदिरा ईसामसीह के शरीर तथा लहू में परिवर्तित हो जाती थी। इस परिवर्तन को 'द्वितत्ववाद' (Transubstantiation) कहते थे। यह पूजा सामूहिक प्रार्थना, सुगन्धित धूप, दीप तथा गीत-संगीत सहित सम्पन्न की जाती थी। पूजा के पश्चात् रोटी तथा मदिरा प्रसाद के रूप में वितरित की जाती थी।

(५) **विवाह** (Matrimony-मैट्रीमोनी) : विवाह-सस्कार के द्वारा पति-पत्नी सदा के लिए एक धार्मिक सूत्र में बँध जाते थे। केवल चर्च ही यह सम्बन्ध-विच्छेद कर सकता था।

(६) **मान्यता प्रदान** (Ordination-आर्डितेशन) : यह संस्कार केवल उनके लिए थे जो लोग चर्च की सेवा में अपना जीवन व्यतीत करते थे। इस संस्कार के द्वारा उन्हें दीक्षा दी जाती थी। जिससे वे संस्कारों एवं अन्य धार्मिक कर्त्तव्यों को सम्पन्न कर सकते थे।

(७) **अन्तिम संस्कार** (Extreme Unction-इक्सट्रीम अंकशन) : यह अन्तिम संस्कार मृत्यु के समय सम्पन्न किया जाता था। पादरी पूजा के द्वारा मरणासन्न ईसाई की आत्मा को शान्ति एवं ईश्वर से मिलने के लिए शक्ति प्रदान करता था।

इन सात संस्कारों में विवाह तथा मान्यता प्रदान संस्कारो को छोड़कर अन्य शेष पाँच संस्कार ईसाइयों के लिए अनिवार्य थे। यह दो संस्कार (विवाह, मान्यता प्रदान) इच्छा पर निर्भर करता था। इन संस्कारों के सम्पादन में धर्माधिकारियों का विशेष महत्व था, बिना उनकी उपस्थिति के सस्कार पूर्णतया सम्पन्न नहीं समझा जाता था। इसके लिये नगर से लेकर छोटे से छोटे गाँव में भी चर्च पदाधिकारी रहते थे। यदि कोई व्यक्ति चर्च के कानूनों का उल्लंघन करता था तो उसे धर्म से बहिष्कृत कर दिया जाता था और यदि वह अपने पाप पर पश्चाताप नहीं करता था तो उस विशेष क्षेत्र में संस्कारों का सम्पादन रोक दिया जाता था। अधिकतर यह शस्त्र उन राजकुमारों एवं शासकों के विरुद्ध प्रयोग किया जाता था जो चर्च की सत्ता को मानने से इन्कार करते थे। अतः इस विशेष अस्त्र का प्रयोग कर उन्हें आज्ञा पालन के लिए बाध्य किया जाता था। इस प्रकार शताब्दियो तक पवित्र रोमन चर्च अधिकांश यूरोपीय देशों में धार्मिक एकता बनाये रखने में सफल हुआ। किन्तु १६वी शताब्दी में यह एकता प्रोटेस्टेन्ट विद्रोह अथवा सुविख्यात धर्म-सुधार आन्दोलन के द्वारा भंग हो गई।

धर्म-सुधार का तात्पर्य :

सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यूरोप में धर्म के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण आन्दोलन हुआ, जिसके परिणामस्वरूप अनेक यूरोपीय राज्य रोमन कैथलिक चर्च से पृथक् एवं स्वतन्त्र हो गये। इस प्रकार यूरोप मे शताब्दियों से चली आ रही धार्मिक एकता नष्ट हो गयी और ईसाई धर्म कई सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। इस व्यापक एवं महत्वपूर्ण आन्दोलन को 'धर्म-सुधार' अथवा 'प्रोटेस्टेन्ट आन्दोलन' की संज्ञा दी गई। इस आन्दोलन का मूल उद्देश्य कैथलिक चर्च में व्याप्त कुरीतियों का दमन कर उसके स्थान पर लोगो के नैतिक एवं अध्यात्मिक जीवन को उन्नतिशील बनाना तथा पोप के विस्तृत एवं व्यापक अधिकारों को सीमित करना था। इतिहासकार फिशर के मतानुसार, "प्रोटेस्टेन्ट धर्म-सुधार पोप की धार्मिक निरंकुशता, पादरियों के विशेषाधिकार तथा भूमध्यसागरीय जातियो के वशानुगत असहिष्णु धर्म (कैथोलिक धर्म) के विरुद्ध एक विद्रोह था। एक ओर इसने पादरियों के अधिकारों एवं स्वत्वों के विरुद्ध विद्रोह का रूप लिया, दूसरी ओर धार्मिक पुनरुत्थान एवं ईसाई चर्च की मौलिकता को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया।"

धर्म-सुधार आन्दोलन के कारण

धर्म-सुधार आन्दोलन अथवा प्रोटेस्टेन्ट आन्दोलन का एक मात्र कारण धार्मिक ही न था, वरन् इसके अतिरिक्त अन्य कारण भी थे जो तत्कालीन राजनीतिक तथा आर्थिक दशा से सम्बन्धित थे, जिनके सहयोग से प्रोटेन्टेन्ट आन्दोलन का उदय हुआ। अत: अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम इन कारणों को धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा तात्कालिक कारणों में विभक्त कर सकते हैं।

(१) धार्मिक कारण :

पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में कैथोलिक चर्च के अन्तर्गत अनेक दोष उत्पन्न हो गये। पोप अपनी असीमित शक्तियों एवं अधिकार के कारण पथ-भ्रष्ट हो गया तथा उनका दुरुपयोग करने लगा था। पोप अलेक्जेन्डर षष्ठ (सन् १४९२-१५०३ ई०) एक चरित्र-भ्रष्ट पोप था। उसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसके आठ अवैध सन्तानें थीं, जिनमें से सात उसके पोप निर्वाचित होने से पूर्व ही पैदा हो चुकी थीं। उस भ्रष्टाचारी पोप ने अपने पद तथा अधिकारों का बहुत दुरुपयोग किया। उसका उत्तरधिकारी पोप जूलियस द्वितीय (सन् १५०३-१५१३ ई०) प्रधानत: एक सैनिक था। इसका मुख्य उद्देश्य रोमन कैथोलिक चर्च को एक सुसंगठित इटैलियन राज्य में परिवर्तित करना था तथा इस दिशा में उसने प्रयास भी किया। उसके पश्चात् पोप लियो दशम (सन् १५१३-१५२१ ई०) पोप बना। उसकी पुनर्जागरण-कालीन साहित्य एवं कला में बड़ी रुचि थी। कला के क्षेत्र में विशेषकर स्थापत्य-कला के प्रति उसकी रुचि होने के कारण भवन-निर्माण के लिए धन की आवश्यकता बढ़ी। रोम में सन्त पीटर (St. Peter) के गिरजाघर के पुनर्निर्माण तथा अन्य खर्चों की पूर्ति के लिए उसने अनेक अनुचित उपाय अपनाये। उसने चर्च के अन्तर्गत पदों को बेच कर धन एकत्रित करना प्रारम्भ किया। अनुमानत: चर्च के अन्तर्गत इन पदों को बेचकर लगभग दस लाख डालर की धनराशि प्रतिवर्ष पोप को प्राप्त होती थी। इसके अतिरिक्त धन देकर कोई भी व्यक्ति चर्च के कानून से मुक्त हो सकता था तथा इसके लिए कोई निश्चित धनराशि न थी। यह धन देने वाले व्यक्ति की स्थिति पर निर्भर करता था कि वह कितना दे सकता था। इसी प्रकार 'क्षमा-पत्रों' (Indulgences—'इन्डलजेन्सेज') को भी अधिकाधिक मूल्यों में बेचकर धन एकत्रित किया जाता था। 'क्षमा-पत्रों' को खरीद कर पापी को उसके द्वारा किये गये पापों से मुक्ति प्राप्त हो जाती थी।

केवल पोप ही नहीं चर्च के सभी पदाधिकारी भ्रष्टाचारी थे तथा चर्च का समस्त वातावरण दूषित हो गया था। क्योंकि सन् १३७८ ई० में पोपशाही के विभाजन से (एक पोप रोम तथा दूसरा अविन्यों में निवास करता था) जो क्षति

हुई उसकी पूर्ति न की जा सकी । चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में इंग्लैण्ड में ऑक्सफर्ड के प्रोफेसर जॉन विक्लिफ (John Wycliff, सन् १३२४-१३८४ ई०) ने कैथलिक चर्च के दूषित वातावरण तथा धर्माधिकारियों की धन-लोलुपता एवं भ्रष्टाचार की कटु आलोचना की । उसने 'क्षमा-पत्रों' की बिक्री का विरोध किया तथा चर्च के अन्तर्गत दोषों को दूर करने के लिए सुधारों पर विशेष बल दिया । किन्तु सन् १३८४ ई० में विक्लिफ की मृत्यु हो गई तथा इंग्लैण्ड के राजा हेनरी चतुर्थ ने उसके समर्थकों को नास्तिक कहकर उनका दमन कर दिया । इसी भाँति बोहेमिया में जॉन हस (John Huss, सन् १३६६-१४१५ ई०) ने चर्च के अन्तर्गत दोषों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट कराया तथा सुधारों की आवश्यकता पर बल दिया । उस पर भी नास्तिकता का अभियोग लगाकर सन् १४१५ ई० में जीवित जला दिया गया । अतः हम देखते हैं कि इन धर्म-सुधारकों ने भविष्य में लूथर के सुधार-आन्दोलन का मार्ग प्रशस्त किया ।

संक्षेप में कैथोलिक चर्च का स्वरूप मुख्यतया व्यवसायिक हो गया था । चर्च के अन्तर्गत पदों पर नियुक्तियाँ योग्यता के आधार पर न होकर धन के आधार पर होती थीं । धन देकर चर्च के कानूनों के पालन एवं पापों से मुक्ति प्राप्त हो जाती थी । धर्म में विश्वास का स्थान आडम्बर एवं नैतिकता का स्थान अनैतिकता ने ग्रहण कर लिया था । आध्यात्मिक कार्यों के स्थान पर चर्च के पदाधिकारी सांसारिक भोग-विलास में लगे हुये थे । चर्च की सम्पत्ति का उपयोग अध्यात्मिक तथा परोपकारी कार्यों में न होकर राजनीति एवं शान-शौकत में किया जाता था ।

(२) राजनीतिक कारण :

धर्म-सुधार आन्दोलन के राजनीतिक कारण भी महत्वपूर्ण हैं । क्योंकि सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कैथोलिक चर्च आधुनिक-कालीन चर्च की भाँति केवल एक धार्मिक संस्था ही न थी, वरन् एक राजनीतिक संस्था भी मानी जाती थी. जिसे राजनीतिक एवं आर्थिक शक्तियाँ प्राप्त थीं । मध्य तथा पश्चिमी यूरोप के प्रत्येक राज्य में कैथोलिक चर्च का अपना संगठन था । कैथोलिक चर्च के अन्तर्गत सभी पदाधिकारी (पोप, विशप, पादरी एवं भिक्षु) राजकीय नियमों से स्वतन्त्र थे । उनकी जागीरें साधारणतया राजकीय करों से मुक्त थीं । चर्च कैथोलिकों से बिना किसी रोक-टोक के तरह-तरह के कर वसूल करती थी और इसमें राज्य की ओर से कोई हस्तक्षेप अथवा विरोध नहीं होता था । चर्च के पदाधिकारियों से सम्बन्धित मुकदमों की सुनवाई चर्च के अन्तर्गत अदालतों में होती थी । इसके अतिरिक्त यह अदालतें कुछ विषयों से सम्बन्धित साधारण लोगों के मुकदमों का निर्णय भी किया

करती थीं। यद्यपि पाँचवी शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक के सामन्तशाही युग में चर्च की राजनीतिक सत्ता बड़ी उपयोगी एवं सन्तोषजनक सिद्ध हुई, क्योंकि इस काल में राजसत्ता निर्बल थी तथा चर्च यूरोपीय राजनीतिक एकता के लिए एक महत्वपूर्ण संस्था थी।

किन्तु सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में परिस्थिति पूर्णतया परिवर्तित हो गयी। अब राष्ट्रीय जागरण तथा निरंकुश राजसत्ता का उदय हुआ। यद्यपि पूर्व-मध्यकाल से ही इटली के बाहर लोगों में स्वतंत्रता की भावना का विकास हो रहा था। वे अपने देश की समस्याओं में किसी बाह्य शक्ति का हस्तक्षेप नहीं चाहते थे। इंग्लैण्ड में चौदहवीं शताब्दी के मध्य में दो नियम पारित हुये। जिनके द्वारा इंग्लैण्ड में चर्च के अन्तर्गत पदाधिकारियों की नियुक्ति सम्बन्धी पोप के अधिकारों का अन्त कर दिया गया तथा इंग्लैण्ड की अदालतों की अपील को रोम भेजने की भी मनाही कर दी गई। इससे भी बढ़कर सन् १४३८ ई० में फ्रांस के राजा ने की। उसने एक अध्यादेश द्वारा देश में पोप के सभी अधिकारों को समाप्त कर दिया। फ्रांस में चर्च के पदाधिकारियों की नियुक्ति तथा कर वसूली सम्बन्धी अधिकारों से भी पोप को वंचित कर दिया गया। प्रत्येक नगरों के धार्मिक संचालन का अधिकार राजकीय कर्मचारियों को प्रदान किया गया। जर्मनी में यद्यपि राजनैतिक एकता का अभाव था, किन्तु वहाँ लोगों में राष्ट्रीयता की भावना विद्यमान थी। जिसका स्पष्टीकरण जर्मन 'डायट' (Dict) द्वारा धर्माधिकारियों के विरुद्ध पारित अनेक अध्यादेशों से होता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न राज्यों के राजकुमारों ने धार्मिक नियुक्तियों की समाप्ति एवं उनकी सम्मति के बिना 'क्षमा-पत्रों' ('इन्डलजेन्सेज') की बिक्री की मनाही कर दी।

इन देशों में राष्ट्रीयता की भावना के विकास के साथ ही साथ निरंकुश राजसत्ता का भी उदय हुआ। किसी निरंकुश शासक से धर्म को अपने अधिकार क्षेत्र से दीर्घकाल तक पृथक् रखने की आशा नहीं की जा सकती। क्योंकि वह धर्म के क्षेत्र में भी अपने अधिकारों की प्रधानता स्थापित करने का इच्छुक होता है और जब तक उसके राज्य में दोहरी सत्ता होगी तो वह निरंकुश नही कहा जा सकता। अतः शासकों की चर्च को अपनी सत्ता के अधीन रखने की भावना रोम के साथ विरोध का कारण बनी। इतिहासकार एरगाङ्ग के शब्दों में "यूरोप के राज्यों में रोमन कैथोलिक चर्च भौतिक तथा अध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में प्रतिष्ठित था। राजाओं ने चर्च की विश्वव्यापी प्रतिष्ठा को राजतन्त्र की अभिवृद्धि में प्रमुख बाधक समझ कर चर्च के विस्तृत अधिकार क्षेत्र को केवल धर्म तथा चरित्र से सम्बन्धित कार्यों तक ही सीमित करने का प्रयास किया।"

(३) आर्थिक कारण :

धर्म सुधार आन्दोलन के आर्थिक कारण भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पूँजीवाद के विकास के कारण लोगों की दृष्टि कैथोलिक चर्च की अतुल सम्पत्ति की ओर लगी हुई थी। वे कैथोलिक चर्च की सम्पत्ति को पाने के लिए लालायित थे। चर्च की सम्पत्ति का कुछ अंश प्राप्त होने की आशा मे वे राजाओ द्वारा चर्च की सम्पत्ति पर अधिकार करने में उनका सहयोग भी देने के लिए तत्पर थे। अतः सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्रभावशाली व्यक्तियो ने धार्मिक तथा सामाजिक अशान्ति उत्पन्न की जिसके परिणामस्वरूप धार्मिक विद्रोह का आरम्भ हुआ। यह विद्रोह आधुनिक पूँजीवाद का कारण एवं परिणाम दोनों ही था।

इसके अतिरिक्त आधुनिक युग के प्रारम्भ में चर्च एवं राज्य के मध्य आर्थिक संघर्ष भी आरम्भ हो गया। कैथोलिक चर्च के पास अतुल धन-राशि तथा जागीरें थीं। इसके अतिरिक्त अनेक करों की वसूली से भी चर्च को पर्याप्त धन-राशि प्राप्त होती थी। चर्च सभी ईसाइयों से 'टाइथ' (Tithe) नामक कर वसूल किया करती थी। प्रत्येक देश की आय का एक बड़ा भाग रोम चला जाता था, जहाँ वह धन-राशि धर्म सम्बन्धी कार्यों में खर्च न होकर धर्माधिकारियों द्वारा अपनी शान-शौकत तथा विलासिता में खर्च की जाती थी। राष्ट्रीय भावना के जागरण के कारण लोग इसके पक्ष में न थे कि उनकी राष्ट्रीय आय का एक बहुत बड़ा भाग रोम चला जाय। साथ ही यूरोप के अनेक राज्यों के शासक भी सुदृढ़ राजतन्त्र की स्थापना के लिए राष्ट्रीय साधनों को एकत्रित करने में प्रयत्नशील थे। अतः उनका कैथोलिक चर्च के साथ विरोध स्वाभाविक ही था।

(४) सांस्कृतिक कारण :

सांस्कृतिक पुनरुत्थान के द्वारा लोगो में बौद्धिक जागरण, आलोचनात्मक प्रवृत्ति एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हुआ। पुनर्जागरण काल के मानववादी विद्वानों ने कैथोलिक चर्च के अन्तर्गत फैली हुई बुराइयों पर व्यङ्ग करते हुए लोगों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट किया। उन्होंने ईसाई धर्म के संस्कारों की आलोचना करते हुए एक सहज ईसाई धर्म के विचार का प्रतिपादन किया। चर्च की महत्ता को कम करने के लिए उन्होंने बाइबिल (Bible) की महत्ता पर बल दिया। जिन मानववादी विद्वानों ने चर्च के दोषों की निन्दा की उनमें इरैसमस (Erasmus) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'मूर्खता की प्रशसा' ('Praise of Folly') में चर्च के दोषों की कटु आलोचना करते हुए धर्माधिकारियों की अनैतिकता तथा ईसाइयो के अन्धविश्वासों पर गम्भीर व्यंग किया। उसकी रचना लोगों को चर्च के विरुद्ध आवाज उठाने में बड़ी सहायक हुई। इसके अतिरिक्त उसने बाइबिल का

ग्रीक भाषा में प्रकाशन तथा १५१६ ई० में उसका लैटिन भाषा में रूपान्तर किया। इरैसमस के अतिरिक्त मानववादी विद्वानों में जॉन रियूक्लिन (John Reuchlin), हट्टन (Hutton), टॉमस मोर (Thomas More) तथा जॉन कोलेट (John Colet) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं; जिन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा धर्म-सुधार आन्दोलन की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने का कार्य किया। इतिहासकार फिशर लिखते हैं कि "सोलहवीं शताब्दी का बौद्धिक जागरण यद्यपि प्रोटेस्टेन्ट आन्दोलन से भिन्न था, किन्तु यह इसके (धर्म-सुधार अथवा प्रोटेस्टेन्ट आन्दोलन) अनेक कारणों में एक था। नवीन जागरण ने रोमन चर्च के अनुमोदित विश्वासों, अधिकारों एवं रीति-रिवाजों के प्रति लोगों की परम्परागत श्रद्धा को कम कर दिया। जनता में प्राचीन अनुशासन के प्रति प्रतिक्रिया हुई। चिंतन तथा विद्या पर से प्रतिबन्ध समाप्त हुये। संदेह, आलोचना तथा विरोध की हजारों पृथक् छोटी-छोटी धाराएँ जो पीढ़ी से एकत्र हो रही थीं, अकस्मात मिल कर एक विरोध रूपी नदी की भाँति बहने लगी। यूरोप में एक प्रगतिशील बौद्धिक जागृति का उदय हुआ, जिसने परम्परागत ज्ञान तथा पुराने दोषों अथवा अन्धविश्वासों का परिहास एवं निन्दा करते हुए उन्हें चुनौती दी।"

(५) तात्कालिक कारण :

धर्म सुधार आन्दोलन का तात्कालिक कारण चर्च द्वारा खुले आम 'इन्डलजेन्सेज' (क्षमा-पत्रों) का बेचा जाना था। वास्तव में 'इन्डलजेन्स' (क्षमा-पत्र) प्रदान करने की प्रथा कोई नवीन न थी। इसका उद्देश्य पापी को भविष्य में करने वाले पापों से रोकना था। यदि पापी अपने पापों पर पश्चाताप करता था तथा चर्च को विश्वास हो जाता था तो उसे क्षमा-पत्र प्रदान कर दिया जाता था। जिससे कि वह भविष्य में अच्छे कर्मों के द्वारा नरक के कष्टों से बच सके। किन्तु पोप लियो दशम ने संत पीटर के गिरजाघर के निर्माण हेतु धनराशि एकत्रित करने के उद्देश्य से साम्राज्य में 'इन्डलजेन्सेज' (क्षमा-पत्रों) के विक्रय का आदेश दिया। इनका कोई निश्चित मूल्य निर्धारित न था, वरन् यह खरीदने वाले की सामर्थ्य पर निर्भर करता था। 'क्षमा-पत्रों' के विक्रय के लिए सम्पूर्ण जर्मनी तीन भागों में विभजित किया गया था। जिस प्रदेश में लूथर निवास करते थे वह प्रदेश आर्चबिशप अल्बर्ट को सौंपा गया। उसने वहाँ टेटजेल (Tetzel) नामक अपने एक प्रतिनिधि को 'इन्डलजेन्स' (क्षमा-पत्र) बेचने के लिये भेजा। सन् १५१७ ई० में टेटजेल 'क्षमा-पत्रों' को बेचता हुआ विटेनबर्ग पहुँचा। टेटजेल इन 'क्षमा-पत्रों' को बेचते हुये कहा करता था कि "मैंने 'इन्डलजेंसों' (क्षमा-पत्रों) के द्वारा जितने पापियों को तार दिया उतने पापियों को कभी पीटर स्वयं अपने उपदेशों द्वारा न तार सका होगा।" इसको खरीदने वाला अपने

द्वारा हुये पापों से मुक्त होने के साथ ही साथ भविष्य में सम्भावित पाप के दण्डों से भी मुक्त हो जाता था। टेटजेल कहता था कि "जैसे ही धनपेटिका में मुद्रा गिरने की ध्वनि होती है वैसे ही आत्मा नरक से स्वर्ग को चली जाती है।"

फलस्वरूप, ३१ अक्टूबर, सन् १५१७ ई० को लूथर ने विटेनबर्ग के गिरजाघर के द्वार पर '६५ आक्षेप' लिखकर लगा दिया। उसने इन 'आक्षपों' में 'इन्डलजेन्सेज' (क्षमा-पत्रों) के विक्रय को अवैध बताते हुये पोप की कटु आलोचना की। उसने कहा कि "पोप केवल उन्हीं दण्डों के लिये क्षमा प्रदान कर सकता है जो उसने स्वयं दिये हों अथवा जिनका क्षमा करने के लिए धर्म शास्त्रों में हो और अन्य किसी प्रकार के पाप की क्षमा न तो पोप दे सकता है और न उसे देना चाहिए।" लूथर के यह '६५ आक्षेप' कैथोलिक चर्च के दोषों एवं पोप के असीमित अधिकारों के विरुद्ध विद्रोह था। शीघ्र ही इस विद्रोह की लहर सम्पूर्ण यूरोप से फैल गयी और कैथोलिक चर्च-व्यवस्था में सुधारों की माँग की जाने लगी। इस प्रकार धर्म सुधार आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ जो जर्मनी से एक जल-धारा के रूप में प्रतिस्फुटित हुई और जिसने कल-कल ध्वनि करते हुए शीघ्र ही सम्पूर्ण यूरोप को जलमग्न कर दिया।

जर्मनी में धर्म-सुधार आन्दोलन के कारण :

जर्मनी में धर्म-सुधार आन्दोलन होने के अनेक कारण थे। जिनमे पहला कारण जर्मनी का पश्चिमी यूरोप के अन्य देशों की तुलना में पिछड़ा होना था। क्योंकि जर्मनी पर सांस्कृतिक प्रभाव बहुत कम पड़ने के कारण वहाँ प्राचीन रूढियाँ अब भी काफी सुदृढ़ थीं। अतः इटली, फ्रांस, इंग्लैण्ड आदि देशों की तुलना में जर्मनी में धार्मिक अन्धविश्वास अधिक था। दूसरे अन्य देशों की अपेक्षाकृत जर्मनी में कैथोलिक चर्च का स्वरूप भी दूषित था। फ्रांस तथा इंग्लैण्ड के शासकों ने पोप द्वारा धार्मिक पदों पर नियुक्ति तथा रोम की अदालत में अपीलें भेजने का विरोध किया। किन्तु जर्मनी में कोई शक्तिशाली शासक न था जो अपने देश के हितों की रक्षा करता। यही प्रमुख कारण था जिससे प्रोत्साहित होकर पोप लियो दशम ने 'क्षमा-पत्रों' (इन्डलजेन्सेज) के विक्रय के लिये जर्मनी को उपयुक्त क्षेत्र के रूप में चुना। तीसरे, अन्य देशों की अपेक्षा जर्मनी की राजनीतिक स्थिति भी धर्म-सुधार आन्दोलन के अनुकूल थी। क्योंकि जर्मनी के अनेक राज्यों में बँटे होने के कारण कुछ राज्यों का समर्थन प्राप्त होना स्वांभाविक था, क्योंकि उनके लिये पोप द्वारा वाह्य हस्तक्षेप से मुक्त होने का स्वर्ण अवसर था। चौथे, जर्मनी में धर्म-सुधार आन्दोलन की सफलता में आर्थिक कारण भी बहुत महत्वपूर्ण थे। जर्मनी में चर्च के पास कृषि योग्य भूमि का अधिकांश भाग था, जिससे चर्च को एक बड़ी धनराशि आय के रूप में प्राप्त होती थी। इसके अतिरिक्त धार्मिक करों के द्वारा भी चर्च की आय में वृद्धि होती थी।

इस प्रकार यह अतुल धनराशि रोम पोप के कोष में चली जाती थी। अतः लोगों ने आर्थिक स्वार्थ से प्रभावित होकर राष्ट्रीय आय के बाहर जाने का विरोध किया तथा चर्च की सम्पत्ति को आत्मसात् करने के लिये लालायित हो उठे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने धर्म-सुधार आन्दोलन का समर्थन किया। अन्त में, मार्टिन लूथर का प्रतिभाशाली व्यक्तित्व एवं कुशल नेतृत्व जर्मनी में धर्म-सुधार आन्दोलन की सफलता का कारण सिद्ध हुआ। साथ ही साथ सम्राट चार्ल्स पंचम धर्म-सुधार आन्दोलन के प्रारम्भिक काल में अपने विशाल साम्राज्य की अनेक बाह्य तथा आंतरिक समस्याओं में व्यस्त रहने के कारण अपना पूरा समय इस आन्दोलन के दमन करने में न लगा सका। फलस्वरूप, जर्मनी में धर्म-सुधार आन्दोलन (लूथरवाद) को सफलता प्राप्त हुई।

(क) मार्टिन लूथर (१४८३ ई०—१५४६ ई०)
(Martin Luther)

लूथर का जन्म १० नवम्बर, सन् १४८३ ई० में सैक्सनी के इसलीबेन नामक ग्राम में हुआ था। इनकी माता का नाम मार्गरेट तथा पिता का नाम हैन्स लूथर था। हैन्स लूथर का आरम्भिक व्यवसाय कृषि था जैसा कि लूथर स्वयं कहते हैं कि "मैं एक कृषक का पुत्र हूँ।" किन्तु अपने व्यवसाय में सफलता न मिलने के कारण लूथर का पिता मैन्सफील्ड चला गया, जहाँ उसे दरिद्रता से घोर संघर्ष पड़ा। लूथर अपने पिता की दीन अवस्था का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि "मेरा निर्धन पिता एक खान में कार्य करने वाला था तथा मेरी माता को सब लकड़ी अपनी-पीठ पर ढोकर लाना पड़ती थी।" किन्तु शीघ्र ही लूथर के पिता हैन्स लूथर की उन्नति होती गई और वह 'नगर-सभा' के सदस्य हो गये। हैन्स लूथर के कुल सात संतानें थीं, जिसमें मार्टिन लूथर ज्येष्ठ थे। लूथर के पिता उस पर बहुत कठोर नियन्त्रण रखते तथा तनिक-तनिक दोषों पर उसे दण्डित किया करते थे। इसी प्रकार स्कूल में भी वह अध्यापक द्वारा दण्डित किये जाते थे। मार्टिन लूथर स्वयं लिखते हैं कि "बाल्यकाल के ऐसे कठोर जीवन ने आगे चलकर मुझे साधु बनने में अधिक सहायता प्रदान की।" चौदह वर्ष की आयु में उन्हें मैजबर्ग (Magdeberg) तथा एक वर्ष पश्चात् ईसनैक (Eisenach) के स्कूल में भेजा गया। सन् १५०१ ई० में अट्ठारह वर्ष की आयु में मार्टिन लूथर को (Erfurt) एरफर्ट के विश्वविद्यालय में भेजा गया जो उस समय जर्मनी के सर्वोत्तम विश्वविद्यालयों में था। लूथर के पिता की यह तनिक इच्छा न थी कि उनका पुत्र पादरी बने। लूथर ने सन् १५०५ ई० में एम० ए० की उपाधि ग्रहण की, तत्पश्चात वह अपने पिता की इच्छानुसार कानून के अध्ययन में लग गये। इसी समय लूथर के जीवन में एक ऐसी घटना घटी जिसके पश्चात् लूथर ने संन्यासी होने का निश्चय किया। वह घटना इस प्रकार है। जुलाई, सन् १५०५ ई० में

लूथर मैन्सफील्ड से एरफर्ट लौट रहे थे कि मार्ग में स्टाटरहीम के निकट काले बादल घिर आये. वेग से आँधी एवं वर्षा होने लगी। इसी समय कड़ाके की बिजली चमकी, जिससे वे धराशायी हो गये। ऐसी संकटावस्था में वे भयभीत हो सहसा कह उठे कि "पवित्र एन मेरी सहायता करो! मैं सन्यासी हो जाऊंगा।" इस प्रकार मार्टिन लूथर के प्राण बच गये और वे सकुशल एरफर्ट पहुँच गये। वहाँ पहुँचकर उन्हें अपने संकल्प का स्मरण आया और अन्त में उन्होंने निश्चय किया कि वह इसे पूरा करेंगे। लूथर के मित्र उन्हें आगस्टाइन मठ तक पहुँचाने गये।

लूथर के पिता को जब यह समाचार मिला तो वह बहुत क्रोधित एवं दुखी हुए। किन्तु उन्हें आशा थी कि लूथर मठ से लौट आयेगा। क्योंकि मठ में कठिन परीक्षा एव दरिद्रता में जीवन व्यतीत करना पड़ता था। परन्तु लूथर सफल हुए और अन्त में उन्हें दीक्षा प्रदान की गयी। तत्पश्चात् सन् १५०८ ई० में लूथर को विटेन-बर्ग के विश्वविद्यालय में अध्यापन-कार्य के लिए बुलाया गया। इस विश्वविद्यालय की संस्थापना सैक्सनी (Saxony) के फ्रेडरिक 'बुद्धिमान' ने सन् १५०२ ई० में की थी। इस समय तक लूथर एक पूर्ण कैथोलिकवादी था। उसके हृदय में कैथोलिक चर्च के प्रति पूर्ण भक्ति एवं पोप के प्रति पूर्ण श्रद्धा थी। सन् १५११ ई० में आगस्टाइन मठ के प्रति-निधि के रूप में मार्टिन लूथर को पवित्र नगर रोम जाने का अवसर प्राप्त हुआ। लूथर अपने मठ के एक अन्य प्रतिनिधि के साथ इस तीर्थयात्रा के लिए चल पड़े और मार्ग में कठिन कष्टों को सहन करते हुए यह दोनों मिलान (Milan) नगर पहुँचे। वहाँ के गिरजे में इन्हें प्रार्थना का अधिकार न प्राप्त हुआ। क्योंकि यह अम्ब्रोसियन सम्प्रदाय के न थे। इस प्रकार मिलान पहुँचकर लूथर को यह सर्वप्रथम अनुभव हुआ। अन्त में छः सप्ताह के लगातार परिश्रम के पश्चात् लूथर रोम पहुँचे जहां उसने स्वयं अपनी आँखों से पोप जूलियस द्वितीय को अत्याचार करते देखा। इतना ही नहीं, उसने रोम में पोप से लेकर कार्डिनल तथा बिशपों को पथ-भ्रष्ट पाया। इससे लूथर को बड़ी निराशा हुई। वह रोम एक कर्त्तव्य-परायण कैथोलिक के रूप में गये थे किन्तु १५१२ ई० में जब वह वहाँ से लौटे तो उनके विचारों में परिवर्तन आ गया। अब उन्हें रोम की यात्रा करने अथवा चर्च को धन देने से कोई लाभ नहीं दिखाई देता था। अतः उन्होंने कहा कि यदि मानव को परम् पिता परमेश्वर की दया पर पूर्ण विश्वास है तो वह नरक से बच सकता है। किन्तु अभी तक कैथोलिक चर्च में लूथर की आस्था बनी हुई थी।

सन् १५१२ ई० रोम से लौट कर लूथर विटेनबर्ग के विश्वविद्यालय में धर्म-शास्त्रों की शिक्षा देने लगे तथा सन् १५१७ ई० तक वह परिश्रम के साथ अध्यापन-कार्य करते रहे। किन्तु इसी समय सन् १५१७ ई० में एक ऐसी घटना घटी जिसके

परिणामस्वरूप लूथर कैथोलिक चर्च का विरोधी बन गया। पोप लियो दशम ने सन्त पीटर के गिरजाघर के निर्माण का निश्चय किया। इसके लिए एक विशाल धनराशि की आवश्यकता थी। अतः धनराशि एकत्रित करने के उद्देश्य से पोप ने साम्राज्य में 'क्षमा-पत्रों' के विक्रय की आज्ञा दे दी। वास्तव में 'क्षमा-पत्र' देने की प्रथा प्राचीन थी। इसका उद्देश्य पापी को भविष्य में करने वाले पापों से रोकना था। यदि पापी अपने पापों पर पश्चाताप करता तथा चर्च को विश्वास हो जाता तो उसे 'क्षमा-पत्र' प्रदान किया जाता था जिससे वह निराश न हो और अच्छे कर्मों के द्वारा नरक से बच सके। किन्तु अब यह 'क्षमा-पत्र' धन-राशि एकत्रित करने के लिए बेचे जाने लगे। 'क्षमा-पत्रो' का कोई मूल्य निर्धारित न था वरन् यह खरीदने वाले की सामर्थ्य पर निर्भर करता था। 'क्षमा-पत्रों' के विक्रय के लिए सम्पूर्ण जर्मनी तीन भागों में विभक्त किया गया था। जिस प्रदेश में लूथर निवास करते थे वह भाग मेएंस के आर्चबिशप अल्बर्ट को सौंपा गया। उसने वहाँ टेटजेल नामक अपने प्रतिनिधि को 'क्षमा-पत्र' बेचने के लिए भेजा। टेटजेल क्षमा-पत्रों को बेचता हुआ विटेनबर्ग के निकट पहुँचा। लूथर के पास पहुँचकर लोग कहने लगे कि टेटजेल अपने उपदेशों में कहता है कि "यदि किसी मनुष्य ने ईशु की माता (मरियम) के साथ भी व्यभिचार किया हो तो उसका भी उद्धार इस क्षमा-पत्रों के द्वारा हो सकता है।" टेटजेल कहा करता था कि "जैसे ही मुद्रा गिरने की ध्वनि हुई वैसे ही आत्मा नरक से स्वर्ग को चली जाती है।"

इस सब मनगढ़न्त एवं अन्यायपूर्ण बातों को सुनकर लूथर की अन्तरात्मा बड़ी दुःखी एवं क्रोधित हुई। फलस्वरूप, ३१ अक्तूबर सन् १५१७ ई० को उसने विटेनबर्ग के गिरजाघर के द्वार पर इन क्षमा-पत्रों के विरुद्ध '९५ आक्षेप' लिख कर लगा दिया तथा लोगों को उन विषयों पर शास्त्रार्थ के लिए आमन्त्रित भी किया। यह आक्षेप लैटिन भाषा में लिखे गये थे, किन्तु शीघ्र ही जर्मन भाषा में भी इसका अनुवाद हो जाने से सभी लोगों को इसके विषय में ज्ञात हो गया। लूथर के '९५ आक्षेपों' में कुछ इस प्रकार है। उसने कहा कि "पोप केवल उन्हीं दण्डों के लिए क्षमा प्रदान कर सकता है जो जसने स्ववं दिये हों अथवा जिनको क्षमा करने के लिए धर्मशास्त्रों में हो तथा अन्य किसी प्रकार के पाप की क्षमा न तो पोप दे सकता है और न उसे देना चाहिए।" लूथर अन्य आक्षेपों में कहता है कि "यदि पोप दयावश धन लेकर पापियों को नरक से मुक्ति दिला सकता है तो वह नरक ही का नाश कर सबको नरक-यातना से मुक्ति क्यों नहीं दिला देता।" लूथर ने कहा कि "पोप स्वयं धनवान है। अतः उसे चाहिए कि पीटर का गिरजाघर अपने धन से बनवाये तथा अपने दरिद्र भेड़ों का शोषण न करे।"

यद्यपि लूथर ने अपने इन 'आक्षेपों में यह कहीं नहीं लिखा कि पोप की कोई आज्ञा न माने अथवा पोप के धर्म के अतिरिक्त एक नया धर्म चलाया जाये। उसने केवल 'क्षमा-पत्रों के विक्रय का विरोध किया। किन्तु पोप को लूथर का यह विरोध असह्य था, क्योंकि वह देख रहा था लूथर के विचार एक आन्दोलन का रूप धारण कर रहे थे। अतः उसने लूथर को वाद-विवाद के लिए रोम आमन्त्रित किया। परन्तु लूथर के मित्रों ने उसे रोम जाने से रोका, क्योंकि वे जानते थे कि रोम में लूथर का जीवन असुरक्षित है। इसी समय लूथर को लिपजिग नामक नगर में पोप समर्थक जॉन ईक (John Eck) से शास्त्रार्थ करना पड़ा जो कई दिनों तक चलता रहा। इस वाद-विवाद का परिणाम यह हुआ कि लूथर ने कैथोलिक चर्च से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया।

इसके पश्चात् लूथर ने जनता के समक्ष अपने विचारों को स्पष्ट करने के लिए तीन महत्वपूर्ण निबन्धों की रचना की। अपने प्रथम निबन्ध 'जर्मन राष्ट्र के सामन्तों को एक सम्बोधन' (An Address to the Nobility of German Nation) में उसने घोषित किया कि चर्च अधिकारियों में कोई पवित्रता नहीं है। उसने उनके विशेषाधिकारों का खण्डन करते हुए राजाओं एवं उच्च वर्ग के लोगों से प्रार्थना किया कि वे सर्व साधारण की भाँति उनके साथ भी व्यवहार करें तथा धर्म-सुधार का कार्य अपने हाथों में ले लें। इसके अतिरिक्त उसने बाह्य आधिपत्य से मुक्ति एवं देश में एक राष्ट्रीय चर्च की स्थापना पर बल दिया। अपने दूसरे निबन्ध 'On the Babylonion Captivity of the Church of God' में उसने सप्त संस्कारों (बैपटज्म, कनफरमेशन, होली यूकारिस्ट, पेनान्स, इक्सट्रीम अकशन, आर्डिनेशन तथा मेट्रिमोनी) पर कुठाराघात किया। उसने इन संस्कारों को अनावश्यक बतलाया। लूथर ने यह भी कहा कि 'पश्चाताप आदि के लिए किसी पादरी आदि की आवश्यकता नहीं है। यह (पश्चाताप) हृदय की एक अवस्था है जिसकी पूर्णता तथा अपूर्णता का ज्ञान पापी को प्राप्त हो सकता है अथवा ईश्वर को जिसके समक्ष वह पश्चाताप करता है।' अतः व्यक्ति के धार्मिक कृत्यों में धर्माधिकारियों की उपस्थिति की कोई आवश्यकता नहीं है। लूथर ने अपने तीसरे निबन्ध 'एक ईसाई मनुष्य की स्वतन्त्रता पर' (On the Freedom of a Christian Man) में अपने नवीन सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। उसके अनुसार, तीर्थयात्रा करने, शारीरिक कष्ट उठाने अथवा संस्कारों के पालन से मानव का उद्धार एवं उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह केवल ईश्वर की दया पर ही निर्भर है, जिसके लिए ईश्वर की भक्ति आवश्यक है।

पोप के लिए लूथर के यह नवीन विचार सर्वथा असह्य थे। उसने लूथर के इन विचारों को अधार्मिक घोषित करते हुए १५ जून, सन् १५२० ई० को उसे धर्म से

बहिष्कृत करने का आज्ञापत्र प्रकाशित किया। इसके अनुसार पोप ने आज्ञा दी कि लूथर द्वारा रचित सभी पुस्तकें अग्नि-समर्पित कर दी जायें तथा लूथर को धर्मोपदेश देने से वंचित किया जाये। लूथर के अतिरिक्त उसके पक्षपातियों को यह आदेश दिया गया कि यदि वे दो महीने के भीतर अपनी अधार्मिकता का त्याग नहीं करते तो उन्हें घोर नास्तिक के रूप में कठोर दण्ड दिया जायगा। जॉन ईक लूथर का यह धर्म-बहिष्कार पत्र लेकर जर्मनी गया। पहले तो इस आज्ञा-पत्र के आधार पर लोगों ने लूथर के ग्रन्थों को जलाया। किन्तु लूथर ने अपनी रचनाओं द्वारा यह प्रमाणित किया कि पोप के सम्पूर्ण कार्य पवित्र 'बाइबिल' की आज्ञा के विरुद्ध है। इस प्रकार उसने लोगों को अपने सिद्धान्तों से अत्यधिक प्रभावित किया। जिस प्रकार प्रारम्भ में लूथर की रचनायें जलाई गई थीं उसी प्रकार १० दिसम्बर को विटेनबर्ग के भरे बाजार में सर्वसाधारण के समक्ष लूथर ने पोप के आज्ञा-पत्र तथा उसकी प्रभुता का समर्थन करने वाले अन्य कई ग्रन्थों को अग्नि-समर्पित कर दिया।

पोप ने सम्राट् चार्ल्स पंचम की सहायता से लूथर का दमन करने का निश्चय किया। चार्ल्स पंचम सम्राट मैक्समीलियन की मृत्यु (१२ जनवरी, १५१६ ई०) के पश्चात् जर्मनी का सम्राट निर्वाचित हुआ था। अतः सम्राट चार्ल्स पंचम अपनी शक्ति को सुदृढ़ बनाने के लिए तथा साम्राज्य को एक धर्म-सूत्र में बाँध कर रखने के लिए पोप की सहायता प्राप्त करना चाहता था। चार्ल्स पंचम ने सन् १५२१ ई० में जर्मनी के वर्म्स (Worms) नामक नगर में एक धर्म-सभा का आयोजन किया तथा लूथर को भी उसके विचारों के स्पष्टीकरण के लिए आमन्त्रित किया गया। सम्राट ने उसे प्राणसुरक्षा का आश्वासन भी भेजा। यद्यपि मार्टिन लूथर को उसके हितैषियों ने वर्म्स जाने से रोका, किन्तु निर्भीक लूथर सभा में पहुँचा। लूथर वाद-विवाद में अन्त तक अपने विचारों पर अडिग रहा। परिणामस्वरूप सम्राट चार्ल्स पंचम ने लूथर को अधार्मिक घोषित कर उसे राज-रक्षा एवं कानून की शरण से वंचित कर दिया। इस प्रकार लूथर का जीवन खतरे में था; किन्तु सैक्सनी के फ्रेडरिक ने उसे वर्टबर्ग के दुर्ग में गुप्त रूप से शरण प्रदान की। इस दुर्ग में रह कर उसने जर्मन भाषा में बाईबिल का अनुवाद किया। अन्त में ६ मार्च, सन् १५२२ ई० को वह विटेनबर्ग में सर्वसाधारण के समक्ष उपस्थित हुआ।

किसानों का विद्रोह :

जर्मनी के किसानों की बड़ी दयनीय दशा थी। वे अनेक करों के भार से पीड़ित थे तथा सामन्तों एवं पुरोहितों द्वारा उनका शोषण हो रहा था। अतः लूथर के विचारों से प्रेरित होकर सन् १५२४ ई० में किसानों ने शोषण एवं

अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाई और उन्होंने कई माँगे रखीं। जिसके अन्तर्गत उन्होंने दासवृत्ति एवं मनमानी दण्ड-विधि की समाप्ति, बेगार का अन्त, काम के लिए पूर्ण वेतन, मछली पकड़ने तथा शिकार खेलने की सुविधाओं की माँग की। वास्तव में किसानों की यह माँगे न्याय-संगत थीं और इसी कारण लूथर को प्रारम्भ में इनके साथ सहानुभूति भी थी। किसानों को भी लूथर से सहायता की पूर्ण आशा थी। किन्तु सन् १५२४ ई० में जब किसानों के इस विद्रोह ने समस्त मध्य एवं दक्षिणी जर्मनी में भयंकर रूप धारण कर लिया तो लूथर इससे बहुत चिंतित हुये। क्योंकि उसे यह आशंका थी कि कहीं जर्मनी में अराजकता न फैल जाय जिससे उसके धर्म-सुधार आन्दोलन की सफलता में बाधा उत्पन्न हो। अतः उसने किसानों की सहायता न कर जर्मनी के उच्च वर्ग का पक्ष लिया। इस प्रकार सामन्तों ने किसानों के इस विद्रोह का निर्दयतापूर्वक दमन कर दिया। इसमें लगभग ५० हजार किसानो की हत्या हुई। यद्यपि किसानों का विद्रोह असफल रहा। किन्तु लूथर के आन्दोलन पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। लूथर की लोकप्रियता पहले की अपेक्षा कम हो गई और किसान उसके विरोधी हो गये। अब वह मध्यम वर्ग की सहायता पर आश्रित हो गया। इसके अतिरिक्त इस विद्रोह के परिणामस्वरूप लूथरवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया का भी प्रारम्भ हुआ। क्यों अनेक लोगों का यह विचार था कि लूथर ने ही किसानो को विद्रोह के लिए प्रोत्साहित किया था और अन्त में उनके विरुद्ध उच्च वर्ग का साथ दिया। अतः जो लोग अभी यह विचार कर रहे थे कि वे नये धर्म को स्वीकार करें अथवा न करें, उन्होंने लूथर के इस कार्य से रुष्ट एवं असन्तुष्ट होकर कैथोलिक धर्म का अनुयायी ही बने रहने का निश्चय किया।

प्रोटेस्टेन्ट नामकरण :

सन् १५२६ ई० में पवित्र रोमन साम्राज्य की 'डायट' (Diet) की सभा स्पीयर (Speyer) में हुई। इससे जर्मनी के राजकुमारों के लूथरवादी तथा कैथोलिक-वादी गुटों में बँट जाने के कारण अन्त में यह निर्णय किया गया कि राजा अपने राज्य में जो धर्म चाहे राज्य-धर्म घोषित कर सकता है। दूसरे शब्दो मे इस प्रकार कह सकते हैं कि राज्य-धर्म निश्चित करने का अधिकार राजाओं को ही प्रदान कर दिया गया। क्योंकि वह ही ईश्वर तथा सम्राट के समक्ष उत्तर देने के लिये उत्तरदायी था। इस प्रकार इस सभा के द्वारा राज्य का धर्म निर्धारित करने का अधिकार राजाओं पर छोड़ दिया गया। किन्तु इस निर्णय के कुछ समय पश्चात सम्राट चार्ल्स पंचम तथा पोप में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो गये। अब दोनों ने मिलकर लूथरवादियों के दमन करने तथा उनसे धार्मिक करों को वसूल करने का निश्चय किया। सन् १५२९ ई० में स्पीयर में ही 'डायट' की दूसरी सभा हुई। इसमें लूथरवादियों से वे सभी सुविधायें

वापस ले ली गयीं जो उन्हें १५२६ ई० की सभा द्वारा प्रदान की गई थीं। वर्म्स की राजाज्ञा को पुनः लागू करने का निश्चय किया गया। अतः जर्मनी के लूथरवादी राजकुमारों तथा चौदह नगरों ने स्पीयर की दूसरी सभा के इस निर्णय का विरोध किया। सुधारवादियों के इसी विरोध (Protest) के आधार पर उन्हें 'प्रोटेस्टेन्ट' (Protestant) के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा तथा उनका नवीन धर्म 'प्रोटेस्टेन्टवाद' (Protestantism) के नाम से विख्यात हुआ।

इसके एक वर्ष पश्चात् १५३० ई० में लूथर के मित्र फिलिप मेलांकथन के सिद्धान्तों के आधार पर प्रोटेस्टेन्टवाद का सैद्धान्तिक रूप निश्चित किया गया। इतना ही नहीं प्रोटेस्टेन्टों ने कैथोलिक धर्म के विरुद्ध अपने धर्म के रक्षार्थ 'श्माल-काल्डेन' (League of Schmalkalden) नामक एक संघ का गठन किया। इस संघ के सदस्यों में सैक्सनी, हीज तथा ब्रेन्डेनबर्ग के ड्यूक प्रमुख थे। इस प्रकार प्रोटेस्टेन्टवादियों का यह संघ सम्राट चार्ल्स पंचम के लिये एक चुनौती थी। किन्तु वह वाह्य युद्धों में व्यस्त रहने के कारण इस संघ की ओर कोई विशेष ध्यान देने में असमर्थ था। क्योंकि उसने एक ही समय में वाह्य एवं आन्तरिक समस्याओं में उलझना उचित न समझा और इसीलिये उसने संघ से कुछ समय के लिये सन्धि कर ली। यह विराम सन्धि लगभग १५ वर्षों (अर्थात सन् १५४६ ई०) तक चली। बाह्य समस्याओं से छुटकारा पाने के पश्चात् चार्ल्स पंचम ने प्रोटेस्टेन्टों के समूल दमन का निश्चय किया। सन् १५४६ ई० के प्रारम्भ में लूथर की भी मृत्यु हो चुकी थी तथा जर्मनी के प्रोटेस्टेन्ट राज्यों में एकता का अभाव था। कुछ राजकुमार युद्ध छिड़ने से पूर्व ही सम्राट से जा मिले। सैक्सनी के ड्यूक मॉरिस ने चार्ल्स पंचम का साथ दिया, क्योंकि वह अपने चचेरे भाई जॉन फ्रेडरिक से ईर्ष्या करता था जो कि वहाँ का शासक था तथा मॉरिस को यह भी आशा थी कि सम्राट उसके निर्वाचक बनने में उसकी सहायता करेगा। संक्षेप में चार्ल्स पंचम की प्रोटेस्टेन्ट विरोधी नीति के परिणामस्वरूप जर्मनी में सन् १५४६ ई० में गृह-युद्ध छिड़ गया जो सन् १५५५ ई० तक चलता रहा। इसे 'श्मालकाल्डेन के युद्ध' की संज्ञा दी गई।

युद्ध की प्रमुख घटनाएँ :

सन् १५४७ ई० में एल्ब नदी के तट पर स्थित मुलबर्ग (Muhlberg) नामक नगर के पास एक भीषण युद्ध हुआ। इस युद्ध में सम्राट चार्ल्स पंचम तथा उसके कुशल सेनापति 'ड्यूक ऑव अलवा' ने भाग लिया। इसमें सैक्सनी का फ्रेडरिक तथा हीज का फिलिप दोनों पराजित हुये तथा सम्राट द्वारा बन्दी बना लिये गये। प्रोटेस्टेन्टों की इस पराजय से ऐसा लगता था कि उनका आन्दोलन सदा के लिये समाप्त हो जायगा, किन्तु यह आशंका निर्मूल सिद्ध हुई। क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय

परिस्थितियों में परिवर्तनों के कारण चार्ल्स पंचम को उस ओर ध्यान देना आवश्यक हो गया। तुर्क पुनः अपनी शक्ति के विस्तार में प्रयत्नशील थे। मॉरिस जो पहले चार्ल्स पंचम से मिल गया था वह अब अपने भाई सैक्सनी के ड्यूक से पुनः जा मिला। ऐसी परिस्थिति में चार्ल्स पंचम ने १५४८ ई० में प्रोटेस्टेन्टों के साथ मुलबर्ग की सभा में अन्तरिम समझौते की घोषणा की। इस समझौते के अनुसार प्रोटेस्टेन्टों को अनेक सुविधायें प्रदान की गयीं। दोनों प्रोटेस्टेन्ट कैदी रिहा कर दिये गए। जिन पादरियों ने विवाह कर लिया था उन्हें वैवाहिक जीवन त्यागने के लिए बाध्य नहीं किया गया। इसके अतिरिक्त प्रोटेस्टेन्टों को अपने ढंग से पूजा करने की छूट दी गयी। यद्यपि चार्ल्स पंचम द्वारा प्रदान की गई यह सुविधायें सहिष्णुतापूर्ण थी, किन्तु जर्मनी के प्रोटेस्टेन्ट इससे सन्तुष्ट न थे।

जर्मनी के प्रोटेस्टेन्ट राजकुमारों ने इस असन्तोष के कारण अपना संघर्ष जारी रखा। सन् १५५२ ई० में सैक्सनी के मॉरिस ने विद्रोह प्रारम्भ कर दिया। फ्रांस का राजा हेनरी द्वितीय स्पेन तथा आस्ट्रिया के विरुद्ध जर्मनी के प्रोटेस्टेन्ट राजकुमारों की सहायता करने लगा। हेनरी द्वितीय इस सहायता के बदले में मेत्ज, तूल तथा वर्दून की आशा लगाये हुये था। इस प्रकार अब जर्मनी से चार्ल्स पंचम का प्रभाव लगभग जाता रहा किन्तु सन् १५५३ ई० में मॉरिस की मृत्यु हो जाने से चार्ल्स पंचम एक बार पुनः उत्साहित हुआ। उसने फ्रांस से अपनी पराजय का बदला लेने के लिए मेत्ज का घेरा डाल दिया। किन्तु चार्ल्स को अपने इस अन्तिम प्रयास में सफलता नहीं मिली तथा वह बहुत निराश हुआ। अतः उसने इस धार्मिक समस्या के समाधान का कार्य अपने भाई फर्डिनेण्ड को सौंप दिया। परिणामस्वरूप सन् १५५५ ई० में आग्सबर्ग (Augsberg) में एक सभा बुलायी गयी, जिसमें सम्राट् तथा प्रोटेस्टेन्टों के मध्य सन्धि हुई। यह सन्धि 'आग्सबर्ग की सन्धि' (Peace of Augsberg) के नाम से विख्यात है।

आग्सबर्ग की संधि :

जर्मनी में दीर्घकाल से चल रहे धार्मिक युद्ध को समाप्त करने के लिए सन् १५५५ ई० में आग्सबर्ग में एक सभा बुलाई गयी, जहाँ सम्राट् तथा प्रोटेस्टेन्टों के मध्य एक सन्धि हुई। यह सन्धि स्थान के नाम के आधार पर 'आग्सबर्ग की सन्धि' के नाम से प्रसिद्ध है। इस सन्धि की प्रमुख धारायें निम्नलिखित थी—

(अ) प्रत्येक राजा को यह स्वतन्त्रता प्रदान की गयी कि वह अपना धर्म चुनकर उसे अपने राज्य का धर्म घोषित करे। इस प्रकार सन्धि की इस धारा के अनुसार राजाओं को यह अधिकार प्रदान किया गया कि वे अपने व्यक्तिगत धर्म को

अपनी जनता द्वारा स्वीकार करने तथा उसका पालन करने के लिए बाध्य कर सकेंगे। लैटिन भाषा में इसे 'Cujus regio ejus religio' अर्थात् 'जैसा राजा वैसा धर्म' कहा जाता है।

(ब) सम्पत्ति के सम्बन्ध में यह निश्चित किया गया कि सन १५५२ ई० के पूर्व कैथोलिक चर्च की जो सम्पत्ति प्रोटेस्टेन्टों के हाथ में चली गयी है वह उन्हीं के पास रहने दी जाय तथा उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन न किया जाय। किन्तु सन १५५२ ई० के पश्चात जिन लोगों ने धर्म परिवर्तन किया हो उन्हें कैथोलिक चर्च की सम्पत्ति पर अपना अधिकार छोड़ने के लिये बाध्य किया जाय। इसे 'धार्मिक संरक्षण' (Ecclesiastical Reservation) की व्यवस्था कहते हैं।

(स) इस सन्धि के अनुसार लूथरवाद को मान्यता प्रदान की गयी किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य किसी सम्प्रदाय को मान्यता न दी गई।

(द) इसमें यह भी निश्चित हुआ कि कैथोलिक राज्यों में रहने वाले लूथर-वादियों को धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य नहीं किया जायेगा।

आग्सबर्ग की सन्धि पर यदि हम एक आलोचनात्मक दृष्टि डालें तो ज्ञात होगा कि इस सन्धि में अनेक दोष निहित थे। प्रथम तो यह कि इस सन्धि के द्वारा राजाओं को अपने राज्य का राज्य-धर्म निश्चित करने का अधिकार प्रदान किया गया। किन्तु राज्य में रहने वाली जनता को धर्म के सम्बन्ध में कोई व्यक्तिगत स्वतन्त्रता न प्राप्त हुई। इस प्रकार इस सन्धि में धार्मिक सहिष्णुता तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को कोई महत्व न दिया गया। राजा को यह स्वतन्त्रता प्रदान की गयी कि वह अपनी इच्छा अनुसार जिस धर्म को चाहे राज्य-धर्म घोषित करे। अतः राज्य-धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्म के मतावलम्बियों को अन्यत्र चले जाना पड़ा। इस सन्धि का दूसरा प्रधान दोष यह था कि इसमें केवल लूथरवाद को ही मान्यता प्रदान की गयी।

मार्टिन लूथर के सिद्धान्त :

(१) मार्टिन लूथर ने चर्च की संस्कार पद्धति की आलोचना करते हुए केवल जन्म, प्रायश्चित एवं पवित्र यूकारिस्ट (Eucharist) के संस्कारों को ही आवश्यक बताया।

(२) उसने पूजा-विधि में भी परिवर्तन करने का प्रयास किया। उस समय 'तत्वान्तरण' (Transubstantiation) विधि प्रचलित थी। जिसमें रोटी पर शराब छिड़की जाती थी और ऐसा समझा जाता था कि धर्माचार्यों की विशेष शक्ति के कारण यह रोटी और शराब ईसा मसीह के रक्त और मांस में परिवर्तित हो जाता है।

लूथर ने इसका विरोध किया तथा एक दूसरे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसे 'द्वितत्ववाद' (Consubstantiation) का नाम दिया गया। इसके अनुसार रोटी और शराब ईसा मसीह के रक्त और मांस में परिवर्तित नहीं होती वरन् उसमें एक अन्य तत्व मिश्रित हो जाता है। ईसा मसीह ने बाइबिल में कहा है 'यह मेरा शरीर है' (This is my body)। लूथर ने कहा कि यह शब्दिक रूप से सत्य है चाहे यह तर्क के विरुद्ध हो। उसने कहा कि इस संस्कार विधि में धर्म-गुरुओं की शक्ति का कोई प्रभाव नहीं होता।

(३) लूथर ने मोक्ष प्राप्ति के विषय में यह कहा कि 'सत्कर्म' (Good works) द्वारा नहीं अपितु ईश्वर में पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रख कर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। सत्कर्म केवल इस ओर बढने की सीढ़ी मात्र है। ईश्वर पर श्रद्धा रख कर ही कोई व्यक्ति वास्तविक ईसाई-जीवन व्यतीत कर सकता है।

(४) ईश्वर ने उन ईसाइयों को जिन्हें अपने कार्यों के लिए सच्चा पश्चाताप होता है। पहले हो क्षमा-दान दे देता है तथा उन्हें उन 'क्षमा-पत्रों' (Indulgences) को खरीदने की आवश्यकता नहीं है जो उन्हें लौकिक दण्डों से मुक्त कर सकते हैं। इस प्रकार उसने पोप और चर्च संगठन का विरोध किया और यह कहा कि पोप को कोई विशेषाधिकार नहीं प्राप्त हैं।

(५) लूथर ने यह भी कहा कि धर्म-गुरु भी विवाह कर गृहस्थ जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

(६) उसने व्रत, तीर्थयात्रा और सन्तों की पूजा को अनावश्यक बताया।

(७) मार्टिन लूथर ने केवल चर्च संगठन में ही सुधार की मांग को सामने रखा। उसने कहा कि वह कैथोलिक धर्म को विनष्ट न कर केवल दुर्गुणों को दूर करना चाहता है।

(८) मार्टिन लूथर ने कहा कि यह संसार भी ईश्वर का उतना ही है जितना कि स्वर्ग। इसलिए दैनिक कार्यों को करते हुए भी मनुष्य द्वारा आध्यामिक चिन्तन किया जा सकता है।

(९) लूथर ने सेवा-धर्म को भी एक आवश्यक सिद्धान्त बताया। उसने कहा कि ईश्वर की कृपा पर विश्वास करते हुए अपने पड़ोसियों की सेवा करने से मोक्ष मिल सकता है।

(१०) उसने 'भाग्यवाद' (Predestination) पर अधिक बल दिया।

(११) उसने धर्म-शास्त्र की सत्ता को सर्वोच्च घोषित किया।

(१२) इसके अतिरिक्त उसने राष्ट्रीय-चर्च की स्थापना पर अधिक ब दिया।

(१३) अन्त में लूथर ने पूजा-पाठ की विधियों की भाषा में भी परिवर्तन किया। पूजा-पाठ की भाषा लैटिन के स्थान पर अब जर्मन कर दी गयी।

इस प्रकार लूथर के इन सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मार्टिन लूथर ने मुख्यत: चर्च के भ्रष्टाचार और अनाचार को दूर करने और बाइबिल की प्रमाणिकता को स्थापित करने के लिए ही उपयुक्त सिद्धान्तों की व्याख्या की तथा क्षमा-पत्रों की बिक्री का विरोध आरम्भ किया।

लूथरवाद का प्रसार :

लूथरवाद यद्यपि सम्पूर्ण जर्मनी में फैलने में असमर्थ रहा किन्तु डेनमार्क, नार्वे और स्वीडेन में इसका काफी प्रसार हुआ। डेनमार्क और नार्वे में इस समय फ्रेडरिक प्रथम (१५२३-१५३३ ई०) का शासन था। स्वीडेन में गस्टवस वासा (Gustavas Vasa, १५२३-१५६० ई०) का शासन था।

फ्रेडरिक प्रथम राज्य की शक्ति बढ़ाना चाहता था जिसके लिए लूथरवाद उसे विशेष सहायक प्रतीत हुआ। परन्तु प्रजा की कैथोलिक धर्म में श्रद्धा होने के कारण उसने लूथरवाद का प्रचार धीरे-धीरे करने का फैसला किया। सन् १५२७ ई० से उसने प्रोटेस्टेण्ट और कैथोलिक दोनों धर्मों को एक समान घोषित कर दिया। फ्रेडरिक प्रथम के पश्चात् क्रिश्चियन तृतीय (Christian III) डेनमार्क का शासक हुआ। वह लूथर का अनुयायी था और सन् १५३७ ई० में उसने प्रोटेस्टेण्ट धर्म को राज्य-धर्म घोषित कर दिया। किसानों ने इसका विरोध किया लेकिन शासक की शक्ति बहुत अधिक बढ़ जाने के कारण वे सफल न हो सके।

स्वीडेन में भी धर्म परिवर्तन का कारण राजनीतिक था। सन् १५२३ ई० में गस्टवस वासा (Gustavas Vasa) के प्रयत्नों से स्वीडेन डेनमार्क की आधीनता से मुक्त हुआ था। परन्तु वहाँ का एक वर्ग जिसका प्रधान उपसला (Upsala) का आर्चबिशप था, डेनमार्क के साथ रहना चाहता था। यह वर्ग गस्टवस का विरोधी था। अत: शासक ने पहले पोप से प्रार्थना की कि इस आर्चबिशप को हटा दिया जाय। परन्तु पोप ने यह प्रार्थना अस्वीकृत कर दी जिस पर गस्टवस पोप से रुष्ट हो गया। सन् १५२७ ई० में उसने कैथलिकों की सम्पत्ति छीन ली और लूथरवाद का प्रसार आरम्भ किया। ततपश्चात् सन् १५३१ ई० में एक प्रोटेस्टेण्ट को उपसला का आर्चबिशप नियुक्त किया गया। फलस्वरूप सन् १६०४ ई० में कैथोलिकों को देश निकाला दे दिया गया।

(ख) उलरिक ज्विग्ली (सन् १४८४-१५३२ ई०)
(Ulrich Zwingli)

जिस समय लूथर के मत का प्रचार जर्मनी और अन्य देशों में हो रहा था,

स्विटजरलैण्ड में धर्म प्रचार का यह कार्य लूथर के सम समायिक उलरिक ज्विग्ली द्वारा किया गया। जिसने लूथर के विचारों को और आगे बढ़ाने में सहयोग दिया।

ज्विग्ली का जन्म १ जनवरी सन् १४८४ ई० को स्विटजरलैण्ड के विल्डहॉस (Wildhaus) नामक स्थान पर हुआ था। एक कुलीन वंश में जन्म लेने के कारण उसकी शिक्षा-दीक्षा उचित ढंग से हुई और बाल (Basel) विश्वविद्यालय से सन् १५०६ ई० में उसने एम० ए० की उपाधि ली। उसकी धर्मशास्त्र के अध्ययन में रुचि और विशद अध्ययन करने के कारण सन् १५०६ ई० में उसे पोप के द्वारा पादरी नियुक्त किया गया। पन्द्रह वर्षों तक वह अपने इस पद पर कार्य करता रहा। धार्मिक व्यक्ति और अधिकारी होने के कारण ज्विग्ली को धर्म में प्रचलित भ्रष्टाचार और दुराचार का पूरा ज्ञान था और वह इन दुर्गणों में सुधार करना चाहता था।

सन् १५१६ ई० में वह इंसीडेन (Einsideln) और १५१८ ई० में ज्यूरिख (Zurich) गया। ज्यूरिख में चर्च के उपदेशक के रूप में कार्य करते हुए ही उसने पोप की सत्ता का विरोध करना आरम्भ किया। इस विरोध का आरम्भ मुख्यत: राजनीतिक और धार्मिक कारणों से हुआ।

पहला यह कि स्विटजरलैण्ड उस समय १३ प्रान्तों में विभक्त था जिन्हें कैण्टन (Canton) कहा जाता था और जो आन्तरिक रूप में पूर्णतया स्वतन्त्र थे। केवल वाह्य आक्रमण से सुरक्षा के लिए वे एक नाम-मात्र की सन्धि से निबद्ध थे। सभी कैन्टनों में जनतन्त्रात्मक प्रणाली थी और केवल कहने के लिए वे पोप के अधीन थे। इसके साथ ही स्विटजरलैण्ड के नागरिक और शासक अवसर पड़ने पर विदेशी शासकों की सेना में कार्य करते और सहायता किया करते थे। इसके बदले में विदेशी शासक उन्हें कुछ धन दिया करते थे। इस व्यापार में पोप विदेशी शासकों की सहायता किया करता था और प्राप्त होने वाले धन में एक भाग ले लिया करता था। ज्विग्ली ने इसे चर्च की शक्ति का दुरुपयोग बताया और इसका विरोध किया। ज्विग्ली के विरोध का दूसरा आधार धार्मिक था। उसने कहा कि ईसाई धर्म का मूलाधार पवित्र पुस्तक बाइबिल है। धर्म एवं नैतिकता सम्बन्धी विषयों में केवल बाइबिल ही दिशा-निर्देश कर सकती है। इस प्रकार उसने पोप की शक्ति और सत्ता पर खुला प्रहार किया। उसने यह भी कहा कि व्रत उपवास, सन्तों की पूजा एवं चर्च के अधिकारियों के लिए अविवाहित रहने का नियम आदि सब व्यर्थ है।

ज्विग्ली ने इस मत का प्रचार स्विटरलैण्ड में आरम्भ किया। इससे चिंतत होकर सन् १५२३ ई० में पोप ने ज्यूरिख, जहाँ पर ज्विग्ली नियुक्त था,

की जनता से यह कहा कि वे उसे वहाँ से निकाल दें। परन्तु ज्यूरिख की जनता ने इस आदेश की प्रतिक्रिया स्वरूप पोप से मुक्ति की घोषणा कर दी और कैथोलिक धर्म से स्वतन्त्र हो गये। धीरे-धीरे आठ अन्य कैन्टन भी ज्विग्ली के समर्थक हो गये और उन्होंने कैथोलिक धर्म से अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। केवल वे ही पाँच कैन्टन पोप समर्थक रह गये जो देश के आन्तरिक भागों में बसे हुए थे जिन्हें 'फारेस्ट कैन्टन' कहा जाता था।

सन् १५२१ ई० में ज्विग्ली ने इस फारेस्ट कैन्टन के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया और गृह-युद्ध आरम्भ हो गया। इस युद्ध के दौरान सन् १५३१ ई० में ज्विग्ली के समर्थकों की पराजय हुई और ज्विग्ली की मृत्यु हो गयी सन् १५३१ ई० में ही एक समझौते द्वारा युद्ध समाप्ति की घोषणा की गयी और यह समझौता 'कैपेल का समझौता' (Peace of Kappel) कहा जाता है। जिसके अनुसार प्रत्येक कैन्टन को धर्म-निर्धारण की स्वतन्त्रता दी गयी। फलस्वरूप आज भी स्विटजरलैण्ड में प्रोटेस्टेन्ट और कैथोलिक दोनों ही मत समान रूप से प्रचलित हैं।

ज्विग्ली के सिद्धान्त :

सन् १५२३ ई० में लिखे अपने ६७ निबन्धों (67 Thesis) में ज्विग्ली ने अपने सिद्धान्तों को व्यक्त किया—

(१) ज्विग्ली के मतानुसार बाइबिल ही धर्म का मूलाधार और उसकी सत्ता ही सर्वोच्च है।

(२) उसने धर्म के आधार चर्च संगठन पर कुठाराघात करते हुए उसके साथ ही राजनीतिक परिवेश अर्थात् प्रशासन मे भी सुधार करना चाहा और इसके लिए एक ऐसे आदर्श राज्य की कल्पना की जिसमें राजनीतिक एवं धार्मिक सभी कार्य प्रजातान्त्रिक भावना से सम्पन्न हों।

(३) ज्विग्ली ने अपने सिद्धान्तों में यह भी कहा कि 'अन्तिम भोज' कोई चमत्कारिक नहीं अपितु एक सांकेतिक घटना मात्र है।

इस प्रकार ज्विग्ली के उपर्युक्त सिद्धान्त लूथर के मत के विपरीत दिखाई पड़ने हैं।

लूथर और ज्विग्ली के सिद्धान्तों में अन्तर :

ज्विग्ली पर यद्यपि लूथर का बहुत अधिक प्रभाव था परन्तु उसके सिद्धान्तों को उसने यथावत नहीं स्वीकार किया।

(क) अपने '६७ निबन्धों' में उसने लूथर द्वारा प्रतिपादित 'द्वितत्ववाद' (Consubstantiation) सिद्धान्त का विरोध किया। उसने कहा कि 'अन्तिम भोज'

में शराब और रोटी में ईसा मसीह का रक्त और मांस वर्तमान नहीं है। इसमें कोई वास्तविकता नहीं वरन् यह केवल सांकेतिक आख्यान मात्र है।

(ब) ज्विंग्ली ने बाइबिल को सर्वोच्च मानते हुए उसे धर्म का मूलाधार माना है जबकि लूथर ने बाइबिल के महत्व को तो स्थापित किया परन्तु उसे सर्वोच्च नहीं माना है।

(ग) जहाँ लूथर केवल धर्म सुधारक था वहीं जिंवग्ली धर्म के साथ ही राजनीतिक सुधार का भी इच्छुक था। उसका विश्वास था कि एक आदर्श समाज के संगठन के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य की धार्मिक एवं सामाजिक गतिविधियाँ लोकतान्त्रिक रूप में निर्देशित हों अर्थात् वह धर्म और राजनीति दोनों ही क्षेत्र में लोकतन्त्र का समर्थक था। वह जनता पर बहुत अधिक विश्वास रहता था।

सन् १५३६ ई० में हेस के शासक ने लूथर और ज्विंग्ली में समझौता कराना चाहा परन्तु सैद्धान्तिक अन्तर के कारण सफल न हो सका।

(ग) जॉन कैल्विन (सन् १५०६-१५६४ ई०)
(John Calvin)

धर्म-सुधार युग का तीसरा प्रमुख विचारक फ्रांस निवासी जॉन कैल्विन था जिसने १५३१ ई० में ज्विंग्ली के मृत्यु के पश्चात् स्विटजरलैण्ड में उसके द्वारा छोड़े गये अधूरे कार्य और लूथर के सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित किया, प्रोटेस्टेन्ट मत को एक नया रूप दिया और कैल्विनवाद के नाम से अपने सिद्धान्तों का यूरोपीय देशों में प्रसार करने में सफल रहा।

जॉन कैल्विन का जन्म सन् १५०६ ई० मे फ्रांस के पिकर्डी प्रदेश में स्थित नोयोन (Noyon) नामक स्थान पर एक मध्यम वर्गीय परिवार में हुआ था। जीवन में उस पर लूथर की शिक्षाओं का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा और प्रोटेस्टेण्ट मत की ओर उसका रुझान हो गया।

इधर दूसरी ओर फ्रांस में लूथर के बढ़ते हुए प्रभाव से चिन्तित हो कर वहाँ के शासक ने, जो कट्टर कैथोलिक था, दमन करना प्रारम्भ किया। फ्रांस के निवासी जो धर्म सुधार के इच्छुक थे उन पर इस दमन चक्र का विपरीत प्रभाव पड़ा। वहाँ से भाग कर कैल्विन बाल (Basel) पहुँचा और वहाँ शरण ली वहाँ ज्विंग्ली के आदर्शों से उसका परिचय हुआ और वहीं रहते हुए उसने अपनी पुस्तक "ईसाई धर्म की मूल शिक्षाओं" (The Institutes of Christian Religion) की रचना की, जिसका प्रकाशन १५३६ ई० में हुआ। इसमें प्रोटेस्टेन्ट मत के सिद्धान्तों की व्याख्या की गयी थी। इस पुस्तक को फ्रांस के शासक फ्रांसिस I को समर्पित किया गया परन्तु उसके विचारों में कोई परिवर्तन न हो सका।

इस पुस्तक को बहुत अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई। कैल्विन ने इसमें अपने सिद्धान्तों की स्पष्ट व्याख्या की और इस पर लूथर और ज्विग्ली का प्रभाव भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। उसने प्रोटेस्टेण्ट धर्म के सिद्धान्तों को एक समन्वित एवं संक्षिप्त रूप में इस पुस्तक में प्रस्तुत किया और कुछ समय तक साधारण जनता के लिए यह पुस्तक धार्मिक-निर्देशिका बन गयी जो रोम के विरुद्ध विद्रोह कर बैठे थे। Riker के शब्दों में—"The Insitutes of Christian Religion was exposition of what Protestantism stood for, based to some extent on the views of Luther and other reformers but protested with exceptional clarity and logic on the premises he chose."

सन् १५३६ ई० में ही कैल्विन बाल से जिनेवा (Geneva) चला गया जो उस समय धार्मिक एवं राजनीतिक विद्रोह का केन्द्र बना हुआ था। यह कलह धार्मिक प्रश्न पर आरम्भ हुआ था। जनता के द्वारा बिशप को पदच्युत कर दिया गया था और सेवाय के ड्यूक ने कैथोलिक धर्म की रक्षा के लिए बिशप की सहायता की। इसी समय कैल्विन ने वहाँ पहुँच कर जनता की सहायता की और विद्रोह का नेतृत्व ग्रहण कर लिया। १५४१ ई० तक जिनेवा का शासन पूरी तरह से उनके हाथों में आ गया और अपनी मृत्यु के समय (१५६४ ई०) तक केवल एक छोटे से अंतराल को जोड़ वह वहाँ निरंकुश शासन करता रहा।

कैल्विन के नेतृत्व में जिनेवा में एक ऐसे धर्म-प्रभावित शासन (Theocracy) का जन्म हुआ और एक ऐसे चर्च का प्रादुर्भाव हुआ जो कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट दोनों से ही भिन्न था। उसका चर्च लोकतांत्रिक व्यवस्था पर आधारित था। उसने चर्च के संचालन के लिए एक (Board of Pastors) की नियुक्ति की जिसमें प्रत्येक सदस्य को समान अधिकार प्राप्त थे। इस प्रकार जिनेवा में धर्म गुरुओं का राज्य हो गया और शासन सम्बन्धी नियम भी धर्म के अधिकारी बनाने लगे। यहाँ तक कि व्यक्तिगत जीवन में भी शासन ने हस्तक्षेप प्रारम्भ कर दिया और हर प्रकार के अमोद-प्रमोद पर रोक लगा दी गयी। ताश खेलना, जुआ खेलना, नाटक का प्रदर्शन करना, स्त्रियों के सौन्दर्य का गुणगान करना और रविवार के दिन कार्य करने आदि की मनाही कर दी गयी। किसी भी नियम का विरोध करने पर कड़े-से-कड़े दण्ड की व्यवस्था थी और कभी-कभी छोटे से अपराध के लिए प्राणदंड तक दे दिया जाता था। यथा जिनेवा में एक कवि को केवल इसलिए दंडित किया गया था कि उसने शृंगार रस की कवितायें लिखी थीं।

इस प्रकार कैल्विन के शासन काल में जिनेवा इस नये 'प्यूरिटन' धर्म का मूलकेन्द्र और प्रोटेस्टेण्ट धर्म प्रचारकों का गढ़ बन गया। अपने इन कठोर नियमों के लिए कभी-कभी कैल्विन को 'प्रोटेस्टेण्ट पोप' भी कहा जाता है।

कैल्विन ने केवल उपदेश ही नहीं दिये अपितु सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए अनेक निबन्धों की रचना की एवं बाइबिल का फ्रांसीसी अनुवाद प्रस्तुत किया।

प्रोटेस्टेन्ट धर्म की शिक्षा देने के लिए १५५६ ई० में कैल्विन ने जिनेवा में अनेक विद्यालय एवं विश्वविद्यालय की स्थापना की।

इस प्रकार १५६४ ई० में कैल्विन की मृत्यु के समय तक उसके सिद्धान्तों का काफी प्रसार हो चुका था।

कैल्विन के सिद्धान्तों के पूर्व उसके विचारों की विशेषताएँ जानना भी आवश्यक हो जाता है।

कैल्विन के सिद्धान्त :

(१) कैल्विन के मतानुसार विश्व पूरी तरह से ईश्वर की इच्छा पर आधारित है और उसने अपने यश एवं गौरव की वृद्धि के लिए सृष्टि की रचना की है।

(२) इस संसार में सभी व्यक्ति पापी हैं और व्यक्ति सिर से पैर तक पाप में डूबा हुआ है।

(३) ईश्वर की यह इच्छा है कि कुछ व्यक्तियों को मोक्ष की प्राप्ति हो एवं कुछ को नरक की यातनाएँ प्राप्त हों। इसलिए अपनी इच्छा से वह कुछ व्यक्तियों को मोक्ष प्राप्ति के लिए चुन लेता है और अन्य सभी व्यक्ति नरक में जाते हैं।

(४) प्रत्येक व्यक्ति का जन्म एक निश्चित भाग्य के साथ होता है और उसे (भाग्य को) बदलना सम्भव नहीं है। इस प्रकार कैल्विन ने भाग्यवाद के सिद्धान्त (Theory of predestination) को स्वीकार किया।

(५) परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि व्यक्ति को अपने आचरण के प्रति लापरवाह हो जाना चाहिए। उसे सदैव नैतिकतापूर्ण और आदर्शपूर्ण आचरण करना चाहिए।

(६) कैल्विन का यह भी मत था कि जिस व्यक्ति को ईश्वर मोक्ष प्राप्ति के लिए चुन लेगा उसके हृदय में अच्छे विचार होंगे। व्यक्ति के अच्छे नैतिक आचरण का अर्थ है कि उसे ईश्वर द्वारा मोक्ष प्राप्ति के लिए चुन लिया गया है। ऐसे व्यक्ति जिन्हें ईश्वर मोक्ष प्राप्ति के लिए चुन लेता है वे सदैव दूसरों के उत्थान के लिए प्रेरित रहते हैं।

(७) अन्त में कैल्विन का यह भी कथन था कि किसी भी व्यक्ति को हाथ पर हाथ रख कर नहीं बैठना चाहिए। उसे अपने को सुधारने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

कैल्विन और लूथर के सिद्धान्तों में अन्तर :

(१) मार्टिन लूथर ने बाइबिल के आधार पर आत्मा के अनुसार चलने का निर्देश माना था जबकि इसके विपरीत जॉन काल्विन ने इस बात पर बल दिया कि आत्मा के अनुसार नहीं बल्कि बाइबिल में दिये हुए ईश्वर द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार चलना चाहिए। इस प्रकार कैल्विन का सिद्धान्त लूथर के मत से कहीं अधिक तर्क पर आधारित था। कैल्विन ने यह भी कहा कि धर्म शास्त्रों का अक्षरशः पालन करना चाहिए। दूसरे शब्दों में कैल्विन ने ईश्वर के यश एवं गौरव की वृद्धि के सिद्धान्त को स्वीकार किया जब लूथर के सारे सिद्धान्त 'ईश्वरीय प्रेम' (Love of God) पर आधारित थे।

(२) कैल्विन के सिद्धान्त बाइबिल के पुराने संस्करण (Old Testament) पर आधारित थे जो लूथर के सिद्धान्तों के विपरीत थे। लूथर ने बहुत से ऐसे धार्मिक नियमों को प्रोटेस्टेन्ट चर्च में स्वीकार किया जो प्रत्यक्षतः धार्मिक ग्रन्थों द्वारा निषिद्ध नहीं थे परन्तु कैल्विन इस प्रकार के किसी भी नियम को मान्यता देने को तैयार नहीं था। उदाहरण के लिए रविवार के सिद्धान्त को ले सकते हैं। लूथर ने इस बात पर अधिक जोर नहीं दिया कि रविवार के दिन कोई आमोद-प्रमोद के कार्य न हों और साधारण कार्य भी न हों। परन्तु कैल्विन ने रविवार को अवकाश मानने की प्राचीन प्रथा का पुनर्आरम्भ किया।

(३) लूथर ने कहीं-कहीं पूँजीवाद की आलोचना करते हुए कुलीन व जमींदार वर्ग के साथ सहानुभूति रखी जबकि कैल्विन ने व्यापारी वर्ग को विशेष महत्व दिया। कैल्विन ने व्यापारियों के विशेष गुण—मेहनती होना, मितव्ययी होना आदि को ऊँची और नैतिक मान्यता प्रदान की।

(४) इनमें अन्तिम अन्तर यह था कैल्विन के मत लूथर के मत की अपेक्षा अधिक क्रान्तिकारी थे। यथा लूथर ने पोप और संस्था को पुनर्जीवित रखना चाहा था जबकि कैल्विन इसके विरुद्ध था। लूथर ने कैथोलिक पूजा-पाठ की कुछ विधियों को बनाये रखा था परन्तु कैल्विन ने इन्हें मानने से इन्कार कर दिया।

इसके साथ ही कैथोलिक मत के अनुसार चर्च पर केवल धर्म-गुरु का ही अधिकार था जबकि इसके विपरीत कैल्विन ने चर्च संगठन में धर्म-गुरुओं के साथ जनता के प्रतिनिधियों को भी अवसर दिया। जनता के इन प्रतिनिधियों को 'प्रेस्बीटर्स' (Presbvters) कहा गया। चर्च के शासन को चलाने के लिए एक समिति बनायी गयी जिसमें ६ धर्माधिकारी और १२ प्रेस्बीटर्स (Presbyters) होते थे। इसलिए भी कैल्विन द्वारा प्रतिपादित चर्च 'प्रेस्बिटेरियन चर्च' (Presbyterian Church) कहलाया।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि काल्विन के मत लूथर की अपेक्षा अधिक सरल और ग्राह्य थे इसलिए उनका बड़ी तेजी के साथ प्रसार हुआ।

कैल्विनवाद (Calvinism) **का प्रसार :**

कैल्विन के मत का बहुत अधिक प्रसार हुआ। इसके मत के अलग-अलग देशों में अलग-अलग नाम थे। इंग्लैण्ड में 'यह प्रेस्बिटेरियनिज्म' (Presbyterianism) के नाम से जाना जाता है। फ्रांस में कैल्विन के सर्मथक 'ह्यूगनों' (Huguenots) कहलाए। अन्य देशों में इसे 'परिवर्धित धर्म' (Reformed faith) के नाम से पुकारा गया।

कैल्विन के मत का प्रभाव स्विटजरलैण्ड में ही सर्व प्रथम दिखायी पड़ता है। इस प्रकार यह ज्विग्ली का धार्मिक उत्तराधिकारी था। केवल पाँच (Forest Cantons) को छोड़ कर बाकी सब इसके समर्थक थे।

फ्रांस में छोटे परन्तु प्रभावशाली वर्ग को कैल्विन के सिद्धान्तों ने प्रभावित किया। व्यापारी वर्ग, शिक्षित वर्ग और वकील वर्ग उसका समर्थक हो गया। लेकिन यह चेतना केवल मध्यम वर्ग तक सीमित रही और इस मध्यम वर्ग ने भी राजनीतिक कारणों से कैल्विनवाद का समर्थन किया था। वह शासन की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए प्रयत्नशील था। इन ह्यूगनों (Huguenots) ने फ्रांस को गृह-युद्ध में एक शताब्दी तक उलझाये रखा और सन् १५९८ ई० में इन्हे धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई।

नीदरलैण्डस में भी कैल्विनवाद का प्रसार दिखायी देता है। नीदरलैण्ड्स के उत्तरी प्रान्त में कैल्विनवाद का प्रसार 'डच परिवर्धित धर्म' (Dutch Reformed faith) के रूप में हुआ।

जर्मनी में भी मध्यम-वर्ग द्वारा कैल्विनवाद को प्रश्रय मिला। परन्तु वहाँ इसकी गति आग्सबर्ग की सन्धि के कारण धीमी थी क्योंकि सन्धि में केवल कैथोलिक और लूथर के मतो को ही मान्यता दी गयी थी। हंगरी और पोलैण्ड में इसका प्रसार बहुत तेजी से कुलीन और मध्यम वर्ग के बीच हुआ।

स्कॉटलैण्ड पर भी कैल्विन का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। कैल्विनवाद का यह प्रसार मुख्यतः राजनीतिक कारण से हुआ था। १५४२ ई० में शासक जेम्स पंचम की मृत्यु के पश्चात् उसकी अल्पवयस्क पुत्री मेरी स्टुअर्ट (Mary Stuart) सिंहासन पर बैठी। कुलीन व जमींदार वर्ग ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। कैथोलिकों ने मेरी स्टुअर्ट और कैल्विनवादियों ने कुलीनों का साथ दिया।

स्कॉटलैण्ड में कैल्विनवाद का प्रसार मुख्य रूप से जॉन नाक्स (John Knox, १५१५-१५७२ ई०) द्वारा हुआ। इसने अपने समर्थकों का एक संगठन (Lords of

(Congregation) बनाया जिसका मुख्य उद्देश्य धार्मिक प्रचार और राजनीतिक सत्ता हथियाना था। सन् १५६० ई० में इस संगठन ने इंग्लैण्ड की रानी एलिजाबेथ की सहायता से एक क्रान्ति का आरम्भ किया। मेरी स्टुअर्ट को बन्दी बना लिया गया और कैथोलिक धर्म को समाप्त घोषित कर दिया गया। उनके लिये मृत्यु दण्ड की घोषणा की गयी और इस प्रकार वहाँ कैथोलिकवाद को विनष्ट कर दिया गया।

इस प्रकार यूरोप के लगभग सभी देशों में कैल्विनवाद का प्रसार दिखायी देता है।

(य) आंग्लचर्च
(Church of England)

इंग्लैण्ड में धर्म सुधार का आरम्भ मार्टिन लूथर के समकालीन शासक हेनरी अष्टम (Henry VIII) के समय में हुआ परन्तु यह आन्दोलन एक दिन मे नहीं अपितु क्रमशः धीरे-धीरे हुआ था और १५२० ई० में आरम्भ हो कर १५७० ई० तक चलता रहा। इंग्लैण्ड के इस सुधारे हुए चर्च को ही आंग्लचर्च अथवा आंग्लवाद (Anglieanism, कहते है।

इंग्लैण्ड में धर्म प्रचार के कारण मूलतः राजनीतिक और व्यक्तिगत कहे जा सकते हैं—

राजनीतिक कारण :

(१) राजनीतिक क्षेत्र में सबसे पहला कारण शासक की उस इच्छा को बताया जा सकता है जिसके अन्तर्गत वह राजनीतिक अध्यक्ष होने के साथ-साथ धार्मिक अध्यक्ष भी होना चाहता था। इंग्लैण्ड कैथोलिक मत के प्रभाव में था और पोप धार्मिक क्षेत्र में सर्वोच्च था।

(२) इसके साथ ही दूसरा कारण कैम्ब्रिज और ऑक्सफोर्ड के बुद्धिजीवियों का लूथरवाद के प्रति सन् १५२१ ई० तक आकृष्ट होना था।

(३) इसी के अन्तर्गत एक अन्य कारण चर्च के अन्तर्गत भ्रष्टाचार और दूषित वातावरण था। इंग्लैण्ड के समाज सुधारकों विशेषकर कोलेट (Colet) और टॉमस मोर (Thomas More) ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई।

(४) अन्तिम राजनीतिक कारण राष्ट्रीयता की भावना थी जो इंग्लैण्ड में वर्तमान थी और वहाँ शासक की शक्ति काफी बढ़ी हुई थी।

व्यक्तिगत कारण :

हेनरी अष्टम कैथोलिक मतावलम्बी था और पोप के द्वारा उसे 'धर्म-रक्षक' (Defender of faith) की उपाधि दी गयी थी। परन्तु यह एक आश्चर्यजनक सत्य है कि धर्म का यह रक्षक कुछ व्यक्तिगत कारणों से धर्म का भक्षक बन गया। वह

अपनी रानी कैथरीन को तलाक देकर एक अन्य युवती एनी बोलेन (Anne Boleyn) से विवाह करना चाहता था। तलाक देने के पीछे मुख्य कारण रानी कैथरीन का निःसन्तान होना और उत्तराधिकारी की समस्या थी। इसके साथ ही साथ हेनरी एनी बोलेन से प्रेम भी करता था। परन्तु कानून की दृष्टि से एक पत्नी के रहते हुए दूसरा विवाह नहीं किया जा सकता था और तलाक की स्वीकृति पोप के द्वारा ही दी जा सकती थी। अतएव हेनरी ने तत्कालीन पोप क्लीमेण्ट सप्तम (Clement VII) से तलाक की अनुमति चाही।

पोप के सामने भी एक कठिनाई उपस्थित हो गयी थी। इंग्लैण्ड की रानी कैथरीन पवित्र रोमन सम्राट और स्पेन के शासक चार्ल्स पंचम की मौसी थी और अगर उसे तलाक मिल जाता तो उससे चार्ल्स पंचम की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचता था। फलतः पोप बड़ी कठिनाई में फँस गया। वह दोनों में से किसी भी नाराज नहीं करना चाहता था। अतः तलाक के प्रश्न का निर्णय करने में उसने बहुत देरी लगायी।

इससे हेनरी पोप से क्रुद्ध हो गया और १५६१ ई० में उसने विरोध आरम्भ कर दिया और पोप से सारे सम्बन्ध तोड़ लिये। सबसे पहले उसने इंग्लैण्ड के कैथोलिकों पर कठोर अर्थ-दण्ड लगाया। इसके पश्चात् उसने अपने को चर्च का प्रधान घोषित कर दिया। पोप को इंग्लैण्ड से जो धन भेजा जाता था उस पर भी उसने रोक लगा दी। अपने समर्थक क्रैन्मर (Granmer) को उसने कैण्टरबरी का आर्क बिशप नियुक्त कर दिया और उसकी अनुमति से कैथरीन को तलाक दे कर एनी बोलेन से विवाह कर लिया।

सन् १५३४ ई० में 'ऐक्ट ऑव सुप्रिमेसी' (Act of Supremacy) के पारित होने के बाद भी हेनरी ने कैथोलिक धर्म के संस्कारों और विधि विधान को बनाये रखा। सन् १५३९ ई० में 'छः धारा वाले सिद्धान्त' ('Six Articles') बनाये जिनमें कैथोलिक मान्यताओं को बनाये रखा गया।

इस मध्यम मार्गी नीति के कारण देश में रक्तपात भी बहुत हुआ। कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट दोनों ही धर्मावलम्बियों को दण्ड दिये गये थे। परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से इससे कैथोलिक धर्म को समाप्त होने में ही मदद मिली। क्योंकि हेनरी अष्टम ने इंग्लैण्ड में मठों का अन्त किया। उनकी जमीन के कुछ भाग शासक ने अपने पास रख लिया तथा बाकी जमीन कुलीन वर्ग एवं व्यापरी वर्ग के हाथ बेच दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि कुलीन व व्यापारी वर्ग अब कैथोलिक मत का पक्ष ग्रहण नहीं कर सकता था क्योंकि उसका अर्थ होता उन मठों की पुर्नस्थापना जिनका कि स्वयं उन्होंने अन्त किया था।

सन् १५४७ ई० में हेनरी अष्टम के बाद एडवर्ड षष्ठम (Edward VI, १५४७-१५५३) गद्दी पर बैठा और उसने प्रोटेस्टेएट धर्म का प्रचार किया। सन् १५५३ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी और मेरी ट्यूडर (Mary Tudor, १५५३-५८) शासक बनी। स्पेन की रानी होने के कारण उसने कैथोलिक मत की पुर्नस्थापना करनी चाही। इसके लिए प्रोटेस्टेएट धर्मावलम्बियों पर अत्याचार आरम्भ किये गये। क्रेन्मर, रिडले और लैटिमर प्रभृति प्रोटेस्टेएट धर्म-गुरुओं और प्रचारकों को दन्ड दिये गये। परन्तु इसके बावजूद भी मेरी ट्यूडर अपने प्रयत्नों में सफल न हो सकी।

सन् १५५८ ई० में रानी एलिजाबेथ (Queen Elizabeth) गद्दी पर बैठी और उसने सन् १६०३ ई० तक शासन किया। इसके काल में कैथोलिक मत का इंग्लैण्ड से पूर्णतः विनाश हुआ। एक ऐक्ट के द्वारा इंग्लैण्ड के चर्च को 'आंग्लचर्च' (Anglican) का नाम दिया गया और इस चर्च की मान्यताएँ ३९ धाराओं में व्यक्त की गयीं। फिर भी इंग्लैण्ड में कुछ कैथोलिक मतावलम्बी बच गये और उनको इस बात की छूट दे दी गयी कि वे राज्य को कुछ अर्थ-दण्ड देकर अपना पूजा-पाठ कर सकते थे। इसी प्रकार कैल्विन के कुछ अनुयायी भी बच रहे।

इस प्रकार कैथोलिकों, प्रोटेस्टेन्ट का यह संघर्ष अनेकों वर्षों तक चलता रहा। यह झगड़ा पूर्णरूप से हल न हो सका परन्तु यह व्यवस्था स्थायी सिद्ध हुई और इंग्लैण्ड धार्मिक मामलों से मुक्त होकर आर्थिक उन्नति की ओर ध्यान दे सका। आज भी इंग्लैण्ड का शासक धर्म-निरपेक्ष नहीं है क्योंकि वह शासक होने के साथ-साथ आंग्ल-चर्च का प्रधान और धर्म का संरक्षक भी है।

प्रतिक्रिया-धर्म सुधार अथवा कैथोलिक आन्दोलन

(Counter Reformation or Catholic Movement)

१६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध (१५६० ई० तक) में प्रोटेस्टेन्ट मत का प्रसार जर्मनी, स्कैंडिनेविया, स्कॉटलैण्ड, इंगलैण्ड, स्विटजरलैण्ड, पोलैण्ड, हंगरी, नीदरलैण्ड्स, फ्रांस, स्पेन, इटली आदि देशों में हो चुका था। कैथोलिक चर्च के समक्ष यह समस्या थी कि खोयी हुई प्रतिष्ठा एवं महत्व को किस प्रकार स्थापित किया जाय। अतः कैथोलिक चर्च के महत्व को पुनः स्थापित करने और प्रोटेस्टेन्टवाद के प्रसार पर रोक लगाने के हेतु कैथलिकों ने चर्च के शुद्धीकरण का जो प्रयास किया उसे 'कैथोलिक धर्म-सुधार आन्दोलन' अथवा 'प्रतिक्रिया-धर्मसुधार आन्दोलन' कहा जाता है।

इस आन्दोलन के मुख्यतः तीन उद्देश्य थे—पहला चर्च के अन्दर फैले हुए दोषों को दूर करना; दूसरे, कैथोलिक चर्च के इस शुद्धीकरण के पश्चात् कैथो-

लिकों में एक नवीन जागृति एवं आध्यात्मिक जीवन का सचार करना; और तीसरे, उन प्रदेशों में कैथोलिक चर्च को पुनः स्थापित करना था जहाँ प्रोटेस्टेन्ट चर्चों की स्थापना हो गयी थी।

ऐसे तो १४वीं तथा १५वीं शताब्दी में ही कैथोलिक चर्च के पदाधिकारियों का ध्यान इन सुधारों की ओर गया था और वे 'पोप तथा सदस्यों में सुधार' चाहते थे। परन्तु चर्च की आर्थिक हानि और सत्ता अपहरण के भय से उन्होंने इस मांग को आगे नहीं बढ़ाया। कैथोलिक चर्च मे सुधार का कार्य सर्वप्रथम पोप पाल तृतीय (सन् १५३४-१५४० ई०) के समय में प्रारम्भ हुआ। इसने चर्च के अन्तर्गत कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया तथा योग्य व्यक्तियों को चर्च के पदों पर नियुक्त करने की नीति अपनायी। इससे पूर्व इन पदों पर नियुक्ति धन एवं कुल के आधार पर होती थी। पोप पाल तृतीय की नीति का पालन आगे आने वाले पोपों ने भी किया। जिनमें पोप पाल चतुर्थ (१५५५-५९ ई०), पोप पायस पंचम (१५५६-७२ ई०) और पोप सिक्सटस पंचम (१५८५-९० ई०) के नाम विशेष हैं।

इस आन्दोलन को सफल बनाने में उपर्युक्त पोपों के कार्यों के अतिरिक्त निम्नलिखित संस्थाओं ने भी महत्वपूर्ण योग दिया—

(क) **ट्रेण्ट की सभा** (Council of Trent) :

सम्राट चार्ल्स पंचम की यह इच्छा थी कि धार्मिक मतभेदों को दूर करने के लिए चर्च की एक विशाल सभा बुलाई जाय। किन्तु अनेक पोपों ने चार्ल्स पंचम के इस विचार का विरोध किया। क्योंकि वे इसे अपने पोपशाही पर आघात समझते थे। इस कारण प्रारम्भ में यह सभा न बुलायी जा सकी। सन् १५४२ ई० में आस्ट्रिया के ट्रेन्ट नामक नगर में सभा का अधिवेशन बुलाया गया। किन्तु कुछ कारणों से सन् १५४५ ई० तक इस सभा की बैठक न हो सकी। १३ दिम्बर सन् १५४५ ई० को इस सभा की प्रथम बैठक हुई और १५६३ ई० में अन्तिम बैठक हुई। प्रोटेस्टेन्टों को इसमें आमन्त्रित किया गया तथा वाद-विवाद में भाग लेने का अधिकार भी दिया गया। किन्तु सभा के निर्णयों के सम्बन्ध उन्हें मताधिकार न दिया गया। ऐसी अवस्था में सभा में उनका निमन्त्रण निरर्थक था।

ट्रेन्ट की सभा ने प्रोटेस्टेन्टों के साथ किसी प्रकार के समझौते को रद्द कर दिया। इस सभा में लूथर के सिद्धान्तों की कटु आलोचना की गयी और केवल कैथोलिक धर्म के सिद्धान्तों को ही तर्क संगत एवं माननीय बताया गया। बाइबिल को धर्म का आधार मानते हुए सभा ने विश्वास प्रकट किया कि उसकी व्याख्या का अधिकार केवल पोप को है और केवल बाइबिल का लेटिन संस्करण ही प्रमाणिक है। बाइबिल की व्याख्या का अधिकार पोप को दिया गया। सप्त संस्कारों को पुनः

प्रतिष्ठित किया गया। सन्तों की पूजा फिर से आरम्भ की गयी। पोप को ईसामसीह का दूत मानते हुए सर्वोच्च माना गया। क्षमा-पत्रों का दुरुपयोग बन्द कर दिया गया।

इसके अतिरिक्त 'ट्रेण्ट' की सभा चर्च संगठन एवं अनुशासन के सम्बन्ध में भी अनेक निर्णय लिए। चर्च के अन्तर्गत पदों का विक्रय बन्द कर दिया गया और यह व्यवस्था की गयी कि एक व्यक्ति केवल एक पद पर ही नियुक्त हो सकता है। बिशप एवं अन्य पदाधिकारियों को आज्ञा दी गयी कि वे अपने कार्य-क्षेत्र में रहे तथा सासारिक जीवन की ओर ध्यान न देकर आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करें। धर्माधिकारियों की शिक्षा एवं प्रशिक्षण के लिए विशेष विद्यालयों की स्थापना की गयी। यह भी आज्ञा दी गयी थी कि चर्च के अधिकारी 'क्षमा-पत्रों' को बेचना बन्द करें तथा वे किसी संस्कार को सम्पन्न कराने में किसी भी रूप में धन न ग्रहण करें इसके साथ ही साथ यह भी निर्णय लिया गया कि पोप 'निषिद्ध ग्रंथों की सूची' तैयार करे जिसका अध्ययन कैथोलिकों के लिए निषिद्ध घोषित किया जायगा।

इस प्रकार 'ट्रेण्ट की सभा' अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सफल हुई। सर्व प्रथम इसने कैथोलिक चर्च के सिद्धान्तो को पूर्णतया स्पष्ट किया तथा कैथोलिकों के मध्य जो अनेक मतभेद थे उनका अन्त कर दिया। दूसरे, इस सभा के निर्णय के द्वारा चर्च संगठन काफी सुदृढ़ हुआ और कैथोलिकों में एकता स्थापित हुई। अन्त में, इस सभा ने चर्च में एक ऐसी सुधार-योजना का निर्माण किया जिसके फलस्वरूप उन सभी दुर्गुणों को दूर किया गया, जिन्होंने प्रोटेस्टेण्ट धर्म सुधार को बल दिया था।

(ख) निषिद्ध ग्रन्थ-सूची (Index) :

ट्रेण्ट की सभा के निर्णय के अनुसार पोप से अनुरोध किया गया था कि वह धर्म-विरोधी पुस्तकों की सूची तैयार करे। अतः पोप ने निषिद्ध ग्रन्थ-सूची तैयार की तथा उसमें उल्लिखित पुस्तकों का पढ़ना कैथोलिकों के लिए निषिद्ध कर दिया गया। उसके अतिरिक्त उपदेश पुस्तकों का संशोधन किया गया और धार्मिक शिक्षा के लिए नवीन प्रश्नोत्तरी तैयार की गयी। इस प्रकार 'निषिद्ध ग्रंथों की सूची' के द्वारा प्रोटेस्टेन्टवादी विचारों की प्रगति को रोकने का प्रयास किया गया।

(ग) जेसुइट संघ (The Society of Jesus) :

कैथोलिक धर्म की प्रति स्थापना में जिन संगठनों एवं संस्थाओं ने सहयोग दिया उनमें जेसुइट संघ का सर्वोच्च स्थान है। उस संघ की स्थापना स्पेन के निवासी इग्नेशियस लॉयोला (Ignatius Loyola, सन् १४९१ ई०-१५५६ ई०) ने की थी। प्रारम्भ में वह एक स्पेनी सैनिक था किन्तु सन् १५२१ ई० में फ्रांस के विरुद्ध युद्ध में घायल हो जाने के कारण वह सैनिक सेवा के लिए अयोग्य हो गया। ततपश्चात् उसने

अपना शेष जीवन कैथोलिक चर्च की सेवा में व्यतीत करने का निश्चय किया। अब उसने ईश्वर का सैनिक बनाने के उद्देश्य से धर्मशास्त्रों का पठन-पाठन प्रारम्भ किया। सन् १५३४ ई० म वह धर्म शास्त्र के अध्ययन के लिए पेरिस गया और वहीं अपने छः सहयोगियो के साथ 'जेसुइट संघ' (The Society of Jesus) नामक एक सघ की स्थापना का। सन् १५४० ई० में पोप पाल तृतीय ने इस संघ को मान्यता प्रदान की। लॉयोला को सर्व सम्मति से इस संघ का 'जनरल' चुन लिया गया। इस सघ का उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति के लिए सांसारिक माया-मोह में हस्तक्षेप करना था।

इस संघ का संगठन सैनिक पद्धति पर होने के कारण अनुशासन बहुत कठोर था। जेसुइट लोगों को कुछ विशेषाधिकार प्राप्त थे जिनके कारण वे कैथोलिक चर्च के अग्रिम रक्षक बन गये। वे परिस्थितियों के अनुसार कार्य करने के लिये अपने प्रारम्भिक कानूनों में परिवर्तन कर सकते थे, वे जनता को सम्बोधित कर सकते थे तथा उन्हें मुक्ति प्रदान करने के विशेष अधिकार प्राप्त थे। वे करों से मुक्त थे। वे कैथोलिक विश्व-विद्यालयों में पढ़ा सकते थे तथा राजाओं की प्रजा के समान उनके अधीन नहीं थे। प्रत्येक सदस्य को चार प्रतिज्ञाएँ करनी पड़ती थीं पहला निर्धनता में रहने की; दूसरे, ब्रह्मचर्य जीवन की; तीसरे, आज्ञा पालन करने की तथा चौथे, पोप के प्रति स्वामिभक्ति की। इसके प्रत्येक सदस्य को संघ के अधिकारियों के आदेश को बिना तर्क के पालन करना पड़ता था। सदस्यों को अपनी राष्ट्रीयता का ध्यान किये बिना चर्च की सेवा करनी पड़ती थी। जेसुइटों ने विश्व को प्रभावित करने के लिए शिक्षा एवं दीक्षा को प्रधान साधन के रूप में स्वीकार किया। इस उद्देश्य से अनेक स्कूल खोले गये जहाँ निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की गयी।

यह इस संघ के प्रयासों का फल था कि फ्रांस, जर्मनी एवं पोलैण्ड आदि देशों में प्रोटेस्टेन्टवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को रोका जा सका। बवेरिया तथा नीदरलैण्ड्स में कैथोलिक धर्म की रक्षा की गयी। इस संघ के लोगों ने यूरोप के अतिरिक्त अमेरिका, भारत, चीन, जापान तथा अफ्रीका में भी कैथोलिक धर्म के प्रचार का कार्य किया। जेसुइट संघ के सदस्य हर तरह से पोप की सेवा में तत्पर रहते थे। इस संघ के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि "यूरोप में यह एक ऐसी तलवार थी जिसकी मुठिया पोप के हाथ में थी तथा जिसकी नोक कहीं भी प्रहार कर सकती थी।"

(ग) धार्मिक न्यायालय (Inquisition) :

कैथोलिकों के नैतिकता के साथ-साथ धार्मिक-आचरण को भी ऊँचा उठाने का प्रयास किया गया। निर्धारित स्तर से नीचे मानदण्ड पर आचरण करने वालों के

लिए धार्मिक न्यायालयों (Inquisition) की स्थापना की गयी। धार्मिक न्यायालयों के द्वारा नास्तिकता का दमन करना कोई नयी बात न थी। मध्य-युग में भी धार्मिक न्यायालयों को प्रयोग में लाया गया था। स्पेन में इन्हीं न्यायालयों के द्वारा मूरों का दमन किया गया था। अतः स्पेनी धार्मिक न्यायालयों की सफलता को देख कर पोप ने भी धार्मिक न्यायालयों के द्वारा नास्तिकता का अन्त करने का निश्चय किया। सर्व प्रथम इटली और तत्पश्चात अन्य देशों में इसकी स्थापना की गयी। इसकी स्थापना के लिए उस राज्य से स्वीकृति लेनी पड़ती थी। चर्च की आलोचना करने वालों को इन न्यायालयों में प्रस्तुत किया जाता और उन पर मुकदमा चलाया जाता था। यह न्यायालय किसी व्यक्ति को बन्दी बनाये जाने, उनकी सम्पत्ति को जब्त करने तथा उसे मृत्यु-दण्ड तक देने का अधिकार रखता था। इन न्यायालयों के निर्णयों के सम्बन्ध में अन्तिम अपील सुनने का अधिकार केवल पोप को ही था। किन्तु आगे चल कर इन धार्मिक न्यायालयों को धार्मिक उद्देश्यों के अतिरिक्त राजनीतिक लाभ के लिए भी प्रयोग में लाया गया। स्पेन के शासकों ने इसे निरंकुशता के अस्त्र के रूप में प्रयोग किया। इन धार्मिक न्यायालयों के अत्याचार के कारण नीदरलैण्ड्स के निवासियों में असन्तोष फैला जिसके फलस्वरूप वहाँ विद्रोह हो गया।

———

अध्याय ४

आधुनिक युग के आरम्भ में प्रमुख राज्य

(IMPORTANT STATES AT THE BEGINNING OF MODERN AGE)

आधुनिक विश्व का राजनीतिक इतिहास मुख्यत: राष्ट्रीय राज्यों के अभ्युदय और विकास का इतिहास है जो प्राचीन नगर-राज्यों और पूर्व-मध्ययुग के रोमन कैथेलिक चर्च और पवित्र रोमन साम्राज्य के अवशेषों पर विकसित हुये। मध्ययुग के इन राज्यों ने अपना मुख्य उद्देश्य सार्वभौमता (Universality) और राष्ट्रीयता की भावना का विकास करना था परन्तु केन्द्रीय शासन-सत्ता की अनुपस्थिति, समाज के विभिन्न वर्गों में विभाजन तथा राष्ट्रीय भावना के अभाव के कारण उपरोक्त लक्ष्य पूरे नहीं हो सके। इसका प्रतिफल सामन्तवाद के विकास के रूप में सामने आये जिसने उत्तर-मध्ययुग में अपनी शक्ति बहुत अधिक बढ़ा ली थी। १३वीं शताब्दी तक ऐसी ही परिस्थिति रही जब कि कतिपय नई प्रवृत्तियों यथा तर्कवाद (Logic), मानववाद (Humanism), व्यक्तिवाद (Individualism) प्राचीन साहित्य एवं संस्कृति के प्रति अभिरुचि (Classicism) एवं राष्ट्रीय भावना (Nationalism) आदि के उद्भव के कारण सामन्तवाद का पतन प्रारम्भ हो गया। इसके साथ ही एक ओर तो इन नवीन प्रवृत्तियों के अभ्युदय ने रोमन कैथोलिक चर्च के महत्व को कम करने में सहायता प्रदान की और दूसरी ओर यत्र-तत्र सर्वत्र बिखरे हुए छोटे-छोटे राज्य बड़ी इकाइयों अथवा राज्यों में परिवर्तित हो गये। इन नवीन राष्ट्रीय राज्यों के विकास में नवीन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त मध्यवर्ग के उत्थान एवं बारूद (Gun-powder) के आविष्कार ने भी बहुत सहायता प्रदान की।

अत: इन विशेषताओं के कारण १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक आधुनिक राज्य प्रणाली का विकास हो चुका था। सन् १५०० ई० के लगभग विश्व के प्रमुख राज्य यूरोप में स्पेन, फ्रांस, इंग्लैण्ड, इटली तथा जर्मनी और एशिया में भारतवर्ष, चीन और जापान आदि थे। यूरोप में एक ओर तो स्पेन, फ्रांस और इंग्लैण्ड में राजनीतिक एकता, राष्ट्रीयता तथा राज्यवादी भावनाओं की प्रगति हो रही थी और दूसरी ओर इटली तथा जर्मनी प्रभृति राज्य राजनीतिक अनेकता एवं अराजकता की भावनाओं से ग्रस्त थे। एशिया में भारतवर्ष लोदी वंश के शासन में राजनीतिक रूप

से अस्थिर था जब कि चीन और जापान क्रमशः मिंगवश एवं तोकूगावा शासन के अन्तर्गत प्रगति के पथ पर अग्रसर थे ।

परन्तु एशिया के राज्यों की अपेक्षा यूरोप के राज्यों का विकास अधिक तेजी के साथ हुआ । यूरोप के राज्यों में इटली उस समय राजनीतिक क्षेत्र में दुर्बलता के बावजूद भी साहित्य और ललित कलाओं के क्षेत्र में अग्रगण्य था और उसका सांस्कृतिक गौरव एवं महत्व कम नहीं हुआ था । अतः इस सांस्कृतिक महत्व एवं प्रधानता के कारण इटली से ही आधुनिक काल के इतिहास का अध्ययन अधिक उचित प्रतीत होता है ।

यूरोप के प्रमुख राज्य :

(क) **इटली** : १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इटली यद्यपि रोमन साम्राज्य के एक भाग के रूप में गिना जाता था परन्तु वह अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था और कोई भी शासक इतना शक्तिशाली नहीं था कि वह एक केन्द्रीकृत शासन की स्थापना कर सके । ये सभी राज्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाये रखने के लिए ओर अपने राज्य की सीमा वृद्धि के लिए आपस में बराबर संघर्ष किया करते थे । इन युद्धों के लिए ये शासक किराये के सैनिकों की सहायता लेते थे और बहुत से निर्बल शासक तो विदेशी सहायता भी लिया करते थे । अतः सन् १५०० ई० के लगभग इटली यूरोप में एक ऐसा देश हो गया जिस पर अधिकार करने के लिए उस समय की बड़ी शक्तियाँ स्पेन, पुर्तगाल और फ्रांस उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में थे । उस समय इटली में मुख्य रूप से पाँच प्रमुख राज्य थे । दक्षिण में नेपल्स, मध्य भाग में पोप (रोम) के राज्य, उत्तर पश्चिम में मिलान, उत्तर पूर्व में वेनिस और फ्लोरेन्स । इनके अतिरिक्त अन्य राज्य यथा सेवाय आदि इटली की राजनीति में महत्वहीन हो चुके थे । इनमें मिलान, वेनिस और फ्लोरेन्स के राज्यों की प्रधानता क्रमशः लोम्बार्डी, वेनिशिया और टस्कनी प्रदेश में स्थापित हो गयी थी एवं शक्ति और साधन में यह राज्य रोम के पोप तथा नेपल्स के राज्यों के बराबर थे । इन राज्यों के विकास का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है :—

(i) **नेपल्स**—इटली के दक्षिण में स्थित नेपल्स का यह राज्य उत्तरी इटली के राज्यों से बिल्कुल अलग था । सन् १२८२ ई० तक सिसली इस राज्य का अंग था और सिसली पर स्पेन के अरागान वंश तथा नेपल्स पर फ्राँस के आंजू (Anjou) वंश का आधिपत्य था । सिसली के अलग हो जाने के पश्चात् नेपल्स फ्रांस के प्रभुत्व में रहा परन्तु १४३५ ई० में अरागान के अलफांसो पंचम के शासन काल में नेपल्स और सिसली के राज्य फिर संयुक्त हो गये । फलतः यहीं से इटली पर अधिकार के लिए फ्रांस और स्पेन के मध्य वह दीर्घकालीन संघर्ष आरम्भ हुआ जिसने न केवल इटली

बल्कि यूरोप की राजनीति को भी पर्याप्त प्रभावित किया। संस्कृति और सभ्यता के क्षेत्र में नेपल्स का राज्य इटली के अन्य राज्यों से काफी पिछड़ा हुआ था।

(ii) **पोप के राज्य**—रोम के पोप के आधीन इटली के मध्य का भू-प्रदेश पोप के राज्य (रोम) के नाम से अभिहित किया जाता था। पंद्रहवीं शताब्दी के विभिन्न पोपों ने कैथोलिक धर्म का प्रधान होने के साथ-साथ राज्य विस्तार और संगठन की नीति अपनाई थी जो मुख्य रूप से पुनर्जागरण के परिणाम स्वरूप यूरोप के भौतिक सुखों की ओर उन्मुख होने का प्रतिफल था और पोप भी इससे अछूते नहीं रह सके। फलतः १५ वीं शताब्दी के पोप धार्मिक कार्यों की अपेक्षा भोग-विलास और आनन्द-पूर्ण जीवन में लिप्त हो गए। इन पोपों ने ललित कलाओं और साहित्य को प्रश्रय दिया। जिसके फलस्वरूप १५वीं और १६ वीं शताब्दी में विशाल चर्च, राज प्रसाद आदि का निर्माण हुआ और पोप जूलियस (सन् १५०३-१५१३ ई०) के समय में रोम स्थित संत पीटर के गिरजाघर और उसके भित्तिचित्रों का निर्माण आरम्भ हुआ जो ललित कला के क्षेत्र की एक अमूल्य निधि है।

(ii) **मिलान**—मिलान उस समय स्फोर्जा वंश के अधिकार में था। पूर्वकाल में मिलान का शासन प्रजातांत्रिक ढंग से संचालित हो रहा था परन्तु वहाँ के निवासियों की समस्याओं के निराकरण में असफल सिद्ध होने के कारण इस प्रजातन्त्र का स्थान निरंकुश राजतन्त्र ने ले लिया। सर्वप्रथम विस्कांटी परिवार ने मिलान में निरंकुश राजतन्त्र की स्थापना की परन्तु १४४७ ई० के लगभग इस वंश का अन्त हो जाने के कारण १४५० ई० के लगभग एक सैनिक नेता फ्रांसिस्को स्फोर्जा ने इस पर अपना अधिकार कर लिया। सन् १५०० ई० के आस-पास स्फोर्जा वंश के अन्तर्गत मिलान सभी क्षेत्रों में विकासशील था।

(iv) **वेनिस**—वेनिस का उत्थान मध्ययुग के प्रारम्भ में ही हुआ और इसके उत्थान में इसकी प्राकृतिक स्थिति ने बहुत योगदान दिया। एड्रियाटिक सागर के उत्तर के द्वीपों पर बसा हुआ यह राज्य शीघ्र ही भूमध्यसागर में किये जाने वाले व्यापार का मुख्य केन्द्र बन गया। साथ ही वेनिस के राज्य के सीमा विस्तार की नीति अपनाई और सन् १५०० ई० के लगभग यह प्रमुख राज्यों में से एक हो गया।

वेनिस प्रारम्भ में प्रजातन्त्र था परन्तु व्यापारी वर्ग के प्रभुत्वशाली रहने के कारण धीरे-धीरे प्रजातन्त्र ने वंशगत अभिजाततन्त्र का रूप ले लिया। इस अभिजात तन्त्र ने शासन के लिए दस सदस्यों की एक समिति बनायी और उसे सम्पूर्ण अधिकार दे दिये।

इटली की संस्कृति को आगे बढ़ाने में वेनिस ने शक्तिशाली और वैभवशाली होने के कारण महत्वपूर्ण योगदान दिया।

(v) **फ्लोरेन्स**—आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में वेनिस से अधिक गौरवशाली होते हुए भी फ्लोरेन्स राजनीतिक क्षेत्र में वेनिस के बराबर न हो सका था। पन्द्रहवीं शताब्दी में मेडिची परिवार ने फ्लोरेन्स पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और लोरेन्जो डि मेडिची (सन् १४४८-१४९२ ई०) के शासन काल में फ्लोरेन्स का अत्यधिक विकास हुआ। मेडिची वंश ने राजनीतिक स्थायित्व बनाये रखने के साथ-साथ कला और ज्ञान के क्षेत्र में फ्लोरेन्स के गौरव को और बढ़ाने के लिए धन के व्यय के साथ-साथ सक्रिय सहयोग दिया। उस युग का एक प्रमुख विचारक और दार्शनिक मैकियावली फ्लोरेन्स का ही निवासी था। मैकियावली आधुनिक राजनीति शास्त्र का जन्मदाता माना जाता है। उसके द्वारा लिखित 'प्रिन्स' (Prince) नामक ग्रन्थ राजनीति-शास्त्र का मूल ग्रंथ माना जाता है।

(ख) **स्पेन** : १५वीं शताब्दी के पूर्व का स्पेन का इतिहास प्रमुखरूप से ईसाइयों और मुसलमानों (अरब तथा तुर्क) के मध्य संघर्ष का इतिहास है। १३वीं शताब्दी तक आते-आते ईसाइयों ने तुर्की सत्ता की शक्ति को कम कर स्पेन के बहुत से प्रदेशों पर अपना अधिकार कर लिया और दक्षिण में स्थित केवल ग्रेनाडा (Granada) प्रदेश पर ही मुसलमानों (जिन्हे स्पेन-वासी मूर कहते थे) का आधिपत्य रह गया। स्पेन के अन्य प्रदेशों पर ईसाई राज्यों की स्थापना होती गई और यद्यपि ये राजवंश पारस्परिक ईर्ष्या और द्वेष से मुक्त नही थे परन्तु जातीय संघर्ष अथवा मूरों को हटाने के प्रश्न पर वे एक थे।

१५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्पेन में केवल कैस्टील और अरागान के ही दो राज्य प्रभावशाली रह गये थे। १४६९ ई० में कैस्टील राज्य की उत्तराधिकारिणी इजाबेला और अरागान राज्य के उत्तराधिकारी फर्डिनेण्ड के विवाह के फलस्वरूप स्पेन के इतिहास का नया अध्याय आरम्भ हुआ। फर्डिनेण्ड और इजाबेला के सामने शासन के सम्बन्ध में अनेक कठिनाइयाँ थीं जिनमें स्पेन का एकीकरण, दक्षिणी प्रदेश ग्रेनाडा में मूरों का दमन, और वहाँ हुई अराजकता तथा अव्यवस्था का अन्त कर कानून और व्यवस्था की स्थापना, सामन्तों का दमन एवं प्रशासकीय यन्त्र का पुनर्संगठन आदि प्रमुख थीं। इन कठिनाइयों का निराकरण करने के पश्चात ही स्पेन को विकास और प्रगति के मार्ग पर अग्रसर किया जा सकता था।

इन समस्याओं का निराकरण करने के लिए सर्वप्रथम तो फर्डिनेण्ड और इजाबेला ने कैस्टील, अरागान एवं ग्रेनाडा के प्रदेशों को संयुक्त कर संयुक्त स्पेन (Unified Spain) की नींव डाली और ग्रेनाडा प्रदेश में मूरों को इसके लिए विवश किया गया कि वे एक निश्चित स्थान पर ही रहें। शान्ति और सुरक्षा तथा कानून को बनाये रखने के लिए सम्राट की अधीनता में एक नयी सेना का गठन किया गया और उसे

तत्कालीन नवीनतम तकनीकी विधियों और शस्त्रों से सुसज्जित किया गया। सामन्तों का दमन करने के लिए और उनकी शक्ति को कम करने के लिए बहुत से सामंतीय दुर्गों को विनष्ट करने के आदेश दिये गये और उनके बहुत से अधिकार वापस ले लिए गये। राज्य के उच्चतम पदों में भी उनको हटा कर उनके स्थान पर स्वामिभक्त व्यक्तियों की नियुक्ति की गयी। शासकीय यन्त्र का पुनर्गठन करने के लिए संयुक्त शासक फर्डिनेण्ड और इजाबेला के द्वारा शासन की सारी शक्ति शासक के हाथों में केन्द्रित कर ली गयी और राज्य की व्यवस्थापिका (कोर्टेज) के अधिकार सीमित कर दिए गये।

प्रशासकीय सुधारों के साथ-साथ फर्डिनेण्ड और इजाबेला ने स्पेन के आर्थिक विकास की ओर भी ध्यान दिया। व्यापार और वाणिज्य की समृद्धि के लिए राज्य के अन्दर स्थापित किए गए बहुत से चुगी केन्द्र (Custom barriers) समाप्त कर दिए गए, सड़कों की मरम्मत की गयी और उद्योगों के विकास के लिए उन पर राजकीय नियन्त्रण कठोर कर दिया गया। कृषि के उत्थान के लिए कृषकों को अनेक सुविधायें दी गयीं। इनके अतिरिक्त सन् १४९२ ई० में स्पेन के तत्वावधान में कोलम्बस द्वारा अमेरिका के खोज निकाले जाने के कारण स्पेन और भी अधिक शक्तिशाली और समृद्धिशाली हो गया।

सन् १४९२ ई० में मूरों का दमन करने के साथ ही यद्यपि स्पेन की शक्ति और भी बढ़ गयी परन्तु मूरों के साथ दीर्घकालीन संघर्ष के फलस्वरूप संकुचित राष्ट्रीयता और धार्मिक अहिष्णुता की उस नीति का आरम्भ हुआ जिसका अन्तिम परिणाम आगे चलकर फिलिप द्वितीय के शासन काल में उसकी असफलता और स्पेन के पराभव के रूप में सामने आया।

किन्तु सन् १५०० ई० में स्पेन यूरोप का सर्वाधिक शक्तिशाली और विकसित साम्राज्य था और इस शक्ति की वृद्धि में फर्डिनेण्ड और इजाबेला के द्वारा किये गए प्रयत्न, अमेरिका की खोज, प्रशासकीय और आर्थिक पुनर्संगठन और सुधारों के साथ-साथ स्पेन के राजवंश के वैवाहिक सम्बन्ध भी उत्तरदायी थे। फर्डिनेण्ड ने अपनी बड़ी पुत्री मेरिया का विवाह पुर्तगाल के विक्टर इमैनुअल प्रथम, द्वितीय पुत्री कैथरीन का विवाह इंग्लैण्ड के हेनरी सप्तम के पुत्र आर्थर तथा उसकी मृत्यु के पश्चात हेनरी अष्टम, तथा अंतिम पुत्री जुआना का विवाह जर्मनी के हैप्सबर्ग वंशीय शासक मैक्सि-मीलियन प्रथम के पुत्र फिलिप दि फेयर से किया था। ये वैवाहिक सम्बन्ध स्पेन की शक्ति की अभिवृद्धि में और भी सहायक सिद्ध हुए और इस प्रकार निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि फर्डिनेण्ड और इजाबेला के शासन के अन्तर्गत सन् १५०० ई० में स्पेन यूरोप का सर्वाधिक गौरवशाली राज्य था।

(ग) **फ्रांस** : सन् १५०० ई० के लगभग फ्रांस स्पेन के पश्चात् यूरोप का दूसरा प्रमुख राज्य था। यूँ तो फ्रास का इतिहास स्पेन के पहले से ही अर्थात् १३वीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है परन्तु फ्रांस का उत्थान वस्तुतः १५वीं शताब्दी में ही हुआ सन् १४३६ ई० में तत्कालीन शासक चार्ल्स सप्तम ने अपनी शक्ति का विस्तार करने के लिए एक सेना का संगठन किया और इस सेना के (Maintenance) के लिए तेइले नामक एक नया कर लगाया। शासन क्षेत्र में अपनी शक्ति बढ़ाने के साथ-साथ उसने आर्थिक क्षेत्र में भी अपनी प्रधानता स्थापित कर ली जबकि सन् १४३० ई० में बूर्ज की पवित्र स्वीकृति (Pragmatic Sanction) के द्वारा पोप ने फ्रांस के चर्च पर अपने प्रभाव और उत्तरदायित्व को समाप्त कर दिया था। चार्ल्स सप्तम के प्रयत्नों से शासन की शक्ति में वृद्धि और आर्थिक प्रधानता के साथ-साथ राष्ट्रीयता की भावना में भी अभिवृद्धि हुई।

चार्ल्स के उत्तराधिकारी लुई नवम् (सन् १४६१-१४८३ ई०) को सही अर्थों में फ्रांस के राष्ट्रीय राज्य का जनक कहा जा सकता है। क्योंकि उसने सीमा विस्तार की नीति के साथ-साथ शासन के केन्द्रीकरण की नीति भी अपनायी। राज्य के सामंत और अन्य सरदारों के विरोध को उसने शक्ति प्रदर्शन द्वारा समाप्त कर दिया और फ्रांस से सामंतशाही का अन्त हो गया।

उसके उत्तराधिकारी चार्ल्स अष्टम (सन् १४८३-१४९८ ई०) ने भी पूर्ववर्ती शासक की सीमा-विस्तार की नीति को अपनाया। सन् १४९४ ई० में उसने इस उद्देश्य से इटली पर आक्रमण कर उसे विजित कर लिया। परन्तु शीघ्र ही स्पेन के शासक फर्डिनेण्ड ने उसे इटली छोड़ने पर बाध्य कर दिया।

उसके पश्चात् लुई द्वादश (सन् १४९८-१५१५ ई०) फ्रांस का शासक हुआ और उसने भी इटली को विजित करने की नीति अपनायी। जिसके फलस्वरूप स्पेन के शासक फर्डिनेण्ड और लुई द्वादश के मध्य सन् १५१२ ई० तक बराबर संघर्ष चलता रहा।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि १५०० ई० के लगभग फ्रांस पूर्ण रूप से शासक के नियन्त्रण में था, शासनतन्त्र केन्द्रीकृत था और फ्रांस का साम्राज्य क्रमशः विकास की ओर अग्रसर था।

(घ) **इंग्लैण्ड** : १३वीं शताब्दी से ही इंग्लैण्ड में दो धारायें स्पष्ट रूप से समानान्तर चल रही थीं। पहली, पार्लियामेंट का विकास और उसकी बढ़ती हुई शक्ति; दूसरी, सामंतों की निरन्तर बढ़ती हुई शक्ति और उनका आपसी संघर्ष था। पार्लियामेंट ने शक्ति बढ़ाने के क्रम का आरम्भ १३वीं शताब्दी के आरम्भिक चरण में मैग्नाकार्टा द्वारा शासक की शक्ति पर नियन्त्रण कर किया था और सौ वर्षीय युद्ध (सन् १३३७-१४५३ ई०) के फलस्वरूप सामंत शक्तिशाली हो गये। इस प्रकार १५वीं

शताब्दी के अन्तिम दशकों में इंग्लैण्ड की परिस्थिति अत्यन्त नाजुक थी। सन् १४८५ ई० में लंकास्टर घराने के हेनरी सप्तम के गद्दी पर बैठने और ट्यूडर राजवंश का प्रारम्भ करने के समय इंग्लैण्ड में सर्वत्र अव्यवस्था और अराजकता फैली हुई थी और कानून नाम मात्र के लिए ही रह गया था। पार्लियामेंट और शासक के मध्य शक्ति के प्रश्न पर संघर्ष आरम्भ हो चुका था और सामंत अत्यधिक शक्तिशाली होने के कारण शासन का विरोध कर रहे थे। इसके साथ ही इंग्लैण्ड की गद्दी पर हेनरी सप्तम के अधिकार का आधार भी बहुत कमजोर था। कानूनी दृष्टि से लंकास्टर घराने की अपेक्षा यार्क घराना इंग्लैण्ड की राज-गद्दी का उत्तराधिकारी था। परन्तु हेनरी सप्तम ने संघर्ष के पश्चात् गद्दी अधिकृत कर ट्यूडर वंश तथा लंकास्टर घराने के राज्य का आरम्भ किया था।

इस प्रकार हेनरी सप्तम के समक्ष उपर्युक्त समस्यायें थीं। परन्तु उसने पार्लियामेंट की स्वीकृति, पोप द्वारा स्वीकृति, विभिन्न राज-घरानों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध तथा अपने कार्यों के आधार पर अपना अधिकार सुदृढ़ किया और सभी समस्याओं का निराकरण किया। हेनरी सप्तम ने निरंकुश राजतन्त्र की स्थापना तथा शासक की शक्ति में बृद्धि करने के लिये पार्लियामेंट और सामंतों के प्रति अलग-अलग नीति अपनायी। क्योंकि ये ही दो शक्तियाँ उसकी प्रमुख विरोधी थीं। इसके समाधान के लिये हेनरी ने पार्लियामेंट के साथ विरोध के स्थान पर मैत्री और सहयोग की नीति अपनायी। यह अवश्य है कि शासन की शक्ति और सम्मान को बढ़ाने तथा निरंकुश राजतन्त्र की स्थापना और विकास के लिये हेनरी ने अपने शासन के अन्तिम दर्शक में पार्लियामेंट की बहुत कम बैठकें बुलायीं।

लेकिन सामंतों के प्रति हेनरी के द्वारा दमनकारी नीति अपनायी गयी। सामंतों की शक्ति कम करने के लिये उसने पहले तो 'वर्दी के कानून' द्वारा सामंतों के वर्दीधारी सैनिक रखने के अधिकार को समाप्त कर दिया और साथ ही 'स्टार चैम्बर न्यायालय' की स्थापना कर उनके द्वारा विद्रोही सामंतों को कठोर दण्ड देकर उनका विरोध सदैव के लिये समाप्त कर दिया। इसके साथ ही हेनरी ने मध्यम वर्ग की ओर ध्यान दिया और मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश की क्योंकि यह मध्यवर्ग शासक की शक्ति के विकास में अत्यधिक सहयोगी सिद्ध हो सकता था।

हेनरी सप्तम ने इंग्लैण्ड को शक्तिशाली बनाने और आर्थिक समृद्धि एवं सम्पन्नता के लिये अनेक प्रयत्न किये। एक शक्तिशाली जल-सेना का भी निर्माण किया जिसके दूरगामी परिणाम हुये। साम्राज्य विस्तार तो हुआ ही इसके साथ ही जल-सेना के शक्तिशाली होने के कारण विश्व में इंग्लैण्ड का महत्व बढ़ गया। देश की आर्थिक समृद्धि और सम्पन्नता के विकास के लिये हेनरी ने उद्योग धन्धों के विकास पर ध्यान

दिया। व्यापार की सुविधा हेतु मार्ग ठीक किये गये और बहुत सी वस्तुओं पर चुँगी कम कर दी गयी।

संक्षेप में हेनरी सप्तम (सन् १४८५-१५०६ ई०) के शासनकाल को इंग्लैण्ड के नवयुग का प्रारम्भ कहा जा सकता है। अन्तर्वंशीय विवाह, नवीन ज्ञान, पुनर्विधान, जल शक्ति के विकास, पार्लियामेंट के प्रति सहयोग एवं मंत्री की नीति और सामंतों का दमन करने की नीति के फलस्वरूप इंग्लैण्ड में शान्ति और सुरक्षा स्थापित हुई। इस प्रकार निरंकुश राजतन्त्र का जन्म हुआ और ट्यूडर वंश एक लम्बे समय तक शासन करता रहा।

(ङ) **जर्मनी** :१६वीं शताब्दी के आरम्भ के पूर्व जर्मनी नामक कोई देश नहीं था अपितु सारा प्रदेश संख्या छोटे-छोटे सामंती राज्यों का समूह मात्र था जो पवित्र रोमन साम्राज्य के अंग थे, अर्थात् आज का जर्मनी उस समय 'पवित्र रोमन साम्राज्य' के नाम से जाना जाता था और शासक को 'पवित्र रोमन सम्राट' कहा जाता था।

सम्पूर्ण प्रदेश के छोटे-छोटे सामंतीय राज्यों में विभक्त होने के कारण एकता की भावना का अभाव था और सामंतीय राज्यों के सामंत शासकों के व्यापक अधिकार थे। चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के प्रथम दशक अर्थात् सन् १३५६ ई० में 'गोल्डेन बुल' नामक वैधानिक प्रपत्र पर हस्ताक्षर कर देने के पश्चात् सामंत शासकों ने लगभग सभी क्षेत्र में अन्तिम अधिकार स्वयं अधिकृत कर लिये और सम्राट केवल नाम मात्र का ही शासक रह गया। 'गोल्डेन बुल' के अनुसार शासक के निर्वाचन का अधिकार केवल सात व्यक्तियों को रह गया जिनमें तीन धर्माधिकारी शासक अर्थात् मेज (Mainz), ट्रायर (Trier) तथा कोलोन (Colone) के आर्चबिशप एवं बोहेमिया, सैक्सनी, ब्रैन्डेनबर्ग और पैलेटाइन नामक इन चार राज्यों के शासक थे। इसके अतिरिक्त साम्राज्य और शासन-सम्बन्धी सभी कार्यों के लिए सम्राट 'डायट' (जर्मनी की पार्लियामेंट) के प्रति उत्तरदायी था।

परन्तु पंद्रहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में हैप्सबर्ग परिवार के मैक्सिमीलियन प्रथम के सन् १४९३ ई० में गद्दी पर बैठने के पश्चात् उपर्युक्त परिस्थितियों में सुधार हुआ। उसके २६ वर्षों के (सन् १४९३-१५१९ ई०) के शासनकाल में देश में राष्ट्रीय भावना फैली, जर्मनी की एकता की आवाज उठाई गयी और तदर्थ सम्राट के अधिकारों को व्यापक बनाने का प्रयत्न आरम्भ हुआ। सम्राट मैक्सिमीलियन एकता के अपने इस प्रयत्न में सफल नहीं हो सका लेकिन इसका यह परिणाम अवश्य हुआ कि बहुत से राज्यों के अधिकार स्वयं ही कम हो गये और देश में एक सर्वोच्च राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना हुई।

सन् १५०० ई० के लगभग मैक्सिमीलियन यद्यपि जर्मनी में अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने में बहुत अधिक सफल नहीं हो सका था लेकिन जर्मन साम्राज्य के

ही एक अंग आस्ट्रिया के शासक के रूप में अपनी शक्ति और मर्यादा को बहुत अधिक बढ़ा लिया था। यूरोप के विभिन्न राजवंशों के साथ वैवाहिक सम्बन्धों के कारण उसकी शक्ति और भी बढ़ गई और इस सम्बन्ध में स्पेन और नीदरलैंड्स का नाम लिया जा सकता है। मैक्सिमीलियन ने स्वयं अपना विवाह बर्गन्डी की युवराज्ञी मेरी से किया जो नीदरलैंड्स की उत्तराधिकारिणी थी और अपने पुत्र फिलिप का विवाह स्पेन के शासक फर्डिनेन्ड की पुत्री जोआना से किया। फिलिप और जोआना का ही पुत्र चार्ल्स पंचम आगे चल कर सन् १५१६ ई० में स्पेन और नीदरलैंड्स तथा सन् १५१९ ई० में मैक्सिमीलियन की मृत्यु के पश्चात् पवित्र रोमन साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ और उसने 'पवित्र रोमन सम्राट' की पदवी भी प्राप्त की।

एशिया के प्रमुख राज्य

(क) भारतवर्ष : १५०० ई० में भारत पर लोदी वंश का शासक सिकन्दर लोदी (सन् १४८९-१५१६ ई० में) शासन कर रहा था। सिकन्दर लोदी को राज्यारोहण पर अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा जिनमें मुख्य थी राज्य के अन्दर विरोधी शक्तियों का दमन कर शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना करना। लोदी वंश के शासकों की सबसे कठिन समस्या आन्तरिक अनुशासन की ही थी, क्योंकि अफगान सरदार अपने और शासक के बीच कोई भेद नहीं समझते थे। पूर्ववर्ती शासक बहलोल लोदी ने धमकी और चापलूसी द्वारा उन्हें मिलाये रखा था परन्तु सिकन्दर ने कठोर नीति का अनुसरण करना चाहा। फलस्वरूप राजनीतिक अस्थिरता एवं अनेकता आरम्भ हो गई और देश में राजनीतिक अराजकता फैल गई। जिसके परिणामस्वरूप उसके उत्तराधिकारी इब्राहीम लोदी (सन् १५१६-१५२६ ई०) को बाबर ने सन् १५२६ ई० में पानीपत के प्रथम युद्ध में पराजित कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया एवं मुगल वंश की स्थापना कर देश की अराजकता को समाप्त करने का प्रयास किया।

(ख) चीन—सन् १५०० ई० में चीन मिंग वंश के शासक के अन्तर्गत था। राजनीतिक क्षेत्र में शीघ्र विस्तार के साथ-साथ इन शासकों ने सांस्कृतिक विकास की ओर भी ध्यान दिया, जिसके फलस्वरूप १६वीं एवं १७ वीं शताब्दी में चीन का सांस्कृतिक विकास बड़ी तेजी से हुआ। मिंग वंश के अन्तर्गत चीन की एक विशेषता यह थी कि इस वंश के शासकों ने चीन की प्राचीन संस्कृति का तत्कालीन प्रवृत्तियों के साथ सम्मिश्रण कर उसे रक्षित रखने का प्रयास किया।

(ग) जापान—जापान में इस समय तोकूगावा वंश का शासन था, जिन्होंने सैनिक आधार पर प्रशासन को चलाया। तोकूगावा प्रशासक सम्राट के पद के अस्तित्व तथा उसके गौरव को बनाये रखते हुये कुशलतापूर्वक शासन कर रहे थे तथा देश बराबर विकास के पथ पर आगे बढ़ रहा था।

अध्याय ५

स्पेन का उत्थान

(RISE OF SPAIN)

१६वीं शताब्दी में यूरोप की अधिकांश घटनायें स्पेन के हैप्सबर्ग परिवार के गौरव से प्रभावित थीं। स्पेन के इस गौरव वृद्धि से, जो निरन्तर बढ़ रहीं थी अन्य यूरोपीय राज्य बहुत चिन्तित थे क्योंकि स्पेन की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई शक्ति से उनका अस्तित्व खतरे में था। स्पेन के उत्थान के अनेक कारण थे।

स्पेन के उत्थान के कारण :

इसके उत्थान का सर्वप्रमुख कारण सौभाग्यपूर्ण वैवाहिक सम्बन्धों का क्रम था। वैवाहिक सम्बन्धों के द्वारा साम्राज्यवादी नीति में उन्हें इतनी सफलता प्राप्त हुई कि उज्जवल भविष्य उनके लिये एक सुप्रसिद्ध कहावत के रूप में हो गया। सन् १४६९ ई० में फर्डिनेण्ड तथा इजाबेला का विवाह सम्पन्न हुआ। इसके परिणाम-स्वरूप स्पेन की राजनीतिक एकता का स्वप्न साकार हुआ, क्योंकि इससे पूर्व स्पेन विभिन्न राज्यों में विभाजित था तथा उसका एक भाग मुसलमानों के अधिकार में था। अत: फर्डिनेण्ड तथा इजाबेला ने स्पेन से मूरों की शक्ति को नष्ट करने तथा स्पेन को एक शक्तिशाली राष्ट्र का रूप देने के लिये स्थानीय तथा कुलीन वर्ग से सम्बन्धित विशेषाधिकारों को समाप्त कर एक निरंकुश एवं सुदृढ़ राजतन्त्र की स्थापना की। फर्डिनेण्ड तथा इजाबेला के सम्मिलित प्रयासों के फलस्वरूप स्पेनी सेना का पुनर्गठन हुआ, जो कि स्पेन के उत्थान में अत्यधिक सहायक सिद्ध हुई। तुर्कों के कुस्तुनतुनियां पर अधिकार के कुछ समय पश्चात् सन १४९२ ई० में स्पेनी सैनिकों ने ग्रेनाडा पर विजय प्राप्त की। तुर्कों के विरुद्ध स्पेन की इस सफलता से स्पेन के गौरव में वृद्धि हुई। फर्डिनेण्ड तथा इजाबेला ने कुछ ही वर्षों में अपनी सफल कूटनीति तथा सैनिक शक्ति के द्वारा सम्पूर्ण स्पेन, नेपल्स, सिसली तथा सार्डिनिया पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। इससे अतिरिक्त कोलम्बस द्वारा 'नई दुनिया' (अमेरिका) की खोज से स्पेन के साम्राज्य में और वृद्धि हुई। अमेरिका की खोज के परिणामस्वरूप स्पेन को वहाँ से अत्यधिक धन-राशि की प्राप्ति हुई। अंत में, फर्डिनेण्ड तथा इजा-बेला ने अपनी तीन पुत्रियों का विवाह इस प्रकार किया जिससे स्पेन की शक्ति एवं महत्ता में और भी वृद्धि हुई। उन्होंने अपनी ज्येष्ठ पुत्री जोआना (जो कैस्टील तथा अरागान की उत्तराधिकारिणी थी) का विवाह हैप्सबर्गीय युवराज फिलिप से किया, जो अतिसुन्दर तथा धनवान था। फिलिप का पिता सम्राट मैक्सिमीलियन प्रथम

(सन् १४६३-१५१६ ई०) आस्ट्रिया का आर्चडयूक तथा पवित्र रोमन सम्राट था तथा उसकी माता 'मेरी ऑव बर्गण्डी' नीदरलैण्ड्स की उत्तराधिकारिणी थी। फर्डिनेण्ड तथा इजाबेला ने अपनी द्वितीय पुत्री का विवाह पुर्तगाल के सम्राट इमैनुअल प्रथम (सन् १४९५-१५२१ ई०) से किया तथा सबसे छोटी पुत्री कैथरीन का विवाह वेल्स के राजकुमार आर्थर से किया। किन्तु कैथरीन का विवाह सौभाग्यशाली न सिद्ध हुआ और सन् १५०२ ई० में उसके पति आर्थर की मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् सन् १५०६ ई० में उसका विवाह स्वर्गवासी आर्थर के भाई हेनरी अष्टम से हुआ, जो इंग्लैण्ड का सम्राट था। इस प्रकार, यह वैवाहिक सम्बन्ध भी स्पेन के उत्थान में अत्यधिक सहायक सिद्ध हुए। इनसे यूरोप में स्पेन के सम्बन्धों का ही विस्तार नहीं हुआ, वरन् साम्राज्य एवं शक्ति की भी वृद्धि हुई, जिससे स्पेन अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुआ।

सम्राट् चार्ल्स पचम
(Emperor Charles V)

चार्ल्स पंचम का जन्म तथा सिंहासनारोहण—फिलिप तथा जोआना के संयोग से सन् १५०० ई० में नीदरलैण्ड्स के गेन्ट नामक नगर में चार्ल्स का जन्म हुआ, जो भविष्य में चार्ल्स पंचम के नाम से यूरोप का सर्वशक्तिशाली तथा अत्यधिक भाग्यशाली शासक सिद्ध हुआ। सन १५०४ ई० में इजाबेला की मृत्यु हो जाने से जोआना अपने पिता फर्डिनेण्ड के साथ नाममात्र की सह-प्रशासिका हो गयी। किन्तु वह अनुत्तरदायी थी और उसके स्थान पर उसका पति फिलिप केस्टील तथा नीदरलैण्ड्स पर शासन करता था। फिलिप अधिक समय तक जीवित न रह सका और सन १५०६ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी। अपने पिता फिलिप की मृत्यु के पश्चात् ६ वर्ष की आयु में चार्ल्स नीदरलैण्ड्स तथा कैस्टील का शासक हुआ, तत्पश्चात् उस पर मुकुटों की वर्षा होने लगी। जब उसकी आयु १६ वर्ष (सन १५१६ ई०) की हुई तो अपने नाना फर्डिनेण्ड की मत्यु के कारण वह समस्त स्पेनी साम्राज्य का अधिकारी हो गया और इस प्रकार सम्पूर्ण स्पेन, नेपल्स, सिसली, सार्डीनिया, अमेरिका तथा अफ्रीका उपनिवेशों पर उसका आधिपत्य हो गया। १६ वर्ष की आयु में अपने पितामह सम्राट मैक्सिमीलियन की मत्यु (१५१६ ई०) के पश्चात् आस्ट्रिया की आर्चडची उसे उत्तराधिकार में प्राप्त हुई, जिसके अंतर्गत आस्ट्रिया, स्टीरिया' कार्निओला, टिरोल आदि के प्रदेश सम्मिलित थे। अपने ऊपर से शासन का भार कम करने के लिये इन प्रदेशों का शासन चार्ल्स ने अपने छोटे भाई फर्डिनेण्ड को दे दिया, जिसने बोहेमिया तथा हंगरी को भी हैप्सबर्ग साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। इतना होते हुए भी चार्ल्स की महत्वाकांक्षा अभी शेष थी। वह 'पवित्र रोमन सम्राट' की संज्ञा से विभूषित होना

चाहता था जो कि उसके पितामह सम्राट मैक्सीमीलियन को प्राप्त थी। किन्तु फ्रांस का शासक फ्रांसिस प्रथम भी इस पदवी को प्राप्त करने का इच्छुक था, क्योंकि उसे आशंका थी कि चार्ल्स का सम्राट के रूप में निर्वाचन 'शक्ति संतुलन' तथा फ्रांस की स्वतन्त्रता के लिये अहितकर होगा। इन दोनों चार्ल्स पंचम तथा फ्रांसिस प्रथम) के अतिरिक्त इंग्लैण्ड का शासक हेनरी अष्टम भी इस चुनाव में सम्मिलित हो गया और इस प्रकार सम्राट पद के उम्मीदवारों की संख्या तीन हो गयी। चार्ल्स तथा फ्रांसिस दोनों ने एलेक्टरों को घूस देकर अपने पक्ष में करने का प्रयास किया। इसके अतिरिक्त चार्ल्स ने यह भी तर्क दिया कि वह हैप्सबर्ग वंश का है तथा तुर्कों के विरुद्ध जर्मनी की रक्षा के लिए उसका साम्राज्य सैनिक दृष्टि से उचित स्थान पर स्थित है। इस प्रकार वह पवित्र रोमन सम्राट के चुनाव में विजयी हुआ तथा सन् १५२० ई० में एला शैपल नामक स्थान पर चार्ल्स पंचम के नाम से 'पवित्र रोमन सम्राट' के रूप में उसका राज्याभिषेक हुआ।

चार्ल्स पंचम की समस्यायें—सम्राट बनते ही चार्ल्स पंचम के समक्ष अनेक जटिल समस्यायें उपस्थित हुईं जिनके समाधान के लिये वह जीवन पर्यन्त संघर्ष करता रहा। यद्यपि वह अपने इन प्रयासों में सफल न हो सका किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उसमें शासक सम्बन्धी गुणों तथा योग्यताओं का अभाव था, वरन् इसका प्रमुख कारण उसके साम्राज्य की विशालता थी, जहाँ प्रजा में परस्पर विरोधी हितों की प्रधानता थी। उसके अधीन राज्यों की भी अपनी-अपनी विशेषतायें थीं जो एक दूसरे से सर्वथा भिन्न थीं। इन राज्यों के बीच राजनीतिक तथा शासन-सम्बन्धी एकता का अभाव था। यह राज्य सम्राट चार्ल्स पंचम के आधीन प्रान्तों एवं राज्यों के समूह मात्र थे। इनके लिये न तो कोई केन्द्रीय सरकार थी और न ही कोई सामान्य शासन-व्यवस्था थी। प्रत्येक की अपनी पृथक् शासन-व्यवस्था तथा अपनी विचित्र संस्थायें थीं। यद्यपि सम्पूर्ण जर्मनी के लिये पवित्र रोमन सम्राट नामक एक नाम मात्र की केन्द्रीय व्यवस्था थी, किन्तु नीदरलैण्ड्स, स्पेन तथा इटली के राज्यों के लिये ऐसी नाममात्र की व्यवस्था भी न थी। नीदरलैण्ड्स के सभी प्रान्तों का भिन्न अस्तित्व था। स्पेनी साम्राज्य के अन्तर्गत राज्यों की शासन-व्यवस्था भी भिन्न थी। प्रत्येक राज्य की अपनी स्थानीय सरकार तथा व्यवस्था थी।

यही दशा हैप्सबर्ग के अन्तर्गत राज्यों की थी। चार्ल्स पंचम अपने इन राज्यों का प्रशासन अपने छोटे भाई फर्डिनेण्ड को सौंप कर १५२१ ई० में वहाँ के शासन सम्बन्धी उत्तरदायित्व से स्वतन्त्र हो गया। फर्डिनेण्ड ने विवाह तथा निर्वाचन के द्वारा बोहेमिया तथा हंगरी के राज्यों (१५२६ ई०) को भी हैप्सबर्ग साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। पवित्र रोमन सम्राट के रूप में चार्ल्स पंचम के लिये अनेक अन्य समस्यायें उत्पन्न हो गईं। यद्यपि चार्ल्स पंचम को पवित्र रोमन सम्राट की

पदवी प्राप्त होने से उसके गौरव में वृद्धि हुई, किन्तु इसकी तुलना में उसका उत्तरदायित्व और भी बढ़ गया। उसने अपने इस विस्तृत राजवंशीय साम्राज्य की आर्थिक, न्यायायिक तथा धार्मिक समस्याओं को हल कर प्रजा के हितों में एकता स्थापित करने का प्रयास किया। उसे अनेक बार विद्रोहों का सामना भी करना पड़ा। जर्मनी में प्रोटेस्टेन्टवाद के प्रसार एवं प्रभाव को रोकने के लिये उसे अत्यधिक धन, समय तथा शक्ति का उपयोग करना पड़ा।

चार्ल्स पंचम की दूसरी प्रमुख समस्या वैदेशिक राजनीति से सम्बन्धित थी। उसका विशाल साम्राज्य अन्य यूरोपीय राष्ट्रों के लिये ईर्ष्या का कारण बन गया था। उसे अपने प्रमुख प्रतिद्वन्दी फ्रांस के राजा फ्रांसिस प्रथम से आजीवन युद्ध करना पड़ा। चार्ल्स पंचम को फ्रांस की शत्रुता विरासत में मिली थी, किन्तु पवित्र रोमन सम्राट के चुनाव ने उसे व्यक्तिगत शत्रुता का रूप दे दिया। डेन्यूब नदी की ओर तुर्कों के प्रसार तथा भूमध्य सागर में उनकी बढ़ती हुई नाविक शक्ति से भी वह बहुत चिन्तित था। जर्मनी में प्रोटेस्टेन्टवाद के दमन के लिये वह पोप से सहायता की आशा करता था तथा फ्रांस के विरुद्ध उसे इंग्लैण्ड की सहायता की भी आशा थी। किन्तु चार्ल्स पंचम की इटली सम्बन्धी नीति से असन्तुष्ट होने के कारण इन्होने द्वेषपूर्ण नीति का अनुसरण किया। संक्षेप में, सम्राट बनते ही चार्ल्स पंचम के समक्ष विभिन्न आन्तरिक एवं वाह्य समस्यायें एक साथ उपस्थित हुईं।

स्पेन का शासन :

चार्ल्स को १६ वर्ष की अवस्था में स्पेनी साम्राज्य पर शासन करने के लिये आमंत्रित किया गया था। चार्ल्स के नाना फर्डिनेण्ड की मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकार उसकी माता जोआना के पक्ष में था, किन्तु वह मानसिक रूप से शासन करने के योग्य न थी। अतः ऐसी परिस्थिति में चार्ल्स पंचम स्पेन का अधिकारी हुआ। सन् १५१७ ई० में जब चार्ल्स स्पेन पहुँचा तो उसका कोई स्वागत न हुआ। स्पेनियों की इस उदासीनता के अनेक कारण थे। चार्ल्स पंचम के स्पेन आने से पूर्व ही वहाँ के लोग उसके विदेशी होने के कारण उसे शंका की दृष्टि से देखने लगे थे। चार्ल्स ने अपने नाना फर्डिनेण्ड की मृत्यु के पश्चात् नीदरलैण्ड छोड़ने में विलम्ब किया था अतः स्पेनी इस कारण उसे और घृणा की दृष्टि से देखते थे। इसके अतिरिक्त चार्ल्स स्पेनी भाषा बोलने में भी असमर्थ था तथा अपने साथ नीदरलैण्ड्स से परामर्शदाता के रूप में बहुत से स्वार्थी व्यक्तियों को लाया था। उसने इन व्यक्तियों की नियुक्तियाँ विभिन्न प्रशासकीय तथा धार्मिक पदों पर कीं, जहाँ वे स्पेनवासियों के हितों की चिन्ता न कर अपने स्वार्थों की पूर्ति में लग गये।

किन्तु स्पेनवासियों ने अपना रोष प्रकट करने में तनिक विलम्ब नहीं किया। स्पेन में कैस्टील तथा अरागान नामक राज्यों की संसद अब स्पेनी साम्राज्य के शासन में

भी अपना हस्तक्षेप चाहती थी । सर्वप्रथम, नवम्बर १५१७ ई० वेलाडालिड नामक स्थान पर कैस्टील की संसद की बैठक हुई जहाँ यह निश्चय किया गया कि चार्ल्स पंचम को उसी दशा में स्पेन का शासक स्वीकार किया जाएगा जब कि वह उनके अधिकारों के प्रति आदर की शपथ ले । अरागान की ससद और भी आगे बढ़ गयी, उसने कहा कि जोआना के स्वस्थ होते ही वह पूर्ण रूप से स्पेन की शासक होगी । इस प्रकार उत्तराधिकार का प्रश्न और उलझने लगा । सम्राट मैक्सिमीलियन की मृत्यु (१५१९ ई०) से वह हैप्सबर्ग परिवार क प्रमुख के रूप में पवित्र रोमन साम्राज्य का कानूनी उत्तराधिकारी हो गया । स्पेनवासियों की दृष्टि में उसके सम्राट का निकट सम्बन्धी होने से भी कोई लाभ नहीं था और न ही वे अनुपस्थित शासक के पक्ष में थे। चार्ल्स ने उनकी चिन्ता न की तथा 'एलेक्टरों' (निर्वाचकों) को घूस देकर अपने पक्ष में करने के लिये एक लम्बी धन राशि जर्मनी भेजी । जब स्पेनियों को उसके निर्वाचन तथा उसके जाने के सम्बन्ध में ज्ञात हुआ तो वे सशंकित हुये । उन्होंने चार्ल्स पंचम को इस योजना को त्यागने के लिये बाध्य किया । किन्तु चार्ल्स ने बिना उनकी सुने हुये जर्मनी की यात्रा के लिये आवश्यक धन राशि प्राप्ति के लिये कैस्टील के संसद की बैठक बुलायी । संसद ने सम्राट के द्वारा यह वचन देने पर कि वह भविष्य में विदेशियों को स्पेन के धार्मिक तथा राजनीतिक पदों पर नियुक्त न करेगा, सम्राट की माँग स्वीकार कर ली । किन्तु जैसे ही संसद ने चार्ल्स को आर्थिक सहायता के लिये सहमति प्रदान की वैसे ही चार्ल्स पंचम ने अपने द्वारा दिये हुये वचन को ठुकरा दिया और अपने शिक्षक 'एडरिन ऑव यूट्रेक्ट' को अपनी अनुपस्थिति में अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया ।

चार्ल्स के स्पेन छोड़ते ही विद्रोह की ज्वाला भड़क उठी । विद्रोह का प्रारम्भ टोलेडो से हुआ तथा उसके पश्चात् यह विभिन्न शहरों एवं 'कम्यून्स' में फैल गया । विद्रोहियों ने यह माँग की कि चार्ल्स स्पेन वापस आकर वहाँ स्थायी रूप से निवास करे तथा विदेशियों को, जो स्पेन में विभिन्न पदो पर आसीन हैं, अलग करे । इसके अति-रिक्त विदेशी व्यापारी भी स्पेनियों के घृणा के पात्र हो गये, क्योंकि उन्हें यह आशंका थी कि कहीं चार्ल्स अपनी सम्पूर्ण प्रजा को अमेरिका के साथ व्यापार की सुविधा न प्रदान कर दे । प्रारम्भ में बहुत-से कुलीनों को इस विद्रोह के साथ सहानुभूति थी, किन्तु जब विद्रोहियों ने उनके विशेषाधिकारों पर आघात किया तो वे तुरन्त उनके विरुद्ध हो गये । प्रारम्भ में यह विद्रोह मुकुट के विरुद्ध था, किन्तु अब इसने वर्ग-युद्ध का रूप धारण कर लिया । अन्त में यह 'कम्यून्स' कुलीनवर्ग की शक्ति के समक्ष टिक न सके और विद्रोह का दमन हो गया । सौभाग्य से चार्ल्स की अनुपस्थिति तथा बिना उसकी सहायता के ही उसके पक्ष की विजय हुई । इसके पश्चात् नगर के प्रतिनिधियों के आधार समाप्त कर दिये गये तथा नगर प्रशासन सम्बन्धी स्थानीय अधिकार भी

सीमित कर दिये गये। प्रत्येक नगर प्रशासन में एक सरकारी पदाधिकारी की नियुक्ति की गयी। यद्यपि चार्ल्स पंचम ने कैस्टील तथा अरागान नामक संसदों का अन्त नहीं किया तथा उनके अर्थ-सम्बन्धी अधिकार बने रहे किन्तु उनकी आत्मनिर्भरता एवं महत्ता का अन्त हो गया।

स्पेन लौटने के पश्चात् चार्ल्स की नीति में परिवर्तन आ गया। उसने स्पेन-वासियों के प्रति उदार नीति का अनुसरण कर सम्राट तथा प्रजा के मध्य सम्बन्धों को सुधारने का प्रयास किया। चार्ल्स पंचम ने कुछ के अतिरिक्त सभी उच्च तथा सम्मा-नित पदों पर स्पेनवासियों की नियुक्ति की। यहाँ तक की अपने विवाह के सम्बन्ध में भी उसने अपनी प्रजा को प्रसन्न करने का प्रयास किया। कैस्टील की संसद ने चार्ल्स पंचम को पुर्तगाल के शासक की बहन इजाबेला से विवाह करने की सलाह दी। चार्ल्स पंचम ने इसे स्वीकार कर लिया तथा १० मार्च १५२६ ई० को बड़ी खुशियाली के बीच यह विवाह सम्पन्न हुआ।

चार्ल्स पंचम का प्रमुख उद्देश्य स्पेप में स्थित विभिन्न छोटे-छोटे राज्यों को संगठित करना था। यह सत्य है कि उसने इन सभी राज्यों को एक राज्य में परिणत करने का प्रयास नहीं किया; किन्तु उसने इनके मध्य स्थिति अन्तरों को समाप्त करने का प्रयास किया। वाह्य राजनीति के अन्तर्गत उसने यूरोप में स्पेन के प्रभुत्व को स्था-पित करने की चेष्टा की। इसके कारण उसे कई युद्धों में भी भाग लेना पड़ा, जिससे स्पेन को काफी आर्थिक हानि उठानी पड़ी। यहाँ तक कि मेक्सिको, पेरू से प्राप्त धन-राशि के द्वारा भी उसकी आर्थिक आवश्यकता का पूर्ति न हो सकी। अतः उसे बाध्य होकर कर वृद्धि के कई आदेश जारी करने पड़े। इतना ही नहीं, उसकी मृत्यु के समय स्पेन के राजकोष पर लगभग दो करोड़ पौण्ड का ऋण चढ़ गया था।

किन्तु औपनिवेशिक विस्तार की दृष्टि से चार्ल्स पंचम का शासनकाल बहुत महत्वपूर्ण था। क्योंकि इस काल में स्पेन के उपनिवेशों में बड़ी वृद्धि हुई। चार्ल्स पंचम के प्रयासों से मेक्सिको, मध्य अमेरिका, वेनेजुला, न्यू ग्रेनाडा, पेरू, बोलविया तथा चिली में स्पेनी उपनिवेशों की स्थापना हुई। इनके अतिरिक्त अर्जेन्टाइना, पेरागुये, कैलीफोर्निया तथा फ्लोरिडा में उपनिवेश स्थापित करने के लिये प्रयास किये जा रहे थे। इस प्रकार एक ओर जहाँ स्पेन के औपनिवेशिक साम्राज्य का बिस्तार हो रहा था, वहीं दूसरी ओर स्पेन का आर्थिक विकास रुक गया तथा राष्ट्र नैतिक पतन की ओर उन्मुख हो गया।

नीदरलैण्ड्स का शासन :

चार्ल्स पंचम का जन्म तथा पालन-पोषण नीदरलैण्ड्स में होने के कारण उसे वहाँ से विशेष लगाव था। इसलिये नीदरलैण्ड्स के निवासी भी उसके प्रति श्रद्धा तथा भक्ति रखते थे। उसने वहाँ के सत्रह प्रदेशों को मिलाकर एक संघ का निर्माण किया था तथा

केन्द्रीय शासन की सुविधा के लिये तीन परिषदों तथा एक संसद (स्टेट्स जनरल) की स्थापना की थी। चार्ल्स पंचम ने नीदरलैण्ड्स में बड़ी उदार एवं सहिष्णुतापूर्ण नीति अनुसरण किया यहाँ न तो वैधानिक क्षेत्र में उसने कोई हस्तक्षेप किया और न ही व्यापार एवं उद्योग-धन्धों पर कोई प्रतिबन्ध लगाया। किन्तु उसने अपने निरंकुश शासन में शिथिलता न आने दी और जब गेन्ट नगर ने युद्ध के लिये स्वीकृत कर देने से इन्कार किया तो चार्ल्स पंचम ने विद्रोहियों को कठोर दण्ड दिया। इस प्रकार नीदरलैण्ड्स के निवसियों को भी करों का एक भारी बोझ सहना पड़ा। किन्तु देश में उद्योग-धन्धों एवं वाणिज्य की उन्नति से यहाँ के प्रदेश बड़े समृद्धिशाली थे।

किन्तु धार्मिक क्षेत्र में नीदरलैण्ड्स में चार्ल्स पचम की नीति सराहनीय नहीं थी। उसकी धार्मिक नीति बड़ी कठोर तथा अनुदार थी। चार्ल्स पंचम स्वयं एक कट्टर कैथोलिक होने के कारण नीदरलैण्ड्स से प्रोटेस्टेन्टवाद की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने तथा कैथोलिक धर्म की रक्षा के लिये वहाँ के सभी प्रान्तों में 'इन्क्वीजीशन, नामक विशेष न्यायालयों की स्थापना की थी। किन्तु नीदरलैण्ड्स निवासियों की प्रोटेस्टेन्टवाद में रुचि एवं श्रद्धा के कारण चार्ल्स पंचम का यह प्रयास विफल हुआ। यद्यपि चार्ल्स पंचम की इस असहिष्णु एवं अनुदार धार्मिक नीति के फलस्वरूप कई हजार नीदरलैण्ड्स-वासियों की हत्या कर दी गई किन्तु नीदरलैण्ड्स-वासियों के अदम्य उत्साह एवं लगन के कारण प्रोटेस्टेन्टवाद का प्रभाव दिन-प्रति दिन बढ़ता ही गया। चार्ल्स पंचम के उत्तराधिकारी फिलिप द्वितीय के शासन काल में नीदरलैण्ड्सवासियों ने एक भयंकर विद्रोह कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप वहाँ एक सफल प्रोटेस्टेन्ट 'डच गणतन्त्र' की स्थापना हुई।

जर्मनी का शासन:

चार्ल्स पंचम जिस समय फ्रांसीसियों तथा तुर्कों के विरुद्ध युद्ध में व्यस्त थी। उसी समय पवित्र रोमन साम्राज्य में उसे एक विषम परिस्थिति का सामना करना पड़ा। सम्राट मैक्सिमीलियन की मृत्यु (सन् १५१९ ई०) के पश्चात् पवित्र रोमन सम्राट के पद के लिये तीन उम्मीदवार (चार्ल्स पंचम, फ्रांसिस प्रथम तथा हेनरी अष्टम) चुनाव में थे। चुनाव में 'एलेक्टरों' को अपने-अपने पक्ष में करने के लिये चार्ल्स पंचम तथा फ्रांसिस प्रथम ने उन्हें घूस भी दिया। चार्ल्स प्रथम के पास फ्रांसिस प्रथम की तुलना में आवश्यक साधनों का अभाव था। अतः उसने अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिये 'एलेक्टरों' की कुछ माँगों को स्वीकार कर लिया, जिसके अन्तर्गत उन्हें साम्राज्य के राजकीय कार्यों में जर्मन अथवा लैटिन भाषा प्रयोग करने के अधिकार, सभी पदों पर जर्मन निवासियों को नियुक्त करने, साम्राज्य की सीमा से बाहर 'डायट' की सभा न बुलाने तथा वाह्य सेना को देश में न लाने आदि का वचन

दिया गया। इस चुनाव में चार्ल्स पंचम की विजय के पश्चात् अक्तूबर सन् १५२० ई० में एलाशैपल में पवित्र रोमन सम्राट के रूप में उसका राज्याभिषेक हुआ।

जर्मनी में चार्ल्स पंचम की सर्वप्रमुख समस्या वहाँ के अनेक छोटे-बड़े राज्य थे जिनमें पारस्परिक एकता का अभाव था उन्हें एक संगठित राज्य का रूप प्रदान करना था। सन् १५२१ ई० में चार्ल्स पंचम ने वर्म्स में 'डायट' की बैठक बुलायी। इस सभा में एक ओर तो राजकुमारों ने उन सुधारों को फैलाने की इच्छा व्यक्त की, जिनका प्रारम्भ सम्राट मैक्सिमीलियन के अन्तर्गत हुआ था। दूसरी ओर चार्ल्स पंचम फ्रांस के विरुद्ध युद्ध के लिये धन तथा सैनिकों की प्राप्ति में लगा हुआ था। चार्ल्स पंचम ने चुनाव में 'ऐलेक्टरों' का समर्थन प्राप्त करने के लिये जर्मनी में एक प्रतिनिधि सरकार की स्थापना का वचन भी दिया था जो सम्राट की अनुपस्थिति में साम्राज्य की समस्याओं पर विचार करेगी। किन्तु जर्मन राजकुमार अब स्थायी कौंसिल चाहते थे जो चार्ल्स पंचम की उपस्थिति तथा अनुपस्थिति दोनों दशाओं में साम्राज्य की समस्याओं का समाधान करे। दीर्घ वाद-विवाद के पश्चात् यह निश्चित हुआ कि एक 'कौंसिल ऑव रिजेन्सी' (Council of Regency) की स्थापना की जाय जो सम्राट की अनुपस्थिति में शासन की अधिकारी होगी। फिर भी चार्ल्स ने कुछ विशेष समस्याओं का निर्णय अपने अधीन ही रखा। 'डायट' ने 'साम्राज्य की अदालत' का पुनर्गठन किया, किन्तु उसके खर्च के सम्बन्ध में कोई नवीन प्रयोजन न किया जा सका। अतः नगरों के व्यापारियों तथा सामन्तों ने इसका घोर विरोध करते हुये कहा कि आने वाले मालों पर चुंगी लगने से उनका व्यापार नष्ट हो जाएगा। अस्तु, विवश होकर 'डायट' को यह विचार त्यागना पड़ा तथा सन् १५०७ ई० की स्वीकृत पद्धति को पुनः लागू किया गया जिसके अनुसार पृथक राज्यों से 'मैट्रीकुला' नामक चन्दा एकत्र किया जाता था। इस प्रकार चार्ल्स पंचम जर्मनी के राजकुमारों तथा व्यापारियों के पारस्परिक स्वार्थों के कारण जर्मनी को संगठित करने में सफल सिद्ध हुआ।

किन्तु इसी समय जर्मनी में प्रोटेस्टेन्टों का उदय हुआ। मार्टिन लूथर ने कैथोलिक चर्च के अन्तर्गत फैली हुई कुरीतियों तथा पोप की असीमित शक्ति का विरोध किया। दूसरी चार्ल्स पंचम एक कैथोलिक था। उसके अनुसार राजनीतिक प्रभुसतत्ता को बनाये रखने के लिये प्राचीन चर्च की प्रभुसत्ता बनाये रखना अति आवश्यक था। सन् १५२१ ई० में वर्म्स की उसी 'डायट' (जिसके द्वारा 'कौंसिल ऑव रिजेंसी' का निर्माण हुआ था) में चार्ल्स पंचम ने लूथर के विचारों को धर्म-विरुद्ध तथा उसे नास्तिक घोषित किया। इतना ही नहीं लूथर को साम्राज्य की सुरक्षा से भी वंचित कर दिया गया। किन्तु सन् १५२१ ई० के पश्चात् लूथर के सिद्धान्तों का प्रचार

तीव्र गति से होने लगा तथा जर्मनी के राज्यों में लूथरवाद बड़ा लोकप्रिय हो गया। सम्राट ने धर्म-सुधार आन्दोलन को समूल नष्ट करने के लिए अपनी दमन नीति जारी रखी। जिससे परिणामस्वरूप जर्मनी में दीर्घकालीन गृह युद्ध (सन् १५४६ ई० से १५५५ ई०) आरम्भ हो गया। अन्त में सम्राट ने इस दीर्घकालीन युद्ध के भयंकर परिणामों से चिंतित होकर सन् १५५५ ई० में प्रोटेस्टेन्टों के साथ 'आग्सबर्ग की सन्धि' कर ली। जिसके अनुसार लूथरवाद को मान्यता प्रदान की गयी तथा इसके सुविधायें प्रदान की गयीं। इस प्रकार सम्राट चार्ल्स पंचम जर्मनी में लूथरवाद के दमन में सर्वथा असफल सिद्ध हुआ।

चार्ल्स पंचम का फ्रांस से सम्बन्ध :

चार्ल्स पंचम की प्रशासकीय समस्यायें प्रत्येक स्थान पर वैदेशिक राजनीति से उलझी हुई थीं। फ्रास के शासक से उसकी वंशानुगत शत्रुता थी जो उसे विरासत में प्राप्त हुई थी। किन्तु पवित्र रोमन सम्राट के चुनाव के कारण उसकी शत्रुता बढ़ गयी तथा युद्ध अवश्यम्भावी हो गया। केवल इस कारण नहीं कि फ्रांसिस प्रथम सम्राट का मुकुट प्राप्त करने में असफल हुआ, बरन् उसे देश की सुरक्षा का भी भय था। क्योंकि फ्रांस की सीमाएँ हैप्सवर्गीय राज्यों में घिरी हुई थीं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक शासक एक-दूसरे के आधीन भूमि के लिए दावा करते थे। फ्रांसिस प्रथम ने सिसली, नेपल्स तथा नवार के राज्यों पर अपने अधिकार का दावा किया, क्योंकि इनके कुछ भाग को फर्डिनेण्ड ने अपने अधिकार में लिया था। दूसरी ओर चार्ल्स पंचम भी खोये हुए प्रदेशों को पुनः प्राप्त करना चाहता था। अपने शासन के प्रथम वर्ष में फ्रांसिस ने इटली के मिलान नगर पर अधिकार कर लिया था, जो उसके पूर्वज लुई द्वादश ने सन् १५१२ ई० में खो दिया था। चार्ल्स पंचम के अनुसार यह डची रोमन साम्राज्य का एक भाग था। अतः चार्ल्स पंचम मिलान पर पुनः अपना अधिकार स्थापित करने के लिये दृढ़ संकल्प था। इसके अतिरिक्त फ्रांस के शासक लुई एकादश ने बर्गण्डी की डची पर अधिकार कर लिया था, अतः वहाँ भी चार्ल्स पुनः अपना अधिकार स्थापित करना चाहता था। इस प्रकार परस्पर विरोधी हितों तथा वंशानुगत शत्रुता के कारण दोनों के बीच युद्ध अनिवार्य था। किन्तु सन् १५१६ ई० में पवित्र रोमन सम्राट के चुनाव के कारण उनकी व्यक्तिगत शत्रुता ने इस युद्ध को शीघ्रता प्रदान की। फलस्वरूप १५२२ ई० में युद्ध का आरम्भ हुआ और बीच में कुछ विरामों के साथ यह युद्ध दोनों शासकों के शासन काल तक चलता रहा।

युद्ध का आरम्भ – चार्ल्स पंचम सम्भवतः युद्ध को टाल गया होता, किन्तु फांसिस प्रथम ने उस पर आक्रमण करने के लिये उपयुक्त अवसर समझा। क्योंकि चार्ल्स पंचम के आधीन स्पेन तथा जर्मनी में आन्तरिक विप्लव व्याप्त था। स्पेन में

स्पेनवासियों के विद्रोह तथा जर्मनी में लूथरवाद के कारण सामाजिक व्यवस्था भंग हो गयी थी। अतः ऐसी परिस्थिति में फ्रासिस प्रथम ने सन् १५२१ ई० को बसन्त ऋतु में नवार पर आक्रमण कर दिया।

चार्ल्स पंचम ने फ्रांसिस प्रथम के स्वप्नों को भंग करने के लिये उसके विरुद्ध रोम के पोप तथा इंग्लैण्ड के शासक हेनरी अष्टम के सयोग से एक संघ की स्थापना की। प्रारम्भ में फ्रासीसी सेना नवार की विजय में सफल रही, किन्तु बाद में सम्राट की सेना ने उन्हें वहाँ से खदेड़ दिया। इससे फ्रास की सैनिक शक्ति को और भी आघात लगा जब फ्रांसीसी सेनापति ड्यूक ऑव बोरबाँ सम्राट की ओर जा मिला।

इस युद्ध का प्रमुख क्षेत्र इटली रहा। सम्राट तथा पोप की सम्मिलित सेना ने फ्रांसीसियों को मिलान से खदेड़ दिया। किन्तु फ्रासीसियों ने आल्प्स पार कर उन्हे पैविया नामक स्थान पर घेर लिया। सम्राट की सेना जो यद्यपि संख्या में कम थी, सैनिक सहायता आने तक वहां पर अपना अधिकार बनाये रही। सैनिक सहायता प्राप्त होते ही उसकी शक्ति बढ़ गयी फिर उन्होंने फ्रांस की सेना को इसी स्थान पर बुरी तरह पराजित किया। इस युद्ध की बरबादी का वर्णन करते हुए फ्रांसिस ने अपनी माँ को लिखा कि "केवल मेरा सम्मान तथा जीवन शेष बचा है।" किन्तु वास्तविकता तो यह है कि जीवन के अतिरिक्त फ्रांसिस प्रथम ने सभी कुछ खो दिया था। उसके असंख्य सैनिक इस युद्ध में मारे गये अथवा बन्दी बना लिये गये। फ्रांसिस प्रथम बन्दी बना कर स्पेन ले आया गया। वहाँ कई महीने बन्दी के रूप मे रहने के पश्चात् उसने सन् १५२६ ई० में 'मैड्रिड की सन्धि' पर हस्ताक्षर करके रिहाई प्राप्त की। इस सन्धि की धाराओ के अनुसार, फ्रांसिस प्रथम ने बर्गण्डी, नीदरलैण्ड्स तथा इटली के प्रदेशों से अपने अधिकारों को त्याग दिया। इस सन्धि की पुष्टिकरण के लिए फ्रांसिस ने 'इंजील' पर शपथ ग्रहण की और वह बचन दिया कि यदि वह शर्तों को उचित समय में पूरा करने में असफल हुआ तो बन्दीगृह में पुनः लौट आयेगा। इसके सुदृढीकरण के लिए फ्रांसिस प्रथय ने चार्ल्स पंचम की बहन एलीनर से विवाह करने का भी बचन दिया। किन्तु वास्तव में फ्रांसिस सन्धि की इन धाराओं को स्वीकार करने के लिये तनिक भी इच्छुक न था और जैसे ही वह फ्रांस पहुँचा उसने सन्धि को अस्वीकार कर दिया। अतः चार्ल्स पंचम फ्रांसिस के इस व्यवहार से बहुत ही क्रोधित हुआ और उसने पुनः युद्ध के लिए चुनौती दी।

चार्ल्स पंचम के विरुद्ध संघ की स्थापना— चार्ल्स पंचम की बढ़ती हुई शक्ति से अन्य राज्य बहुत भयभीत हो गये। फ्रांसिस प्रथम ने रोम के पोप, मिलान के ड्यूक, फ्लोरेंस तथा वेनिस आदि के सहयोग से चार्ल्स पंचम के विरुद्ध एक संघ

की स्थापना की। किन्तु संघ के सदस्यों में पारस्परिक द्वेष के कारण संघ सफल न हो सका।

रोम की लूट—सन् १५२७ ई० में चार्ल्स पंचम की सेना ने, जो अधिकतर जर्मन तथा स्पेनी सैनिकों से गठित थी, प्रस्थान किया। सेना में खाद्य सामग्री तथा धन के अभाव के कारण सैनिकों ने अपनी मनमानी प्रारम्भ कर दी। रोम के पवित्र नगर में प्रवेश कर सैनिकों ने लूट-मार प्रारम्भ कर दी। इस नौ महीने की लूटमार में असंख्य व्यक्ति मारे गये। गिरजाघरों, मकबरों तथा मूर्तियों को अपमानित किया गया। यद्यपि जब सम्राट को ज्ञात हुआ तो उसने अपने सैनिकों द्वारा की गयी ज्यादतियों के प्रति चिन्ता व्यक्त की। किन्तु उसने पोप की रिहाई के लिए कोई आदेश न दिया जो 'सेन्ट एन्जिलो' के किले में बन्दी था।

फ्रांस से युद्ध तथा कैम्ब्रे की सन्धि—रोम की लूट का समाचार पाकर फ्रांसिस बहुत रुष्ट हुआ और उसने एक फ्रांसीसी सेना इटली भेजी। कुछ ही समय में उसकी सेना ने मिलान को छोड़ कर सम्पूर्ण लोम्बार्डी पर अधिकार कर लिया। फ्रांस की सफलता तथा पोप के प्रति स्पेन और इंग्लेण्ड की भावना को देख कर चार्ल्स पंचम ने हरजाना लेकर पोप को रिहा करना स्वीकार कर लिया। इसके अतिरिक्त पोप के लिये कुछ शर्तें भी रखी गयीं। जिसके अनुसार पोप भविष्य में निष्पक्ष तथा तटस्थ रहेगा और हेनरी अष्टम के विवाह-विच्छेद के सम्बन्ध में अपनी सम्मति न देगा। इसके पश्चात् चार्ल्स पंचम के भाग्य ने उसके पक्ष में करवट बदली। उसकी कुशल सेना ने फ्रांस की सेना को पराजित किया। किन्तु चार्ल्स पंचम अपनी इस विजय से पूर्ण लाभ न उठा सका। क्योंकि वह फ्रांस के विरुद्ध युद्ध स्थगित कर जर्मनी में लूथरवाद के प्रसार को रोकना चाहता था तथा तुर्कों के आक्रमण की आशंका का समाधान करना चाहता था। अस्तु कैम्ब्रे में १५२९ ई० में एक सन्धि हुई। इस सन्धि की धारायें लगभग वही थीं, जो पहले 'मैड्रिड की सन्धि' की धारायें थीं इसमें केवल अन्तर यह था कि फ्रांसिस प्रथम को बर्गण्डी की डची रखने का अधिकार प्रदान किया गया।

चार्ल्स पंचम पोप द्वारा सम्मानित—इस समय चार्ल्स पंचम अपने गौरव की चरम सीमा पर पहुँच गया था। उसका प्रमुख प्रतिद्वन्दी फ्रांसिस प्रथम पराजित हो चुका था। इस आठ वर्षों के युद्ध ने उसे इटली का स्वामी बना दिया था। नेपल्स उसके शासन के अन्तर्गत था। पोप क्लीमेंट सप्तम जिसके परिवार को चार्ल्स पंचम ने फ्लोरेन्स में प्रतिष्ठित किया था, अब उसका मित्र था। सन् १५२९ ई० में चार्ल्स पंचम ने इटली की तीर्थ-यात्रा की और बोलना (१५३० ई०) नामक स्थान पर अपने गौरव की वृद्धि की। पोप ने अपने हाथों से उसे (लोम्बार्ड) इटली का प्राचीन लौह-

मुकुट तथा रोम का शाही मुकुट प्रदान किया। इटली में पोप के द्वारा पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट के राजतिलक का यह अन्तिम अवसर था।

फ्रांस से पुनः युद्ध—कैम्ब्रे की सन्धि केवल एक विराम सन्धि सिद्ध हुई। फ्रांसिस प्रथम ने चार्ल्स पंचम के विरुद्ध स्कॉटलैण्ड, स्वीडेन, डेनमार्क, तुर्की एव पवित्र रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत प्रोटेस्टेण्ट राज्यों के साथ मिलकर एक संघ की स्थापना की। फ्रांसिस प्रथम इटली की विजय के स्वप्न को अभी भूला नहीं था तथा उसे साकार करने के लिये उसने इटली की राजकुमारी मेरी द मेडिचि के साथ अपने ज्येष्ठ पुत्र हेनरी का विवाह भी सम्पन्न कर दिया। मिलान के प्रश्न पर चार्ल्स एव फ्रासिस प्रथम के बीच पुनः युद्ध प्रारम्भ हो गया। यह युद्ध दो वर्षों (सन् १५३६-१५३८ ई०) तक चलता रहा और 'नीस की सन्धि' द्वारा इसका अन्त हुआ। किन्तु यह सन्धि भी स्थायी न सिद्ध हो सकी तथा सन् १५४२ ई० में इन दोनों के मध्य पुनः युद्ध प्रारम्भ हो गया। इस युद्ध का अन्त सन् १५४४ ई० में 'क्रिस्पी की सन्धि' के द्वारा हुआ। नेपल्स तथा मिलान पर चार्ल्स पंचम का अधिकार बना रहा। केवल बोलान (जो अब इग्लैण्ड के अधीन हो गया था) के अतिरिक्त फ्रास की सीमा मे कोई परिवर्तन न आया। इस प्रकार फ्रांस के विरुद्ध युद्धों में चार्ल्स पंचम सफल रहा तथा उसके गौरव की वृद्धि हुई।

स्पेन-फ्रांस के युद्धों के परिणाम—स्पेन के गौरव की वृद्धि के अतिरिक्त चार्ल्स पंचम तथा फ्रासिस प्रथम के इन दीर्घकालीन युद्धों ने 'शक्ति सन्तुलन' को बनाये रखा तथा .प्सवर्ग राजवंश के साम्राज्य को फ्रांस के शासक के हस्तक्षेप से सुरक्षित रखा। इन युद्धों ने पूर्वी यूरोप में तुर्कों के उत्कर्ष को प्रोत्साहन प्रदान किया तथा फ्रास-तुर्की मित्रता ने फ्रांसीसी व्यापार एव वाणिज्य को उन्नतिशील बनाया। इसके अतिरिक्त इन दीर्घकालीन युद्धों में व्यस्त रहने के कारण चार्ल्स पंचम जर्मनी की ओर अपना ध्यान आकृष्ट न कर सका। जिसके परिणामस्वरूप जर्मनी में प्रोटेस्टेण्टवाद के प्रसार के लिये स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ।

तुर्कों से युद्ध :

चार्ल्स पचम के सम्राज्य को तुर्कों से अत्यधिक भय था। उस्मान आटोमन तुर्कों का सबसे शक्तिशाली नेता था। यह वास्तव में एशिया का एक छोटा कबीला था, जिसने इस्लाम स्वीकार कर लिया था। योग्य नेता एवं नेतृत्व के फलस्वरूप इस कबीले ने अपनी शक्ति एशिया महाद्वीप पर स्थापित कर ली। अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिये १४ वी शताब्दी के मध्य इन्होंने बासफोरस पार कर यूरोप में अपनी शक्ति स्थापित करने का प्रयास किया। इस समय पूर्वी अथवा बाइजेन्टाइन साम्राज्य का शीघ्रता से पतन हो रहा था, अतः वे तुर्क आक्रमणकारियों का सामना न कर

सके और कुछ ही समय में कुस्तुनतुनिया को छोड़ कर सभी स्थानों पर तुर्कों का अधिकार स्थापित हो गया। अन्त में, सन् १४५३ में कुस्तुनतुनिया भी ईसाइयों के अधिकार से निकल कर तुर्कों के अधीन आ गया। इसके पश्चात् अब तुर्कों ने बाल्कन द्वीप के विभिन्न प्रदेशों के सुदृढ़ीकरण का प्रयास किया।

सुलेमान महान के शासन काल (१५२० ई०-१५६६ ई०) में तुर्की साम्राज्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। सुलेमान ने लगभग अर्द्ध शताब्दी तक शासन किया। इससे पूर्ववर्ती सुल्तान सलीम ने मिस्र को विजय कर उसे तुर्की साम्राज्य में मिला लिया था। सिंहासन पर आरूढ़ होते ही सुलेमान ने दो महत्वपूर्ण प्रदेशों को तुर्की साम्राज्य में मिलाया। सन् १५२१ ई० में उसने हंगरी के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया, क्योंकि सिंहासनारोहण पर उसने बधाई नहीं भेजी थी और हंगरी के प्रमुख दुर्ग बेलग्रेड का घेरा डाल कर उसे अपने अधिकृत कर लिया। इसके पश्चात् दूसरे वर्ष उसने रोड्स के द्वीप पर अधिकार कर लिया, जो मुस्लिम वाणिज्य पर अधिकार करने का स्थान था। इसके पश्चात् सुलेमान ने साम्राज्य विस्तार के लिये युद्ध जारी रखा तथा सन् १५२६ ई० में मोहाक्स का निर्णायक युद्ध हुआ। इस युद्ध में ईसाई सैनिक बुरी तरह पराजित हुये। हंगरी का शासक लुई द्वितीय युद्ध स्थल से भागते समय डूब कर मर गया। इस प्रकार हंगरी के पश्चिमी भाग को छोड़कर सुलेमान सम्पूर्ण हंगरी का स्वामी हो गया।

किन्तु हंगरी के स्वर्गीय शासक के निकट सम्बन्धी आस्ट्रिया के आर्चड्यूक फर्डिनेण्ड ने हंगरी के सिंहासन पर अपने अधिकार का दावा किया। फर्डिनेण्ड ने आक्रमण कर बूडापेस्ट (Budapest) पर अधिकार कर लिया तथा सुलेमान के प्रतिनिधि शासक को पदच्युत कर दिया। बूडापेस्ट को पुनः अधिकृत कर सुल्तान सुलेमान न सन् १५२९ ई० में फर्डिनेण्ड ने आस्ट्रियन साम्राज्य की राजधानी वियना का घेरा डाल दिया तथा उस पर बमों की वर्षा की। आस्ट्रिया की सेना ने बड़ी वीरतापूर्वक अपनी राजधानी की रक्षा की और सुलेमान को घेरा उठा लेना पड़ा। किन्तु तीन वर्षों के ही पश्चात् वह एक विशाल सेना के साथ वियना के निकट आ पहुँचा। इस बार चार्ल्स पंचम ने स्वयं सेना एकत्रित कर रखी थी। इस प्रकार सन् १५३३ ई० में एक संधि हुई जिसके द्वारा हंगरी को सुल्तान सुलेमान तथा फर्डिनेण्ड में बाँट दिया गया। किन्तु फर्डिनेण्ड इस विभाजन से सतुष्ट न था। अतः उसने सन् १५४० ई० में सम्पूर्ण हंगरी पर अधिकार स्थापित करने का प्रयास किया। फलस्वरूप सन् १५४१ ई० में पुनः सुलेमान ने फर्डिनेण्ड को पराजित करने के लिये बूडापेस्ट पर आक्रमण किया और तत्पश्चात् हंगरी के अधिकांश भाग को विजित कर लिया। अंत में, सन् १५४७ ई० में चार्ल्स पंचम तथा उसके भाई फर्डिनेण्ड ने बाध्य होकर हंगरी पर तुर्कों के आधिपत्य

को स्वीकार कर लिया तथा फर्डिनेण्ड ने तुर्की सुल्तान को ३३,००० डूकाट वार्षिक कर के रूप में देने का वचन दिया। इस प्रकार सुल्तान सुलेमान महान् ने हंगरी की पुर्नप्राप्ति के लिये केवल अपने प्रतिद्वन्दियों के प्रयासों को विफल ही नहीं किया, वरन् हैप्सवर्ग परिवार के वंशानुगत आस्ट्रियन साम्राज्य के लिये एक खतरा बना रहा।

इसी बीच यूरोप को सुलेमान महान् के सरदार खैरेद्दीन बारबरोसा के अत्याचारों का सामना करना पड़ा। उसका कार्यक्षेत्र अल्जीरिया तथा ट्यूनिस था। उसने स्पेन से निष्कासित मूरों की सहायता से यूरोप के भूमध्य सागरीय प्रदेशों में लूट-मार प्रारम्भ कर दी। उसने बहुत से निवासियों की हत्या करवा दी तथा हजारों ईसाइयों को दासता के बन्धन में जकड़ दिया। सुलेमान महान् से नाविक-शक्ति प्राप्त कर उसने अपना यह कार्यक्रम चालू रखा। चार्ल्स पंचम जो अपने आप को ईसाइयों का रक्षक मानता था, उसने इन लुटेरों से भूमध्यसागर के निवासियों को मुक्ति दिलाने का निश्चय किया। चार्ल्स पंचम ने बारबरोसा के विरुद्ध ३०,००० सैनिक तथा तीन सौ जहाजों का एक बेड़ा भेजा जिसे उसने साम्राज्य के विभिन्न भागों से एकत्र किया था। सन् १५३५ ई० में चार्ल्स पंचम ने बारबरोसा की सेना को पराजित कर ट्यूनिस पर अधिकार कर लिया तथा जो ईसाई बन्दी बना लिये गये थे उन्हें स्वतन्त्रता प्रदान की। चार्ल्स पंचम ने लगभग २२,००० सह-धर्मियों को स्वतन्त्र कर अपने जीवन के सर्वोच्च सुख की अनुभूति की। इसके पश्चात् उसने अल्जीरिया पर भी आक्रमण करने का निश्चय किया किन्तु फ्रांस के विरुद्ध युद्ध में व्यस्त हो जाने के कारण वह अपने संकल्प को पूर्ण न कर सका। यद्यपि उसने सन् १५४१ ई० में अल्जीरिया पर आक्रमण किया किन्तु असफल होकर उसे स्वदेश वापस लौट जाना पड़ा।

इंग्लैण्ड से सम्बन्ध :

स्पेन के शासक फर्डिनेण्ड तथा इजाबेला ने अपनी एक पुत्री का विवाह युवराज आर्थर के साथ सम्पन्न किया था। किन्तु आर्थर की मृत्यु के पश्चात् कैथरीन का दूसरा विवाह इंग्लैण्ड के शासक हेनरी अष्टम् के साथ हुआ। इस प्रकार इंग्लैण्ड के शासक हेनरी अष्टम् की पत्नी कैथरीन चार्ल्स पंचम की मौसी थी। प्रारम्भ में चार्ल्स पंचम इंग्लैण्ड को नगण्य समझ कर उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखता रहा किन्तु हेनरी अष्टम् का मंत्री कार्डिनल टॉमस वूल्जे बड़ा महत्वाकांक्षी था तथा दीर्घकाल तक अपने पद पर बना रहा। उसने चार्ल्स पंचम तथा फ्रांसिस प्रथम के संघर्ष को इंग्लैण्ड के उत्कर्ष के लिये स्वर्ण अवसर समझा। उसने यूरोप में इंग्लैण्ड के गौरव की वृद्धि तथा 'शक्ति सन्तुलन' की रक्षा के लिये कभी चार्ल्स पंचम का पक्ष लिया और कभी फ्रांसिस प्रथम का। क्योंकि इस नीति के द्वारा वूल्जे को यूरोप का निर्णायक बनने की सम्भावना थी।

प्रारम्भ में वुल्जे का सुझाव फांसिस प्रथम की तुलना में चार्ल्स पंचम की ओर

अधिक था। क्योंकि एक तो इन दोनों राजवंशों के मध्य वैवाहिक सम्बन्ध थे तथा दूसरे नीदरलैण्ड्स से व्यापार के लिये यह आवश्यक था कि वह चार्ल्स पंचम से घनिष्ट तथा मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करे। इसके अतिरिक्त चार्ल्स पंचम के द्वारा ही रोम में वूल्जे की पोप बनने की महत्वाकांक्षा की पूर्ति सम्भव थी। यद्यपि कुछ समय के लिये वूल्जे ने फ्रांस से मित्रता दिखाई और सन् १५२० ई० में हेनरी अष्टम् तथा फ्रांसिस प्रथम की भेंट भी हुई। किन्तु हेनरी अष्टम् तथा वूल्जे ने चार्ल्स पंचम की सहायता के लिये सेना भेजी जो अधिक प्रभावशाली न सिद्ध हुई। सन् १५२७ ई० में रोम की लूट के पश्चात् वह सेना अचानक सम्राट के पक्ष से फ्रांसिस प्रथम के पक्ष में नियुक्त कर दी गई।

हेनरी अष्टम् की वैवाहिक कठिनाइयों ने परिस्थिति अत्यन्त जटिल बना दी। क्योंकि हेनरी अष्टम् अपनी पत्नी कैथरीन से विवाह-विच्छेद कर पोप से उसकी पुष्टि कराना चाहता था। किन्तु चार्ल्स पंचम इस विवाह-विच्छेद का घोर विरोधी था, जिसके प्रभाव के कारण पोप अनुमति न दे सका। कार्डिनल वूल्जे विवाह-विच्छेद के पक्ष में था और उसकी इच्छा थी कि इसके पश्चात् हेनरी अष्टम् फ्रांसीसी राजकुमारी से विवाह करे, जिससे 'शक्ति सन्तुलन के रक्षक' के रूप में इंग्लैण्ड के गौरव की वृद्धि हो। किन्तु हेनरी अष्टम् एनी बोलेन से विवाह करने के लिये दृढ़ संकल्प था और उसने उससे विवाह सम्पन्न किया। इस विवाह के हो जाने से वूल्जे बहुत अपमानित हुआ, फ्रांसिस प्रथम को निराशा हुई, चार्ल्स पंचम कुख्यात हुआ तथा इंग्लैण्ड कुछ समय के लिये अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रमुख भूमिका से हट गया।

हेनरी अष्टम् के शासन के अन्तिम समय में इंग्लैण्ड तथा फ्रांस के सम्बन्ध पर्याप्त रूप से सुधर गये थे तथा जब कैथरीन की पुत्री मेरी ट्यूडर सन् १५५३ ई० में सिंहासनारूढ़ हुई तो यह सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ तथा मैत्रीपूर्ण हो गये। फलस्वरूप चार्ल्स पंचम के पुत्र तथा उत्तराधिकारी फिलिप द्वितीय का विवाह भी मेरी ट्यूडर से सम्पन्न हो गया। अतः मेरी ट्यूडर के शासन काल (सन् १५५३ ई०–१५५८ ई०) में इंग्लैण्ड की नीति स्पेन के अनुकूल थी।

चार्ल्स पंचम के अन्तिम वर्ष :

चार्ल्स पंचम सन् १५४५ ई० के लगभग अपने गौरव एवं शक्ति की चरम सीमा पर पहुँच गया था। सन् १५४५ ई० के पश्चात् उसके प्रमुख प्रतिद्वन्दी फ्रांसिस प्रथम के निर्बल हो जाने से फ्रांस की ओर से शान्ति थी तथा सन् १५४७ ई० में फ्रांसीसी शासक फ्रांसिस प्रथम तथा इंग्लैण्ड के शासक हेनरी अष्टम् की मृत्यु के कारण यूरोप के ईसाई राज्यों में शान्ति की आशा थी। साथ ही, इसी वर्ष तुर्की सुल्तान से पंचवर्षीय विराम सन्धि के फलस्वरूप चार्ल्स पंचम उसके आक्रमण के भय से भी निश्चिन्त हो गया था। अब स्पेन में चार्ल्स पंचम की शक्ति सुदृढ़ रूप से

स्थापित थी तथा इटली में उसके राजप्रतिनिधि भी काफी प्रभावशाली थे। जर्मनी में भी उसकी स्थिति उसके पक्ष में दिखाई दे रही थी। उसने प्रोटेस्टेन्ट राजकुमारों के संघ के विरोध का दमन कर उसके दो राजकुमारों फ्रेडरिक तथा फिलिप को कैद कर लिया था। किन्तु चार्ल्स पंचम के लिये धर्म-सुधार आन्दोलन के विरुद्ध सफलता की आशा एक भुलावा मात्र थी। सन् १५५० ई० के पश्चात् उसके भाग्य ने मोड़ लिया तथा वह प्रत्येक दिशा से आपत्तियों द्वारा घिर गया। वह जर्मनी में धर्म-सुधार सम्बन्धी प्रश्न का कोई हल न निकाल सका। जिसके कारण प्रोटेस्टेन्टों तथा कैथोलिकों में पूर्ववत् घृणा एवं संघर्ष चलता रहा। यद्यपि चार्ल्स पंचम ने समस्त जर्मन राज्यों को एक संघ के द्वारा एकीकृत करने का प्रस्ताव रखा, किन्तु 'डायट' के सदस्यों ने इसे स्वीकृति न प्रदान की। फ्रांस के शासक हेनरी द्वितीय, ने जो चार्ल्स पंचम का घोर विरोधी था, जर्मनी के प्रोटेस्टेन्ट राजकुमारों के साथ मिलकर एक समझौते पर हस्ताक्षर किया। जिसके अनुसार हेनरी द्वितीय ने प्रोटेस्टेन्ट राजकुमारों को सम्राट के विरुद्ध सहायता का वचन दिया तथा राजकुमारों ने इस सहायता के बदले हेनरी द्वितीय को मेत्ज, तूल तथा वर्दून देने का वचन दिया। जब हेनरी द्वितीय इन प्रदेशों पर अधिकार करने चला तो चार्ल्स पंचम को बाध्य होकर उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा करनी पड़ी। इसके अतिरिक्त चार्ल्स पंचम के विरुद्ध इटली में भी विद्रोह हो गया तथा भूमध्यसागर के तटीय प्रदेशों में तुर्की सुल्तान के सेनापति शक्ति-विस्तार के प्रयास में लगे हुए थे।

चार्ल्स पंचम का शासन से सन्यास ग्रहण करना—चार्ल्स पंचम के उत्साह तथा स्वास्थ्य में ह्रास के कारण उसके लिये इन कठिन परिस्थितियों का सामना करना सम्भव न था। उसने दीर्घकाल तक यूरोप में प्रभुता, शान्ति तथा धार्मिक एकता स्थापित करने का प्रयास किया था। किन्तु उसके सभी प्रयास निष्क्रिय सिद्ध हुए। अब वह सक्रिय राजनीति से पृथक् होकर अपने जीवन के शेष वर्षों को शान्तिपूर्ण तथा एकान्तमय वातावरण में व्यतीत करना चाहता था। उसका पुत्र फिलिप द्वितीय तथा भाई फर्डिनेण्ड शासन का भार स्वीकार करने के लिये तत्पर थे। चार्ल्स पंचम ने शासन के रूप में अपनी जीवन-क्रिया नीदरलैण्ड्स से प्रारम्भ की थी तथा संयोगवश उसे समाप्त करने का सर्वप्रथम प्रयास भी वहीं किया। सन् १५५५ ई० की शरद् ऋतु में उसने अपने पुत्र फिलिप को ब्रसेल्स में बुलकार उसे नीदरलैण्ड्स का शासन-भार सौंप दिया तथा उसने वहाँ की जनता से अपने पुत्र के प्रति प्रेम तथा आज्ञा-पालन की प्रार्थना की। सम्राट के इन शब्दों ने लोगों का हृदय ग्राह लिया। दुःख से लोग रोने लगे। दूसरे वर्ष सन् १५५६ ई० में उसने अपने भाई फर्डिनेण्ड को पवित्र रोमन साम्राज्य का अधिकारी घोषित किया। इसी वर्ष उसने स्पेन तथा इटैलियन प्रदेशों का

अधिकार अपने पुत्र फिलिप को प्रदान कर शासन से सन्यास ले लिया। चार्ल्स पंचम ने अपने जीवन के शेष दो वर्ष स्पेन के एक मठ में व्यतीत किये, जहाँ अध्ययन तथा आध्यात्मिक कार्यों में संलग्न रह कर उसे सुख तथा शान्ति की अनुभूति हुई। २१ सितम्बर सन् १५५८ ई० को चार्ल्स पंचम इस नश्वर संसार से विदा हो गया।

चार्ल्स पंचम का चरित्र :

चार्ल्स पंचम न तो महान् था और न ही उसमें मौलिकता की झलक थी। यद्यपि उसमें कर्तव्य परायणता, विचारों की सत्यता; उच्चस्तरीय सैनिक गुण तथा शान्तमय साधारण ज्ञान की प्रचुरता थी। किन्तु वह स्वभाव से बहुत हठी था। वह स्वय यह कहा करता था कि "मैं अपने विचारों में दृढ़ रहने के लिये प्रकृति से हठी हूँ।" वह जो सोचता था केवल उसी को उचित स्वीकार कर उस पर दृढ़ रहता तथा उसके पालन में प्रयत्नशील हो जाता था। उसके उद्देश्य की सत्यता में कोई शंका नहीं है, किन्तु वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति में अधिकतर समय के विपरीत चला जाता था। वह तीव्र परिवर्तनशील युग की राजनीति तथा धर्म में प्राचीन आदर्शों को प्रतिष्ठित करना चाहता था। यद्यपि लूथरवाद की जड़ें जर्मनी में काफी दृढ़ हो चुकी थी किन्तु वह धार्मिक एकता की स्थापना के लिये प्रयास करता रहा तथा इसके लिये उसने शक्ति का भी उपयोग किया। नेपोलियन बोनापार्ट के विचार से, "जिस समय जर्मनी में लूथरवाद की स्थापना हो गई थी चार्ल्स पंचम ने लूथरवाद स्वीकार न कर एक महान् भूल की तथा उसने संयुक्त जर्मनी का नेता बनने का एक स्वर्ण अवसर खो दिया।"

संस्कृति में वह अपने युग की उत्पत्ति था। वह एक धर्म परायण कैथोलिक था। किन्तु कैथोलिक होते हुए भी चर्च के अन्तर्गत कुछ रूढ़िवादी सुधारों के पक्ष में था। वह एक मानववादी था तथा उसने प्राचीन साहित्य का अध्ययन किया था। ग्रीक तथा लैटिन भाषाओं का उसे अच्छा ज्ञान था। पुनर्जागरणकालीन कला और विशेषकर चित्रकला तथा संगीत में उसकी विशेष अभिरुचि थी। वैज्ञानिक प्रगति के प्रति भी उसकी कुछ रुचि थी, किन्तु अपने समकालीन शासकों की भाँति ज्योतिष में उसका अधिक विश्वास था। उसने अपनी व्यापारिक तथा आर्थिक नीति के द्वारा जर्मनी तथा नीदरलैण्ड्स में पूँजीवाद के विकास को सहयोग प्रदान किया। उसने स्पेन के सामुद्रिक विस्तार को प्रोत्साहन प्रदान किया तथा नई दुनियाँ में बसने वाले यूरोपीय उपनिवेशों के लिए प्रथम विधि-संग्रह का निर्माण किया।

———

अध्याय ६

फिलिप द्वितीय

(PHILIP II, 1556-1598)

फिलिप द्वितीय का जन्म तथा प्रारम्भिक जीवन :

फिलिप द्वितीय का जन्म वेलाडॉलिड मे २७ मई, १५२७ ई० को हुआ था। सन् १५४३ ई० में १६ वर्ष की अवस्था मे फिलिप द्वितीय का विवाह पुर्तगाल की राजकुमारी मेरिया से हुआ था। किन्तु सन् १५४५ ई० में प्रथम शिशु को जन्म देते ही मेरिया की मृत्यु हो गई और उसका शिशु भी बहुत दु:खी एव अभाग्यशाली सिद्ध हुआ। फिलिप की प्रथम पत्नी मेरिया की मृत्यु के पश्चात् उसका पिता चार्ल्स पंचम अपने पुत्र के लिये दूसरे लाभ दायक विवाह से प्रयास में लगा हुआ था, जिससे उसके राजवंश की प्रतिष्ठा में वृद्धि हो। अन्त में, चार्ल्स पंचम ने इंग्लैण्ड की महारानी मेरी ट्यूडर को अपने पुत्र के लिए चुना। यद्यपि फिलिप द्वितीय को यह सूचना प्राप्त हो चुकी थी कि उसकी होने वाली मेरी ट्यूडर अत्यन्त अनाकर्षक तथा दुबली-पतली है, किन्तु उसने कोई विरोध न प्रकट किया। वरन् उसने एक आज्ञापालक पुत्र की भाँति अपने पिता को लिखा कि "मैं इस विवाह के सफलतापूर्वक सम्पन्न होने तथा उसके द्वारा होने वाले लाभों की प्रतीक्षा में हूँ।" यद्यपि इंग्लैण्ड के लोगों ने प्रारम्भ में इस विवाह का विरोध किया, किन्तु अन्त में उन्होने कुछ शर्तों के साथ सहमति प्रदान की। जिसके अनुसार, फिलिप का इंग्लैण्ड के शासन में कोई भाग न होगा और न ही उसके देशवासी किसी पद पर नियुक्त किये जायेंगे। इस प्रकार, जुलाई १५५४ ई० में फिलिप का विवाह इंग्लैण्ड की महारानी मेरी ट्यूडर से सम्पन्न हुआ।

फिलिप द्वितीय का सिंहासनारोहण :

फिलिप द्वितीय अपने पिता सम्राट चार्ल्स पंचम का एक मात्र पुत्र होते हुए भी उसके समस्त हैप्सबर्ग साम्राज्य का उत्तराधिकारी न हो सका। क्योंकि फिलिप ने अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों मे ही अपने छोटे भाई फर्डिनेण्ड को आस्ट्रिया की आर्चडची तथा उसके अधीनस्थ प्रदेशों का शासन-भार सौंप दिया था। वैवाहिक सम्बन्धों के द्वारा फर्डिनेण्ड ने बोहेमिया तथा हंगरी के भू-भागों पर भी अधिकार प्राप्त कर लिया था। फर्डिनेण्ड ही पवित्र रोमन सम्राट के पद का भी

उत्तराधिकारी हुआ। जब चार्ल्स पंचम के उत्साह तथा स्वास्थ्य में ह्रास के कारण शासन प्रबन्ध करना कठिन हो गया तो उसने सन् १५५५ ई० को शरद् ऋतु में अपने पुत्र फिलिप को ब्रसेल्स में बुलवाकर उसे नीदरलैण्ड्स का शासन-भार सौंप दिया तथा वहाँ की जनता से अपने पुत्र के प्रति भक्ति तथा आज्ञापालन की प्रार्थना की। इसके पश्चात् दूसरे वर्ष सन् १५५६ ई० में चार्ल्स पंचम ने स्पेन तथा इटैलियन प्रदेशों का अधिकार भी अपने पुत्र फिलिप को प्रदान कर शासन से सन्यास ले लिया। इस प्रकार, १५५६ ई० में फिलिप द्वितीय का स्पेन के शासक के रूप में सिंहासनारोहण हुआ।

फिलिप द्वितीय की नीति :

मूल रूप में फिलिप द्वितीय की नीति अपने पिता सम्राट चार्ल्स पंचम के ही समान थी। अपने पिता की ही भाँति उसने भी यूरोप में स्पेन की प्रभुता स्थापित करने तथा साम्राज्य के अधीनस्थ प्रदेशों पर अपना अधिकार बनाने रखने का प्रयास किया। क्योंकि स्पेन की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई शक्ति से चिंतित होकर अन्य यूरोपीय देश उसको सीमित करने के प्रयास में लगे हुये थे। जिसके कारण फिलिप द्वितीय को लगातार युद्धों में व्यस्त रहना पड़ा। यद्यपि चार्ल्स पंचम ने अपने पुत्र फिलिप को यह मन्त्रणा दी थी कि सम्भव हो सके ही वह इन युद्धों से बचे। किन्तु फिलिप द्वितीय जिन उद्देश्यों की पूर्ति में लीन था उसके लिये युद्ध अवश्यम्भावी था।

फिलिप द्वितीय का दूसरा प्रमुख उद्देश्य कैथोलिक धर्म को प्रतिष्ठा को बनाये रखना था। उसकी माता ने उसे कैथोलिक धर्म के प्रति सच्ची भक्ति तथा उसके पिता ने कैथोलिक विश्वास में दृढ़ रहने का उपदेश दिया था। फिलिप का विश्वास था कि ईश्वर ने उसे विश्व में बुराइयों के दमन के लिये चुना है और रोमन कैथोलिक चर्च का विरोध करना भी एक बुराई है। अतः कैथोलिक चर्च की प्रतिष्ठा स्थापित करना उसका एक प्रमुख उद्देश्य था और इसके लिये वह प्रत्येक अधार्मिकता का दमन करना वह अपना परम कर्तव्य समझता था। वह कहा करता था कि "मैं रेगिस्तान में शासन करना स्वीकार करूँगा अपेक्षाकृत अधर्मियों के देश में शासन करने के।" इस कथन से ज्ञात होता है कि वह राजनीति को धर्म की बेदी पर चढ़ा सकता था। उसके अनुसार सुधारकों के विचार केवल नास्तिकतापूर्ण ही नहीं थे, वरन् वे उसकी प्रभुसत्ता के भी विरोधी थे। अतः उसने स्पेन तथा अन्य अधीनस्थ प्रदेशों में इन सुधारकों के कठोरतापूर्वक दमन के लिये आदेश जारी किया। इसके लिये धार्मिक न्यायालयों को प्रमुख अस्त्र के रूप में उपयोग किया गया।

किन्तु फिलिप द्वितीय का धार्मिक उत्साह तथा धार्मिक कट्टरता उसे पोप के साथ संघर्ष से अलग न रख सकी जब तक पोप फिलिप की नीति का पूर्णतः समर्थक

था तब तक फिलिप द्वितीय उसका मित्र था। किन्तु जब पोप ने उसके विरुद्ध विरोध प्रगट किया अथवा उसकी सहायता करने में उदासीनता दिखाई तो उससे पोप से कठोरतापूर्वक बदला लिया। फिलिप को पोप के धर्म से बहिष्कृत करने के अधिकार से कोई भय न था किन्तु वह इसमें एक अवरोध उत्पन्न करना चाहता था। उसे पोप के इस असीमित अधिकार के प्रति ईर्ष्या हो गई। अतः उसने यह माँग रखी की पोप केवल उसी के द्वारा ही स्पेन में अपनी शक्ति का प्रयोग करेगा। इससे अतिरिक्त उसने साम्राज्य का समस्याओं में उसी सीमा तक चर्च के प्रमुख का हस्तक्षेप स्वीकार किया, जहाँ तक वे उसके अधिकारों को विरोधी नहीं थीं। वह अपने मे अडिग एवं अपरिवर्तनशील था। उसने इसके लिये प्रयास किया कि पोप बिना उसकी आज्ञा अथवा उसके द्वारा परीक्षण के उसके राज्य में कोई पत्रांक प्रकाशित न करे। किन्तु जब 'ट्रेन्ट की कौंसिल' के आदेश प्रकाशित हुये तो उसने उन्हें केवल उसी सीमा तक स्वीकार किया जहाँ तक वे शाही विशेपाधिकारों के विरोधी नहीं थे।

संक्षेप में, फिलिप द्वितीय एक ओर तो यूरोप में स्पेन की शक्ति एवं गौरव की प्रतिष्ठा चाहता था तथा दूसरी ओर वह एक कट्टर कैथोलिक के रूप में समस्त यूरोपीय देशों में कैथोलिक चर्च की पुनर्स्थापना का इच्छुक था। इस प्रकार उसके यह दो परस्पर विरोधी उद्देश्य थे—एक राष्ट्रीयता तथा दूसरा अन्तर्राष्ट्रीयता पर आधारित था। इस कारण उसके इन उद्देश्यों की कम आशा थी तथा साथ ही साथ उनकी अनेक जटिल समस्याओं ने इनकी सफलता को और भी कठिन एवं दुष्कर बना दिया।

फिलिप द्वितीय की समस्यायें :

आन्तरिक समस्याओं के अन्तर्गत फिलिप द्वितीय को सर्वप्रथम मॉरिकस अथवा परिवर्तित मूरों के विद्रोह का सामना करना पड़ा। यह दक्षिण-पूर्वी प्रदेशों में निवास करते थे। उनका प्रमुख व्यवसाय सिल्क की बुनाई तथा कृषि था, क्योंकि अन्य व्यवसाय इनके लिये निषिद्ध घोषित कर दिये गये थे। उनको समाज में बहुत हेय दृष्टि से देखा जाता था। बाध्य होकर मूर जाति के लोग ईसाई धर्म स्वीकार कर वाह्य रूप से कैथोलिक चर्च की रीतियों का पालन करने लगे। किन्तु हृदय से उन्हें अपने प्राचीन धर्म तथा मुरिश सभ्यता के प्रति बड़ा प्रेम था। अस्तु, उसके प्रति ईसाइयों की शंका स्वाभाविक ही थी। स्पेनियों ने इनको (मूरों) तुर्क समर्थक समझकर इन्हें विश्वासघाती भी कहा। इसके अतिरिक्त स्पेनियों ने आर्थिक दृष्टि से भी मूरों का विरोध किया। क्योंकि मूर कम वेतन पर कार्य करने के लिये प्रस्तुत थे तथा व्यापार में कम लाभ होने से भी सन्तुष्ट थे। अन्त में फिलिप द्वितीय ने स्पेन के कुलीन

वर्ग की मूर-विरोधी माँगों को स्वीकार कर १५६६ ई० में एक आदेश जारी किया जिसके अनुसार उनके लिये अरबी भाषा का प्रयोग निषिद्ध घोषित किया गया तथा सभी मूरों को तीन वर्ष में कैस्टीलियन भाषा सीखने का आदेश दिया गया। इतना ही नहीं मूरों की वेश-भूषा तथा रीति-रिवाजों पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। उनकी स्त्रियों को समाज में निकलने के लिये पर्दे का प्रयोग निषिद्ध कर दिया गया। मूरों के नामों पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया तथा उनके लिये स्नान भी वर्जित घोषित कर दिया गया। मूरों ने अपने इन परम्पराओं तथा रीति-रिवाजों के रक्षार्थ आवाज उठाई। किन्तु फिलिप द्वितीय ने कोई ध्यान नहीं दिया। अस्तु, उन्होंने बाध्य होकर सन् १५६६ ई० में विद्रोह कर ग्रेनाडा पर आक्रमण कर दिया। दो वर्षों तक यह विद्रोह दबाया न जा सका। प्रारम्भ में मूरों को सफलता भी प्राप्त हुई, जिनमें उन्होंने बहुत से ईसाइयों को बन्दी बना कर उन्हें अफ्रीका में बेच दिया। अन्त में, फिलिप द्वितीय ने अपने सौतेले भाई डॉन जॉन को भेजा, जिसने सफलतापूर्वक मूरों के इस विद्रोह का दमन कर दिया। इसके पश्चात् फिलिप द्वितीय ने एक आदेश जारी किया जिनके अनुसार, मूरों को ग्रेनाडा छोड़ने के लिये बाध्य किया गया और उनके पुनः वापस लौटने का परिणाम मृत्यु-दण्ड था। इस प्रकार, वे ग्रेनाडा छोड़कर अन्य स्थानों में जाकर बसने लगे। किन्तु मूरों के इस निष्कासन का बहुत आर्थिक महत्व है क्योंकि उस क्षेत्र का व्यापार एवं उद्योग इन्हीं के हाथों में था। अतः उनके चले जाने से ग्रेनाडा की समृद्धि समाप्त हो गई।

दूसरी प्रमुख आन्तरिक समस्या आर्थिक थी। स्पेन का आर्थिक ढाँचा बहुत ही त्रुटिपूर्ण सिद्धान्तों पर आधारित था। क्योंकि स्पेनियों का यह विचार था कि बिना प्राकृतिक साधनों के विकास के ही आर्थिक विकास सम्भव है। उन्होंने अमेरिका से प्राप्त धन-समृद्धि का पर्याप्त साधन समझकर कृषि तथा उद्योग-धन्धों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। परिणामस्वरूप औद्योगिक विकास के अभाव में देश निर्धन होने लगा। फिलिप की मूर तथा यहूदी-विरोधी नीति के द्वारा भी आर्थिक विकास को आघात लगा। इसके अतिरिक्त त्रुटिपूर्ण कर-पद्धति के कारण भी आर्थिक स्थिति में कोई सुधार न हो सका।

फिलिप द्वितीय की तीसरी प्रमुख समस्या नीदरलैण्ड्स का विद्रोह था। इस विद्रोह का प्रारम्भ सन् १५६६ ई० में हुआ और फिलिप द्वितीय इस भयंकर विद्रोह के दमन करने में जीवन पर्यन्त लगा रहा, किन्तु उसके सभी प्रयास विफल हुए।

इसके अलावा वाह्य समस्याओं के अन्तर्गत फिलिप द्वितीय को अनेक

कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। वह वह स्पेन को यूरोप के सर्वशक्तिशाली राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहता था तथा प्रोटेस्टेन्टवाद का अन्त कर वह समस्त यूरोपीय देशों में कैथोलिक चर्च को पुनः स्थापित करना चाहता था। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उसे फ्रांस, इंग्लैण्ड तथा तुर्की के विरुद्ध अनेक युद्धों में भाग लेना पड़ा।

उसकी दूसरी प्रमुख समस्या भूमध्यसागर में तुर्कों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई शक्ति को रोकना था। क्योंकि सन् १५७० ई० में तुर्की सुल्तान सुलीम ने साइप्रस पर भी अधिकार कर लिया था। अस्तु, फिलिप द्वितीय को तुर्कों के आक्रमण की आशका बनी हुई थी।

सन् १५८० ई० में पुर्तगाल के शासक सेबस्टियन (Sebastian) की मृत्यु हो गई। इस शासक के कोई सन्तान न थी। अतः उत्तराधिकार का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। फिलिप द्वितीय ने पुर्तगाल को अपने साम्राज्य में मिलाने का प्रयास किया।

स्पेन का शासन :

फिलिप द्वितीय स्पेन को यूरोप के सर्वश्रेष्ठ राष्ट्र का रूप देने का इच्छुक था। इस समय स्पेन अनेक राज्यों में विभक्त था तथा अधिकतर प्रदेशों में पूर्व स्थापित सभायें अब भी क्रियाशील थीं। फिलिप द्वितीय को विभिन्न प्रदेशों मे विविध व्यवस्थायें असह्य थीं। वह समस्त स्पेन की शासन-व्यवस्था में एकरूपता स्थापित करने के पक्ष में था। एक निरंकुश शासक होने के कारण उसने स्वेच्छाचारी शासन-नीति के द्वारा केन्द्रीयकरण का प्रयास किया। उसने स्पेन की सामन्तीय-सभा 'कोर्टेस' (Courtes) की सहायता एवं परामर्श का निरादार किया। उसने सभा को बिना अनुमति के ही पुराने करों की वसूली का आदेश दे दिया। इस प्रकार स्पेन का वैधानिक जीवन अधिकाधिक शिथिल होता जा रहा था तथा निरंकुश शासन की जड़े अधिक दृढ़ हो रही थीं। स्पेन की 'कैस्टील' एवं 'अरागान' नामक दो सभाओं में कैस्टील की शक्ति को चार्ल्स पंचम ने पहले ही सीमित कर दिया था। केवल अब अरागान नामक दूसरी सभा में काफी शक्ति विद्यमान थी। किन्तु सन् १६९१ ई० में सरागोसा (Sargossa) के विद्रोह पर फिलिप द्वितीय ने अरागान के विरोध कार्यवाही करने का उपयुक्त अवसर देखा। विद्रोह के पश्चात् फिलिप द्वितीय ने अरागान के प्रमुख न्यायाधीश की हत्या करवा दी तथा सभा के अधिकारों को सीमित कर दिया। अब फिलिप द्वितीय ने प्रतिनिधियों को मनोनीत करने का अधिकार स्वयं लेकर उस पर अपना नियन्त्रण स्थापित किया। इस प्रकार शासन में फिलिप द्वितीय की शक्ति की वृद्धि हुई। किन्तु दूसरी ओर जनप्रिय एवं स्थानीय प्रशासन का अन्त हो गया तथा शासन-कार्यों में पहले की अपेक्षा अधिक समय लगने लगा।

फिलिप द्वितीय यूरोप में स्पेन की शक्ति एवं गौरव को प्रतिष्ठित करना चाहता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के मार्ग में उसके अनेक प्रतिद्वन्दी उत्पन्न हो गये। अतः इन प्रतिद्वन्दियों का सामना करने के लिये एक सुसंगठित एवं कुशल सेना की आवश्यकता थी। फिलिप द्वितीय ने इस आवश्यकता का अनुभव करते हुये एक उच्च-कोटि की सैनिक शक्ति को बनाये रखने का प्रयास किया। उसके शासनकाल में स्पेनी सेना अनुशासन, अनुभव एवं रणपद्धति में सम्पूर्ण यूरोप में सर्वोच्च समझी जाती थी। स्पेन का कुलीन वर्ग सैनिक जीवन में विशेष रुचि रखता था। अतः इस वर्ग में 'ड्यूक ऑव अलवा' तथा 'ड्यूक ऑव पारमा' जैसे योग्य एवं कुशल सेनापति हुये जो अपने काल के सर्वश्रेष्ठ सेनापतियों में समझे जाते थे। किन्तु जहाँ एक ओर फिलिप द्वितीय की स्थल-सेना की गणना यूरोप में सर्वशक्तिशाली एवं कुशल स्थल-सेना के रूप में की जाती थी, वहीं दूसरी ओर स्थल-सेना की तुलना में उसकी नौ सेना इतनी कुशल तथा शक्तिशाली न थी। इसका कारण यह था कि फिलिप द्वितीय ने नौ सेना को नवीन ढंग पर संगठित करने की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया और न ही उसने इसके द्वारा समुद्र पर अधिकार करने का कोई विशेष प्रयास ही किया। इस प्रकार नौ-सेना की उपयोगिता तथा ससंगठन के प्रति उदासीन होने के कारण फिलिप द्वितीय की नौ-सेना अधिक प्रभावशाली न रह गई। डचों के विरुद्ध युद्ध में फिलिप द्वितीय की नौ-सेना की दुर्बलता उसकी सफलता के मार्ग में बाधक सिद्ध हुई।

स्पेन का आर्थिक ढाँचा बहुत ही दुर्बल था। स्पेन का आर्थिक जीवन असम्बद्ध विषमताओं एवं विशेषाधिकारों पर आधारित था। धन-सम्पन्न पुजारी वर्ग तथा कुलीन वर्ग राजस्व से मुक्त थे। अतः राजस्व का अधिकांश भार नगरों पर था जो सभी प्रकार की व्यापारिक वस्तुओं पर 'अल्कबाल' (Alcabala) नामक दस प्रतिशत कर देते थे। यह कर राष्ट्रीय व्यापार एवं वाणिज्य के लिए बहुत घातक सिद्ध हुआ। इसी प्रकार कृषि के क्षेत्र में भी कोई प्रगति न हो सकी। स्पेनियों ने प्राकृतिक साधनों के विकास की अवहेलना की और बिना इनके विकास के देश का आर्थिक विकास असम्भव था। उन्होंने अमेरिका से प्राप्त धन-राशि को देश को समृद्धि का पर्याप्त साधन समझ कर कृषि तथा उद्योग धन्धों की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। परिणामस्वरूप, औद्योगिक विकास के अभाव में देश क्रमशः निर्धन होने लगा। इसके अतिरिक्त स्पेन के आर्थिक पतन में 'इन्क्वीजीशन' (Inquisition) नामक धार्मिक न्यायालयों ने भी महत्वपूर्ण सहयोग दिया। इन्हीं अदालतों के 'एक जाति, एक राजा तथा एक धर्म' के सिद्धान्त के अनुसार मूरों तथा यहूदियों का निष्कासन किया गया। अतः फिलिप द्वितीय की मूर तथा यहूदी-विरोधी नीति ने देश के आर्थिक विकास को

पतनोन्मुख बना दिया। क्योंकि देश के उद्योग धन्धों तथा अधिकांश व्यापार इन्हीं जातियों के हाथों में था।

ऐसी अवस्था में स्पेन की आय का मुख्य स्रोत नीदरलैण्ड्स के समृद्धिशाली नगर ही शेष रह गये। किन्तु दुर्भाग्यवश भविष्य में नीदरलैण्ड्स में विद्रोह हो जाने के कारण फिलिप द्वितीय वहाँ से मिलने वाली धनराशि से भी वंचित हो गया। फलस्वरूप, फिलिप की आर्थिक समस्यायें निरन्तर बढ़ती ही गई जिनका समाधान अत्यन्त कठिन हो गया और देश पतनोन्मुख होता गया। यदि फिलिप द्वितीय ने स्पेन की आर्थिक समस्या का हल खोज निकाला होता तो सम्भवतः वह अन्य यूरोपीय उद्योगों में भी अधिक सफल सिद्ध हुआ होता।

धार्मिक नीति :

फिलिप द्वितीय एक कट्टर कैथोलिक था। उसका प्रमुख उद्देश्य समस्त यूरोप में कैथोलिक चर्च की स्थापना करना था और इस उद्देश्य की पूर्ति-हेतु उसने जीवन पर्यन्त प्रयास किया। वह अपने इस धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये राजनीति का बलिदान कर सकता था। उसके हृदय में कैथोलिक धर्म के प्रति सच्ची भक्ति तथा अडिग उत्साह था। फिलिप द्वितीय का यह विश्वास था कि "ईश्वर ने उसे विश्व में बुराइयों से लड़ने के लिये चुना है और पवित्र रोमन कैथोलिक चर्च का विरोध करना भी एक बुराई है।" अतः वह प्रोटेस्टेन्टवाद का दमन अथा कैथोलिक चर्च की स्थापना अपना परम् कर्तव्य समझता था इसके लिये वह प्रत्येक साधन का उपयोग करने के लिये तत्पर रहता था। नीदरलैण्ड्स तथा फ्रांस में प्रोटेस्टेवाद के प्रसार से चिंतित होकर फिलिप द्वितीय तथा फ्रांस शासक हेनरी द्वितीय ने अपनी प्राचीन पारस्परिक प्रति-द्वन्दिता का परित्याग कर सन् १५५९ ई० में 'कातो कैम्ब्रेजी' (Cateau Cambresis) की संधि कर ली तथा अपने-अपने राज्य में कैथोलिक धर्म की रक्षा तथा प्रोटेस्टेन्टवाद के दमन करने का संकल्प किया। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु 'इन्क्वीजीशन' नामक धार्मिक न्यायालयों का निदयातापूर्वक उपयोग किया गया। नीदरलैण्ड्स के विद्रोह का प्रमुख कारण उसकी यही कट्टर धार्मिक नीति थी। इस विद्रोह के सम्बन्ध में दो विरोधी दृष्टिकोण हैं। कैथोलिकों के अनुसार यह कैथोलिक धर्म का रक्षात्मक युद्ध था। अस्तु वे फिलिप द्वितीय को यूरोप में कैथोलिक धर्म के संरक्षक के रूप मे आदर प्रदान करते हैं। दूसरी ओर जर्मनी, इंग्लैण्ड, फ्रांस, डेनमार्क आदि देशों के प्रोटेस्टेन्टों ने नीदरलैण्ड्स के विद्रोहियों को विजेता के रूप में सम्मानित किया क्योंकि उन्होंने प्रोटेस्टेन्ट धर्म तथा आदर्श की रक्षा के लिये संघर्ष किया था। इस प्रकार नीदरलैण्ड्स के इस विद्रोह ने अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया। फिलिप द्वितीय ने प्रोटेस्टेन्टवाद के दमन तथा कैथोलिक धर्म के रक्षार्थ सभी साधनों का उपयोग किया।

फिलिप द्वितीय की धार्मिक नीति पूर्णतः असफल सिद्ध हुई। क्योंकि न तो वह सम्पूर्ण यूरोप में कैथोलिक धर्म को प्रतिष्ठित कर सका और न ही प्रोटेस्टेन्टवाद का विनाश। उसके द्वारा इन सभी प्रयासों के बावजूद भ प्रोटेस्टेन्टवाद इंग्लैण्ड का राजधर्म हो गया तथा फ्रांस में भी इसे स्वीकृति प्राप्त हो गयी। फिलिप द्वितीय नीदरलैण्ड्स में प्रोटेस्टेन्टवाद का अन्त करने में असफल नहीं हुआ, वरन् वहाँ के अनेक राज्यों मे प्रोटेस्टेन्टवाद प्रतिष्ठित हो गया। फिलिप द्वितीय की इस कट्टर धार्मिक नीति का परिणाम भी अहितकर सिद्ध हुआ। उसे हालैण्ड से वंचित होना पड़ा तथा उसका प्रबल शत्रु हेनरी चतुर्थ विजयी हुआ। अब इंग्लैण्ड यूरोप का प्रथम श्रेणी का राज्य बन गया तथा स्पेन के सामुद्रिक आधिपत्य का अन्त हो गया। फिलिप द्वितीय ने कैथोलिक धर्म के नाम पर सर्वस्व न्योछावर कर दिया, किन्तु अन्त में उसे घोर निराशा एवं असफलता ही प्राप्त हुई।

फिलिप द्वितीय एवं इंग्लैण्ड :

फिलिप द्वितीय ने सन् १५४५ ई० में इंग्लैण्ड की महारानी मेरी ट्यूडर से विवाह सम्पन्न कर लिया। मेरी ट्यूडर ने अपने पति की इच्छा अनुसार इंग्लैण्ड की वाह्य नीति का निर्धारण किया। इस प्रकार मेरी ट्यूडर के शासन-काल (सन् १५५३-५८ ई०) में इंग्लैण्ड तथा स्पेन के मध्य मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध रहे। किन्तु महारानी की मृत्यु के पश्चात् एलिजाबेथ का महारानी के रूप में सिंहासनारोहण हुआ। महारानी एलिजाबेथ के सिंहासनारोहण से इंग्लैण्ड तथा स्पेन के सम्बन्धों में परिवर्तन आ गया। अब इंग्लैण्ड की राजनीति से स्पेन के प्रभाव का अन्त हो गया। यद्यपि फिलिप द्वितीय ने इस प्रभाव को बनाये रखने के लिये महारानी से विवाह करने की इच्छा की। किन्तु स्पेन की ओर से भय एवं आशंका होने के कारण महा-रानी विवाह के सम्बन्ध में टालमटोल करती रही। क्योंकि वह इंग्लैण्ड को एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहती थी और यह निर्माण-कार्य शान्ति-पूर्ण स्थिति में सम्भव था। अतः वह अपने को युद्धों में नहीं व्यस्त करना चाहती थी। इसके अतिरिक्त दोनों ही एक दूसरे के विरुद्ध अपने-अपने प्रयासो में लीन थे। यदि एक और इंग्लैण्ड स्पेन के विरुद्ध नीदरलैण्ड्स विद्रोहियों की आर्थिक सहायता कर रहा था तो दूसरी ओर फिलिप द्वितीय इंग्लैण्ड की महारानी के विरुद्ध स्काटलैण्ड की रानी मेरी तथा कैथोलिकों को प्रोत्साहित कर रहा था ऐसी दशा में स्पेन तथा इंग्लैण्ड के मध्य युद्ध अनिवार्य हो गया। अन्त में, फिलिप द्वितीय ने अपने सभी कूटनीतिक प्रयासों में विफल होकर शक्ति के प्रयोग का आश्रय लिया।

फिलिप द्वितीय ने इंग्लैण्ड को बुरी तरह पराजित करने के उद्देश्य से एक विशाल 'आर्मेडा' (Armada) के निर्माण का आदेश दिया। उसका विचार था कि

इंग्लैण्ड को परास्त कर वह वहाँ कैथोलिक धर्म को प्रतिष्ठित करेगा। अतः स्पेनी इंग्लैण्ड पर विजय प्राप्त करने के लिये आर्मेडा के निर्माण में लग गये। यद्यपि फिलिप द्वितीय ने अपनी इन योजनाओं को गुप्त रखना चाहा किन्तु शीघ्र ही इनकी सूचना इंग्लैण्ड पहुँची गयी। महारानी एलिजाबेथ ने युद्ध को टालने के लिये तुरन्त ही स्पेन के प्रतिनिधियों से सम्पर्क स्थापित किया किन्तु फिलिप द्वितीय इसे एलिजाबेथ की कूटनीतिक चाल समझता था। उसका विश्वास था कि महारानी स्पेनी नव-सेना के प्रस्थान को कुछ समय के लिये रोक कर अपनी सुरक्षा के लिये समय चाहती है। अतः ३० मई १५८८ ई० को 'मेडिना सिडोनिया के ड्यूक' के नेतृत्व में 'आर्मेडा' ने इंग्लैण्ड के लिये प्रस्थान किया। किन्तु भयावह तूफान के कारण बहुत सी नावें खराब हो गयी। अतः उनकी मरम्मत के लिये स्पेन वापस जाना आवश्यक हो गया। इस प्रकार १२ जुलाई १५८८ ई० तक यह नावें पुनः तैयार हो गयी। अन्तिम समय में 'सिडोनिया के ड्यूक' ने फिलिप को इस योजना के स्थगित करने का परामर्श दिया, किन्तु फिलिप द्वितीय ने उसके इस परामर्श को अस्वीकार कर दिया। स्पेनी नौ-सेना के प्रस्थान के अवसर पर वहाँ के प्रत्येक गिरजाघरों मे उसकी सफलता के लिये प्रार्थनाये की गयीं। फिलिप द्वितीय ने स्वय ईश्वरीय सहायता के लिये प्रार्थना की।

स्पेन की इस नौ-सेना के अन्तर्गत १३० जहाज थे, जिनमें १९,००० सैनिक तथा ८,००० नाविक थे। इनमें आधे से कम व्यक्ति युद्धहस्त थे। 'आर्मेडा' एक प्रकार का विशाल काफिला (Monster convoy) था जिसका उद्देश्य सेना को इंग्लैण्ड के तटों पर ले जाकर स्थल युद्ध द्वारा वहाँ विजय प्राप्त करना था। सुनिश्चित योजना के अनुसार इस बेड़े को 'इंग्लिश चैनेल' में पहुँच कर 'पारमा के ड्यूक' (Duke of Parma) से सम्पर्क स्थापित करना था, जो १७,००० सैनिकों के साथ नीदरलैण्ड्स से जा रहा था। किन्तु उसके इस मिलन के लिए कोई स्थान पूर्व निश्चित था। इसी बीच अंग्रेजों ने अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध कर लिया था। इसके साथ ही स्पेन के आक्रमण का समाचार सुन कर इंग्लैण्ड के सभी जातियों एवं वर्गों मे राष्ट्रीयता की भावना का जागरण हो जाने के कारण लोगों ने अपनी भूमि की रक्षा का संकल्प किया। स्पेन की सेना के चैनेल पहुँचने से पूर्व ही अँग्रेजी सेना उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। स्पेनी सेना ने ३० जुलाई १५८८ ई० को इंग्लिश चैनेल में प्रवेश किया। स्पेनी सेना के आगमन का समाचार सुनकर इंग्लैण्ड की जनता उनका सामना करने के लिये ईंटो, पत्थरों आदि के साथ समुद्र तट पर पहुँच गयी। स्पेनी नौ-सेना को आते देखकर अँग्रेजों ने उन पर गोले बरसाने प्रारम्भ कर दिये, जिससे बहुत से स्पेनी जहाज ध्वस्त हो गये। इसी बीच एक डच नौ सेना द्वारा बाधा उत्पन्न कर देने के कारण पारमा 'आर्मेडा' से सम्पर्क स्थापित करने में असफल रहा। अतः अंग्रेजी सेनापतियों ने यह निश्चय किया

कि यह स्पेनी सेना पर आक्रमण करने का उपयुक्त अवसर है क्योंकि 'पारमा के ड्यूक' की सेना के आने के पश्चात् स्पेनियों की शक्ति दृढ़ हो जायेगी। अतः ७ अगस्त की रात्रि को उन्होंने आठ जहाजों में आग लगाकर उन्हें स्पेनी बेड़े की ओर जाने दिया। जैसे ही स्पेनियों ने इन जलते हुए जहाजों को अपनी ओर आते देखा वे घबड़ा गये और इधर-उधर भागने लगे। दूसरे दिन प्रातः अंग्रेजों ने स्पेनियों पर आक्रमण कर दिया। दिन भर भीषण युद्ध चलता रहा और रात्रि के होने तक अँग्रेजों ने उनके चार जहाजों को डुबो दिया तथा अन्य जहाज युद्ध के योग्य न बचे। इस प्रकार स्पेनी सेना का चारित्रिक पतन हो गया और उनकी युद्ध सामग्री भी समाप्त होने लगी। अतः उसने अपनी शेष सेना को बचाने के लिये स्पेन वापस लौट जाना ही उचित समझा। स्पेन की वापसी में 'आर्मेडा' का अंतिम रूप से विनाश हुआ। १९ जहाज स्काटलैंड तथा आयरलैण्ड के तटों पर बरबाद हो गये तथा उनके व्यक्ति वहाँ के सैनिकों द्वारा मार डाले गये तथा ३५ अन्य जहाजों का कोई पता न चला। जब 'आर्मेडा' स्पेन पहुँचा तो ज्ञात हुआ कि उसमें से ६३ जहाज नष्ट हो गये या अधिकृत कर लिये गये तथा मानव जीवन का भी बहुत अधिक विनाश हुआ। युद्ध में मरने वालों एवं डूबने वालों के अतिरिक्त बहुत से लोग बीमारी, ठंडक तथा आकाल से पीड़ित होकर मर गये। आधुनिक अनुमान के अनुसार ऐसे व्यक्तियों की संख्या लगभग १०,००० थी।

इस प्रकार फिलिप द्वितीय इंग्लैण्ड पर आक्रमण करने की अपनी महान योजना में असफल हुआ तथा उसे अपार क्षति उठानी पड़ी। 'आर्मेडा' की सफलता केवल इतनी थी कि वापस लौटते समय बहुत से अंग्रेजी नावें जो मछली से लदी हुई थी वे स्पेनियों के हाथ लगीं। फिलिप द्वितीय की यह असफलता उसकी धार्मिक नीति की विफलता का कारण बनी। समुद्र पर से स्पेन का प्रभाव जाता रहा और अब उसका स्थान इंग्लैण्ड ने ग्रहण कर लिया। नीदरलैण्ड्स के विद्रोहियों का उत्साह एवं साहस बढ़ गया। इंग्लैण्ड उन्हें अब काफी सहायता प्रदान करने लगा। किन्तु फिलिप द्वितीय ने अपनी इस महान पराजय के पश्चात् भी इंग्लैण्ड विरोधी नीति जारी रखी। उसने आयरलैण्ड के कैथोलियों को भी महारानी एलिजाबेथ के विरुद्ध उकसाने का प्रयास किया। इसके अतिरिक्त उसने इंग्लैण्ड के विरुद्ध पुनः स्पेनी नौ-सेनायें भेजीं, किन्तु उसे घोर असफलताओं का ही आलिंगन करना पड़ा। दूसरी ओर अपनी सफलताओं से प्रोत्साहित होकर अंग्रेजों ने स्पेनी जहाजों को लूटना प्रारम्भ कर दिया तथा सन् १५९६ ई० में स्पेन के प्रसिद्ध बन्दरगाह केडीज को बुरी तरह लूटा। इस प्रकार फिलिप द्वितीय को इंग्लैण्ड के विरुद्ध युद्ध में प्रबल पराजय एवं अपमान के दर्शन करने पडे।

फिलिप द्वितीय एवं फ्रांस :

फिलिप द्वितीय को फ्रांस की ओर इसलिये ध्यान देना पड़ा क्योंकि वह फ्रांस में अपने खोये हुये सम्मान को पुनः स्थापित करना चाहता था। उसका विश्वास था कि यदि फ्रांस पर वह अपना प्रभाव स्थापित कर लेता है अथवा उसे विभाजित करने में सफल हो जाता है तो उसके एक बहुत बड़े शत्रु का अन्त हो जायेगा। फ्रांस के शासक फ्रांसिस प्रथम (सन् १५१५-१५४७ ई०) तथा उसके पुत्र हेनरी द्वितीय (सन् १५४७-१५५६ ई०) से फ्रांस में राजतंत्र के गौरव की वृद्धि की तथा इटली में आक्रामक नीति का अनुसरण कर राइन नदी की ओर अपनी राज्य-सीमाओं का विस्तार किया। सन् १५५६ ई० में हेनरी द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् राजमाता कैथरीन दी मेडिची संरक्षिका बनी। अपने अयोग्य पुत्रों फ्रांसिस द्वितीय (सन् १५५६-१५६० ई०) चार्ल्स नवम्, (सन् १५६०-१५७४ ई०) तथा हेनरी तृतीय (सन् १५७४ १५८६ ई०) के शासनकालों में राजमाता केथरीन द मेडिची ने छल कपट द्वारा फ्रांस की राजनीति से सक्रिय भाग लिया उसके तथा उसके पुत्रों के समक्ष तीन समस्यायें थीं, अर्थात् फ्रांसीसी प्रोटेस्टेन्ट्स अथवा ह्यूगनो (Huguenot) का प्रभाव, राज्य के उच्च सामन्त तथा स्पेन का शासक फिलिप द्वितीय। १६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में फ्रांसीसी प्रोटेस्टेन्टों अथवा ह्यूगनों की शक्ति काफी बढ़ गई थी। फ्रांसिस प्रथम तथा हेनरी द्वितीय ने कठोरतापूर्वक इन प्रोटेस्टेन्टों का दमन किया था। किन्तु हेनरी द्वितीय की मृत्यु के कुछ समय पश्चात् ही इन्होंने सशस्त्र विद्रोह करना प्रारम्भ कर दिया जिससे सम्पूर्ण फ्रांस में धार्मिक एवं गृह-युद्ध की ज्वाला दहक उठी। इन युद्धों में फिलिप द्वितीय ने फ्रांस के कैथोलिकों की प्रोटेस्टेन्टों के विरुद्ध धन-जन से सहायता की; दूसरी ओर फ्रांस के प्रोटेस्टेन्ट स्पेन के विरुद्ध नीदरलैण्ड्स के विद्रोहियों की सहायता कर रहे थे। १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फ्रांस में उत्तराधिकार का प्रश्न उपस्थित हुआ। क्योंकि वर्तमान शासक हेनरी तृतीय के कोई सन्तान न थी तथा नियम के अनुसार उसका निकटतम सम्बन्धी नवार का बोरबाँ राजा हेनरी फ्रांस के सिंहासन का उत्तराधिकारी हो सकता था। नवार का राजा हेनरी एक प्रोटेस्टेन्ट था। अतः कैथोलिकों ने गीज परिवार के हेनरी के नेतृत्व में नवार के राजा हेनरी का उत्तराधिकार रोकना चाहा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये कैथोलिकों ने एक 'कैथोलिक संघ' की स्थापना की। फिलिप द्वितीय ने इस संघ की सहायता के लिये सेना भेजी। किन्तु "कैथोलिक संघ" के नेता हेनरी का हेनरी तृतीय द्वारा बध करा दिया गया। हेनरी तृतीय को भी सन् १५८६ ई० में एक कैथोलिक हत्यारे ने मार डाला। हेनरी तृतीय ने मरते समय नबार के राजा हेनरी को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया, जो हेनरी चतुर्थ के नाम से फ्रांस के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। फिलिप द्वितीय

की सभी आशायें निराशाओं में परिणित हो गई जब हेनरी चतुर्थ ने सन् १५६ में प्रोटेस्टेन्टवाद त्याग कर कैथोलिकवाद स्वीकार कर लिया। इससे फ्रांस की जनता हेनरी चतुर्थ के पक्ष में हो गई। अतः सन् १५६६ ई० में फिलिप द्वितीय को हेनरी चतुर्थ के साथ 'वर्विन की सन्धि'' (Treaty of Vervins) करनी पड़ी। इस सन्धि के अनुसार स्पेन से शासक फिलिप द्वितीय ने हेनरी चतुर्थ को फ्रांस का शासक स्वीकार किया तथा 'कातो कैम्ब्रेजी की सन्धि' की धाराओं को पुनः पुष्टि की गई। इस प्रकार फ्रांस के विरुद्ध फिलिप द्वितीय की नीति पूर्णतया असफल सिद्ध हुई।

फिलिप द्वितीय एवं तुर्क :

सुल्तान सुलेमान की मृत्यु के पश्चात् सलीम द्वितीय उत्तराधिकारी हुआ किन्तु भूमध्य-सागर के तुर्कों के आतंक में कमी नहीं आयी। हंगरी में भी वे अपनी शक्ति को सुदृढ़ बनाने के प्रयास में लगे हुये थे। सिसली तथा दक्षिण इटली के भूभागों पर उनके निरन्तर आक्रमण हो रहे थे और सन् १५७० ई० में उन्होंने वेनिस से साइप्रस भी छीन लिया। अब भूमध्य सागर में केवल माल्टा तथा क्रीट ही ईसाइयों के आधीन रह गये थे। अस्तु तुर्कों के विरुद्ध इटली की रक्षा के लिए पोप के नेतृत्व में एक संघ की स्थापना हुई जिसमें जिनेवा, वेनिस तथा स्पेन सम्मिलित थे। इस संघ की सम्मिलित जल-सेना का नेतृत्व फिलिप के सौतेले भाई आस्ट्रिया के डॉन जॉन (Don John) को सौंपा गया। उसने २०८ जहाजों के साथ प्रस्थान किया और लैपेन्टो (Lapanto) के युद्ध में (सन् १५७१ ई०) में तुर्की जल-सेना को पराजित किया तथा तुर्कों के कई जहाजों पर अधिकार कर बहुत से जहाजों को डुबो दिया।

तुर्कों की इस पराजय से भूमध्य सागर में उनके आक्रामक युद्धों का भय लगभग समाप्त हो गया। क्योंकि इस युद्ध में तुर्कों की नाविक शक्ति को इतनी क्षति पहुँची की भविष्य में उसकी पूर्ति नहीं की जा सकी। किन्तु इस युद्ध से ईसाई देशों को बड़ी प्रसन्नता हुई। स्पेन के शासक फिलिप द्वितीय ने इस युद्ध में भाग लेकर 'धर्म-रक्षक' के रूप में अपनी प्रतिष्ठा स्थापित की। ऐसे इस युद्ध में इटली के प्रत्येक परिवार के व्यक्तियों ने अपने-अपने परिवारों का प्रतिनिधित्व दिया तथा विभिन्न ईसाई देशों के स्वयं-सेवकों ने भी भाग लिया। संक्षेप में ईसाइयों की लैपेण्टो विजय ने पश्चिमी यूरोप को तुर्क आक्रमणों के भय से मुक्त कर दिया।

स्पेन के पतन के कारण

फिलिप द्वितीय की मृत्यु (सन् १५६८ ई०) के पश्चात् स्पेन की राजनीतिक प्रतिष्ठा में काफी परिवर्तन आया। १६वीं शताब्दी में स्पेन का यूरोप के राष्ट्रों में काफी महत्व था। इस काल में स्पेन कला, साहित्य, संगीत एवं संस्कृति के अन्य क्षेत्रों में काफी प्रगति हुई। यद्यपि यह प्रगति १६वीं शताब्दी के पश्चात् भी जारी

रही, किन्तु वास्तव में स्पेन राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से पतन की ओर जा रहा था । स्पेन के इस पतन के निम्नलिखित कारण थे :

(क) नीदरलैण्ड्स का विद्रोह—नीदरलैण्ड्स स्पेन के साम्राज्य का एक अंग था, जहाँ से स्पेन को काफी आर्थिक लाभ होता था । चार्ल्स पंचम जन्म से नीदरलैण्ड्सवासी होने के कारण वहाँ की समस्याओं को भली-भाँति समझता था । उसने वहाँ के लोगों के प्रति कठोर नीति अपनाई; किन्तु इस पर भी वहाँ के निवासियों में उसके प्रति स्वामिभक्ति बनी रही । उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र फिलिप द्वितीय सिंहासन पर बैठा । उसने वहाँ के व्यापारियों एवं उद्योगपतियों पर करों के भार बढ़ा दिये जिससे उनकी आर्थिक स्थिति को काफी धक्का पहुँचा । इसके अतिरिक्त फिलिप द्वितीय एक धर्मनिष्ठ रोमन कैथोलिक था । उसने प्रोटेस्टेन्टों के दमन के लिये धार्मिक न्यायालयों का प्रयोग किया जिससे कैल्विनवादी उसके घोर शत्रु हो गये । नीदरलैण्ड्स में सुधारों की आवश्यकता थी, फिलिप द्वितीय ने उस ओर ध्यान न देकर वहाँ के लोगों के दमन के लिये ड्यूक आॅव अलवा के नेतृत्व में एक विशाल सेना भेजी तथा वहाँ के लोगों पर करों का भार काफी बढ़ा दिया । परिणामस्वरूप वहाँ के लोगों ने विद्रोह कर दिया । नीदरलैण्ड्स के इस विद्रोह ने स्पेन को पतनोन्मुख बना दिया ।

(ख) आर्थिक व्यवस्था—स्पेन के पतन का दूसरा प्रमुख कारण आर्थिक था । स्पेन की आर्थिक दशा बड़ी शोचनीय हो गई थी । स्पेन के उपनिवेशों के प्राप्त होने वाली धन-राशि का दुरुपयोग हो रहा था । स्पेन के सम्राट अपने गौरव एवं वैभव में उस धन का अपव्यय कर रहे थे । स्पेन के व्यापार एवं उद्योगों के विकास की ओर कोई ध्यान न दिया गया । इस कारण स्पेनी साम्राज्य की आर्थिक नींव बड़ी ही दुर्बल थी यद्यपि वाह्य रूप में स्पेन बड़ा धन-सम्पन्न दिखाई दे रहा था । स्पेन के लोग व्यापार एवं वाणिज्य को निम्न दृष्टि से देखते थे । इस कारण अधिकतर विदेशी व्यापारी स्पेन के प्राकृतिक साधनों का उपभोग कर लाभ उठा रहे थे । स्पेन में करों की दरों में वृद्धि करने के बावजूद भी राजकोष दिवालिया हो चला था । इसके अतिरिक्त स्पेन की कृषि व्यवस्था में सुधार की ओर भी कोई विशेष ध्यान न दिया गया । अधिकतर भूमि उच्च अमीरों के पास थी और कृषकों के पास पर्याप्त भूमि का अभाव था । इस कारण भूमि से अधिक उत्पादन नहीं हो पाता था । इसके अतिरिक्त स्पेन से यहूदियों एवं मूरों के निष्कासन ने आर्थिक स्थिति के पतनोन्मुख बनाने में काफी सहयोग दिया । क्योंकि वे लोग उच्चकोटि के व्यापारी एवं कृषक थे ।

(ग) फिलिप द्वितीय का प्रशासन—फिलिप द्वितीय का प्रशासन भी स्पेन के पतन के लिये उत्तरदायी था क्योंकि फिलिप द्वितीय में अपने पिता चार्ल्स पंचम की भाँति सन्तुलन एवं बुद्धिमत्ता न थी । वह स्वभाव से बहुत निर्दयी था । वाह्य

नीति के सम्बन्ध में उसने रक्षात्मक नीति का अनुसरण किया किन्तु उसे इस नीति में थोड़ी सफलता ही प्राप्त हुई। अपने शासन के सम्पूर्ण काल वह इंग्लैण्ड से सामुद्रिक युद्ध करता रहा। उसने इंग्लैण्ड की नाविक शक्ति को समाप्त करने के लिये विशाल 'आर्मेडा' का निर्माण करवाया। किन्तु अंग्रेजों ने फिलिप द्वितीय के इस 'आर्मेडा' नामक बेड़े को नष्ट कर दिया और इस प्रकार फिलिप द्वितीय अंग्रेजों के विरुद्ध अपने इस प्रयास में विफल रहा। इससे स्पेन की प्रतिष्ठा को काफी क्षति पहुँची।

(घ) **स्पेन के साम्राज्य की विशालता**—स्पेन का साम्राज्य काफी विशाल था अतः प्रशासन की दृष्टि से इतने विशाल साम्राज्य का शासन-प्रबन्ध बहुत कठिन कार्य था। साम्राज्य की विशालता के कारण प्रशासन में अनेक बाधायें उठ खड़ी होती थीं। जिनके समाधान के लिये अब स्पेन में शक्ति न रह गई थी। स्पेन के शासकों की नीतियों के कारण ही प्रशासन काफी शिथिल हो गया था। इसके अतिरिक्त स्पेन का सैनिक पतन भी प्रारंभ हो गया था। जिससे पुर्तगाल स्वतन्त्र हो गया और स्पेन इस दिशा में कुछ न कर सका। यातायात एवं संचार की गति धीमी होने के कारण साम्राज्य के अन्तर्गत विभिन्न उपनिवेशों एवं प्रदेशों में सुदृढ़ प्रशासन स्थापित करना एक कठिन कार्य था।

इस प्रकार जहाँ एक ओर स्पेन में कला, साहित्य आदि के क्षेत्र में प्रगति हो रही थी और वहाँ विश्वविद्यालयों की स्थापना हो रही थी, दूसरी ओर स्पेन पतन की ओर उन्मुख था। अमेरिका की खोज के पश्चात् यूरोप के स्पेन को जो गौरव प्राप्त हुआ था उसका आधार स्थायी न सिद्ध हुआ। कुछ ही समय पश्चात् स्पेन का पतन आरम्भ हो गया और यूरोप की राजनीति में वह द्वितीय श्रेणी के राष्ट्रों में आ गया।

———

अध्याय ७

नीदरलैण्ड्स का विद्रोह

(REVOLT OF NETHERLANDS)

सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में नीदरलैण्ड्स के अन्तर्गत सत्रह प्रान्त थे जिनमें आपस मे भिन्नता थी। क्योकि यह प्रदेश समुद्र की सतह से बहुत नीचे स्थित थे इस कारण इसे निचले-प्रदेश (Lowlands) के नाम से भी सम्बोधित किया जाता था। उनमें उत्तर के साथ प्रान्तों के लोग 'डच' कहलाते थे तथा इन उत्तरी प्रान्तो में हालैण्ड तथा जीलैण्ड प्रधान थे। मध्य के ब्राबैट तथा फ्लैंडर्स प्रान्तों के निवासी 'फ्लेमिंग्स' कहलाते जो मुख्यतः ट्यूटानिक जाति के थे। दक्षिण के प्रान्तों मे नामूर, हेनो, आर्त्वा आदि प्रधान थे तथा दक्षिण प्रान्तों में 'केल्ट' जाति के लोग निबास करते थे जो 'वलून्स' (Walloons) कहलाते थे। इस प्रकार जाति, भाषा, रहन-सहन आदि सभी दृष्टियों से नीदरलैण्ड्स के प्रान्तो में विभिन्नता थी। आन्तरिक प्रशासन मे क्षेत्र में इन सभी प्रान्तों को व्यापक अधिकार प्राप्त थे। प्रत्येक प्रान्त के अपने संविधान थे तथा उनकी अपनी परम्परायें एवं विशेषाधिकार थे प्रत्येक प्रान्त का प्रशासन स्थानीय शासकों एव प्रान्तीय परिषदों (Provincial Estates) द्वारा संचालित होता था। इनके अतिरिक्त अर्द्ध-स्वतन्त्र नगरपालिकायें थीं। जिनकी स्थापना प्रमुख व्यापारिक नगरों ने अपनी मान्य स्वतन्त्रता के रक्षार्थ की थी। जब चार्ल्स पंचम नीदरलैण्ड्स का शासक बना तो उसने नीदरलैण्ड्स के प्रशासन को सुदृढ करने के लिये तीन केन्द्रीय परिषदों की स्थापना की, जिनमें 'राज्य परिषद' अत्यधिक महत्वपूर्ण थी। नीदरलैण्ड्स की राजधानी मध्य में स्थित ब्रुसेल्स घोषित की गयी। प्रान्तों के राजस्व एवं सामान्य हितों की रक्षा के लिये 'स्टेट्स जनरल' नामक एक संसद की स्थापना की गयी, जिनमें प्रान्तीय परिषद के प्रतिनिधि होते थे। इस प्रकार चार्ल्स पंचम ने नीदरलैण्ड्स के प्रशासन को संगठित करने का प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त नीदरलैण्डस के फ्लैन्डर्स प्रान्त मे जन्म होने के कारण उसका शासन जनप्रिय था और उसने नीदरलैण्ड्स में राष्ट्रीय शासक के रूप में शासन किया। चार्ल्स पचम ने नीदरलैण्ड्स में धर्म-सुधार आन्दोलन के विरुद्ध दमन नीति अपनाया तथा प्रोटेस्टेण्टवाद के प्रसार को रोकने का प्रयास किया। प्रोटेस्टेंटों के दमन के लिये उसने धार्मिक न्यायालयों का भी प्रयोग किया। किन्तु उसके शासन काल में नीदरलैण्ड्सवासियों ने उसका सामूहिक विरोध न किया।

चार्ल्स पंचम के पुत्र फिलिप द्वितीय के सिंहासनारोहण के पश्चात् स्थिति में परिवर्तन हो गया। क्योंकि फिलिप द्वितीय के जन्म से स्पेनी होने के कारण नीदरलैण्ड्स के निवासी उसे विदेशी समझते थे। अब उनमें फिलिप द्वितीय के प्रति वह सहानुभूति न थी जो चार्ल्स पंचम के प्रति थी। दूसरी ओर फिलिप द्वितीय को भी नीदरलैण्ड्स के निवासियों की आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं के प्रति कोई सहानुभूति न थी। उसने नीदरलैड्सवासियों के हितों की उपेक्षा करते हुये प्रशासकीय एवं आर्थिक नीति का अनुसरण किया। उसने नीदरलैण्ड्स के व्यापार-वाणिज्य पर प्रतिबन्ध लगाये तथा प्रोटेस्टेन्टवादी प्रान्तों के विरुद्ध दमन नीति अपनायी। अतः बाध्य होकर नीदरलैण्ड्सवासियों ने फिलिप द्वितीय की इन नीतियों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया।

विद्रोह के कारण :

इस प्रकार नीदरलैण्ड्सवासियों ने आर्थिक, राजनीतिक धार्मिक तथा वैयक्तिक आदि निम्नलिखित कारणों से उत्तेजित होकर स्पेन के शासक फिलिप द्वितीय के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह कर दिया—

(क) आर्थिक कारण—नीदरलैण्ड्सवासियों के विद्रोह का प्रमुख कारण आर्थिक था। नीदरलैण्ड्स की समृद्धि एवं वैभव के प्रमुख आधार उद्योग-धन्धे एवं व्यापार-वाणिज्य थे। चार्ल्स पंचम के शासनकाल में ही नीदरलैण्ड्स पर करों के भार में वृद्धि हो गयी थी। किन्तु 'स्टेट्स जनरल' नामक राज्य परिषद द्वारा स्वीकृति प्राप्त हो जाने के कारण इस कर-वृद्धि का सामूहिक विरोध न हो सका। इसके अतिरिक्त चार्ल्स पंचम ने अपने शासन-काल में नीदरलैण्ड्स के उद्योग-धन्धों एवं व्यापार-वाणिज्य को प्रोत्साहन प्रदान कर उन्हें उन्नतिशील बनाने का प्रयास किया। चार्ल्स पंचम के इस प्रयास के कारण नीदरलैण्ड्स में उसके शासन की लोकप्रियता बनी रही। किन्तु चार्ल्स पंचम के पश्चात् फिलिप द्वितीय ने स्पेनी साम्राज्य से प्रशासकीय व्यय एवं युद्धों के संचालन के लिये धन-प्राप्ति के उद्देश्य से नीदरलैण्ड्स में करों की वृद्धि कर दी। नीदरलैण्ड्स की 'स्टेटस जनरल' नामक राज्य परिषद ने स्पेन के इन युद्धों के लिये धन की स्वीकृति प्रदान करने से इन्कार कर दिया क्योंकि स्पेन के इन युद्धों से नीदरलैण्ड्स का कोई सम्बन्ध न था। इसके अतिरिक्त फिलिप द्वितीय द्वारा नीदरलैण्ड्स के व्यापार-वाणिज्य पर लगाया गया प्रतिबन्ध भी नीदरलैण्ड्स-वासियों को असह्य था, क्योंकि इन प्रतिबन्धों से नीदरलैण्ड्स का आर्थिक एवं औद्योगिक विकास अवरुद्ध हो गया था। अतः नीदरलैण्ड्स के निवासियों ने फिलिप द्वितीय की इस आर्थिक नीति का पहले विरोध किया तत्पश्चात् विद्रोह कर दिया।

(ख) धार्मिक कारण · स्पेन के विरुद्ध नीदरलैण्ड्स के विद्रोह का दूसरा प्रमुख

कारण धार्मिक था। चार्ल्स पंचम के शासन काल से ही नीदरलैण्ड्स में धर्म-सुधार आन्दोलन का प्रभाव तेजी से बढ़ रहा था। यद्यपि उसने कैथोलिक धर्म की रक्षा एवं प्रोटेस्टेन्टवाद के दमन के लिये धार्मिक न्यायालयों का प्रयोग किया। किन्तु चार्ल्स पंचम के धार्मिक न्यायालयों के अत्याचार द्वारा भी प्रोटेस्टेन्टवादियों के उत्साह में कमी नहीं आयी, वरन् कैल्विनवाद का प्रचार और तीव्र गति से होने लगा। चार्ल्स पंचम के पश्चात् फिलिप द्वितीय नीदरलैण्ड्स का शासक हुआ जो एक कट्टर कैथोलिक था। उसके लिये उसके राज्य में प्रोटेस्टेन्टवाद का प्रसार असह्य था। अतः उसने नीदरलैण्ड्स से प्रोटेस्टेन्टवाद को समूल नष्ट करने का संकल्प किया। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उसने नीदरलैण्ड्स में मनोनीति बिशपों तथा आर्चबिशपों की संख्या एवं उनके अधिकारों में वृद्धि कर दी। उसने धार्मिक न्यायालयों को प्रोटेस्टेन्टवाद के विरुद्ध एवं प्रमुख अस्त्र के रूप में प्रयोग किया। इन धार्मिक न्यायालयों के अत्याचार से प्रोटेस्टेन्ट तो पीड़ित थे ही किन्तु उनके साथ कैथोलिक भी इन न्यायालयों द्वारा की जाने वाली अधार्मिकता के विरोधी हो गये। किन्तु फिलिप द्वितीय अपनी इस नीति में तनिक भी संशोधन के लिये प्रस्तुत न था और उसने लोगों की माँगों की ओर कोई ध्यान न दिया। परिणामस्वरूप प्रोटेस्टेन्टों ने अपनी धार्मिक स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये विद्रोह कर दिया।

(ग) राजनीतिक कारण—नीदरलैण्ड्स के विद्रोह के कारणों में राजनीतिक कारण भी प्रमुख था। फिलिप द्वितीय ने शासन के केन्द्रीकरण के उद्देश्य से सामन्तों एवं नगरों के अनेक परम्परागत अधिकार समाप्त कर दिये। उसने 'स्टेट्स जनरल' नामक राष्ट्रीय सभा की बैठक बुलाना भी बन्द कर दिया तथा इस सभा की स्वीकृति के बिना ही उसने नीदरलैण्ड्स-वासियों को अनेक करों के भार से लाद दिया जो कि इसके लिये तत्पर न थे। उसने नीदरलैण्ड्स के सामन्तो एवं अन्य नागरिको को शासन के प्रभावशाली पदो से हटा दिया तथा उनके स्थान पर स्पेनियो को नियुक्त करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार फिलिप द्वितीय का विदेशीपन वहाँ के लोगों के असन्तोष का कारण बना। नीदरलैण्डस के शासन का भार उसने अधिकांश स्पेनी पदाधिकारियों के हाथों में छोड़ दिया था तथा सन् १५५९ ई० के पश्चात् वह स्वयं कभी नीदर-लैण्ड्स न गया। उसके स्पेनी पदाधिकारियों ने नीदरलैण्ड्स-वासियों के हितों की उपेक्षा की तथा वहाँ अत्याचार प्रारम्भ कर दिया। अतः नीदरलैण्ड्सवासियों में घोर असन्तोष व्याप्त हो गया और उन्होंने विद्रोह कर दिया।

इसके अतिरिक्त नीदरलैण्ड्स में स्पेनी सेना की उपस्थिति भी विद्रोह का एक कारण बना। सन् १५५९ ई० में स्पेन तथा फ्रांस के मध्य होने वाले युद्धों में स्पेनी सेनायें नीदरलैण्ड्स आयी थी। किन्तु युद्ध समाप्त होने के पश्चान ये सेनायें स्पेन वापस

न जाकर नीदरलैण्ड्स के विभिन्न नगरों में बनी रहीं, जिनका व्यय वहाँ की जनता को वहन करना पड़ता था। इससे नीदरलैण्ड्स-वासियों में घोर असन्तोष फैला और सेना का आर्थिक भार अधिक समय तक उठाना असह्य हो गया। परिणामस्वरूप उन्होंने फिलिप द्वितीय की इस नीति का विरोध करना आरम्भ कर दिया। अन्त में कुछ समय पश्चात् फिलिप द्वितीय ने उनके विरोध से प्रभावित होकर नीदरलैण्ड्स से अपनी सेना वापस बुला ली।

(ग) व्यक्तिगत कारण—नीदरलैण्ड्स में चार्ल्स पंचम का शासन लोकप्रिय था। इसका कारण यह था कि नीदरलैण्ड्स के फ्लैण्ड्र्स प्रान्त में पैदा होने के कारण वहाँ के लोग उसे एक नीदरलैण्ड्सवासी की दृष्टि से ही देखते थे। यही कारण था कि चार्ल्स पंचम समस्त नीदरलैण्ड्स में एक राष्ट्रीय शासक के रूप में माना जाता था। परन्तु उसके पुत्र फिलिप द्वितीय का जन्म एवं पालन-पोषण स्पेन में होने के कारण नीदरलैण्ड्स में उसे वह स्थान न प्राप्त हो सका। नीदरलैण्ड्स के निवासी फिलिप द्वितीय को एक विदेशी समझते थे। फिलिप द्वितीय के हृदय में नीदरलैण्ड्स के निवासियों के प्रति कोई सहानुभूति न थी। इस कारण फिलिप द्वितीय नीदरलैण्ड्स में लोकप्रिय न हो सका और लोगों ने उसका विरोध करना प्रारम्भ कर दिया जो भविष्य में विद्रोह के रूप में परिणित हो गया।

मार्गरेट का शासन (सन् १५५६-६७ ई०)—फिलिप द्वितीय ने सन् १५५६ ई० में फ्रांस के सन्धि कर लेने के पश्चात् अपनी सौतेली बहन पारमा की मार्गरेट को नीदरलैण्ड्स का शासन-भार सौंप दिया। इसमें फिलिप ने भूल की। यदि उसने अपनी सौतेली बहन को नियुक्त न कर किसी नीदरलैण्ड्सवासी के हाथों में शासन का भार सौंपा होता तो वह नीदरलैण्ड्स के निवासियों को सन्तुष्ट करने में सफल हुआ होता। किन्तु उसने ऐसा न किया। अतः नीदरलैण्ड्स के निवासियों में असंतोष बढ़ने लगा। वे धार्मिक न्यायालयों द्वारा किये जा रहे अत्याचार का अंत चाहते थे तथा स्पेनी सैनिकों को अपने राज्य से निकाल कर आर्थिक शोषण की समाप्ति चाहते थे। इसके अतिरिक्त फिलिप द्वितीय ने स्पेन के कार्डिनल ग्रेनविल को नीदरलैण्ड्स की राज्य परिषद का अध्यक्ष नियुक्त किया तथा नीदरलैण्ड्स के प्रशासन का वास्तविक अधिकार भी उसे प्रदान किया। ग्रेनविल की इस नियुक्त से भी नीदरलैण्ड्सवासी असंतुष्ट थे और प्रभावशाली सामन्तों ने इसका घोर विरोध किया। मार्गरेट ने विरोध कम करने के लिये लोगों की साधारण माँगों की पूर्ति की तथा शासन को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से उसने स्पेनी सेना को भी वापस भेज दिया। किन्तु इससे धार्मिक न्यायालयों एवं ग्रेनविल के अत्याचारपूर्ण शासन में कोई परिवर्तन न आया। अतः इसके विरुद्ध लोगों के विरोध में कोई कमी न आई। इस विरोध का नेतृत्व व सर्वप्रथम

ऑरेंज के राजकुमार विलियम, काउन्ट इग्मन्ट तथा हूर्न आदि प्रभावशाली सामन्तों ने किया। इस प्रकार विद्रोह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया। अब लोगों ने अपने असंतोष की ओर फिलिप द्वितीय का भी ध्यान आकर्षित किया तथा इसके लिये उसके पास शिकायतें आदि भी भेजी। फलस्वरूप फिलिप द्वितीय ने कार्डिनल ग्रेनविल को नीदरलैण्ड्स से वापस बुला लिया। किन्तु धार्मिक न्यायालयों को पहले ही भाँति कार्यशील रहने दिया। वह इन धार्मिक न्यायालयों को समाप्त करने के पक्ष में न था। दूसरी ओर यह धार्मिक न्यायालय नीदरलैण्ड्सवासियों के हृदय में असंतोष का कारण बने हुए थे तथा वे इसे घृणा की दृष्टि से देखते थे। सन् १५६३ में नीदरलैण्ड्स के सामान्तों एवं प्रभावशाली नागरिकों ने मार्गरेट की सेवा में एक आवेदन-पत्र भेजा जिसमें नीदरलैण्ड्स-वासियों के असंतोष की ओर ध्यान आकर्षित किया गया तथा जन-विद्रोह की आशंका प्रकट की थी। इसके लिये शिकायतों को दूर करने तथा धार्मिक न्यायालयों को समाप्त करने की प्रार्थना की गयी थी। इनकी प्रार्थना स्वीकार करने के बजाय मार्गरेट के दरबारियों ने इन्हें 'भिखारी' की संज्ञा प्रदान की तथा इनके प्रार्थना पत्र को 'भिखारियों का प्रार्थना-पत्र' कहा। इसी समय से इन लोगों ने अपने को 'भिखारी' (The Beggars) कहना प्रारम्भ किया तथा भिखारियों की झोली एवं पत्र को अपने दल के चिह्न के रूप में स्वीकार किया।

इन भिखारियों ने फिलिप द्वितीय के समक्ष अपनी शिकायतें प्रस्तुत कीं तथा उन्हें दूर करने की प्रार्थना की। यद्यपि प्रारम्भ में वह धार्मिक न्यायालयों को समाप्त करने के लिये तैयार हो गया था किन्तु बाद में उसने उन्हें पूर्ववत् चलने दिया। परिणामस्वरूप, अगस्त १५६६ ई० में प्रोटेस्टेन्ट उत्तेजित हो उठे और उन्होंने बल-पूर्वक धार्मिक न्यायालयों को बन्द करना तथा गिरजाघरों पर आक्रमण कर उनकी मूर्तियों, चित्रों एवं अन्य धार्मिक वस्तुओं को नष्ट-भ्रष्ट करना प्रारम्भ किया। एण्टवर्प के प्रसिद्ध गिरजाघर को इन विद्रोहियों ने बड़ी क्षति पहुँचाई। नीदरलैण्ड्स के इन विद्रोहियों का 'प्रतिमा-विनाशक रोष' कई सप्ताह तक चलता रहा। अन्त में फिलिप द्वितीय ने इन विद्रोहियों को कठोर दण्ड देने के लिये मार्गरेट के स्थान पर अपने विश्वासपात्र एवं योग्य स्पेनी सेनापति अलवा के ड्यूक को सन् १५६७ ई० में नीदर-लैण्ड्स का प्रशासक नियुक्त किया।

अलवा का शासन (सन् १५६७-७३ ई०)—अलवा का ड्यूक १५६७ ई० में १०,००० सैनिकों की एक विशाल सेना साथ नीदरलैण्ड्स पहुँचा। उसके आगमन से नीदरलैण्ड्स में आतंक छा गया। ऑरेंज का विलियम तथा अन्य विद्रोही नेता नीदरलैण्ड्स से भाग निकले। अलवा के ड्यूक ने 'प्रतिमा विनाशक रोष' में भाग लेने वाले विद्रोहियों को कठोर दण्ड देने के लिए एक 'अशान्ति परिषद' (Council of

Troubles) की स्थापना की। इस 'असंवैधानिक परिषद' ने बड़ी निर्दयता एवं कठोरता के साथ कार्य किया। परिषद ने इतना रक्तपात किया कि इसे लोग 'रक्त परिषद' के नाम से सम्बोधित करने लगे। परिषद ने लगभग ८०० व्यक्तियों को मृत्यु-दण्ड दिया, जिनमें काउन्ट इग्मन्ट एवं हूर्न जैसे प्रभावशाली सरदार भी सम्मिलित थे। इतना ही नहीं अलवा के ड्यूक के छः वर्ष के शासन काल में ३०,००० लोगों की सम्पत्ति छीन ली गयी और लगभग १ लाख व्यक्तियों को देश छोड़कर भाग जाना पड़ा। उसने वहाँ के लोगों पर भारी बिक्री कर तथा अन्य कर लगाये। उसने कपड़े आदि कुछ वस्तुओं पर कर १० प्रतिशत के स्थान पर ७० प्रतिशत कर दिया। इसके अतिरिक्त उसने दशमांश (Alcabala) नामक स्पेनी कर नीदरलैण्ड्स में लागू कर दिया। इससे देश की जनता करों के भार से पीड़ित हो गयी तथा सर्वत्र अराजकता एवं अशान्ति व्याप्त हो गई। ऐसी अवस्था में देश की आर्थिक समृद्धि एवं औद्योगिक विकास भी अवरुद्ध हो गया। ऐसी स्थिति में नीदरलैण्ड्स के सभी निवासियों ने आपसी मतभेद को भुलाकर संगठित होकर क्रूर स्पेनी निरंकुश शासन का विरोध करने का दृढ़ निश्चय किया जिसके फलस्वरूप नीदरलैण्ड्स में सशास्त्र विद्रोह की ज्वाला भड़क उठी।

ऑरेंज के राजकुमार विलियम का योगदान—ऑरेंज का राजकुमार विलियम जर्मनी के नासो प्रदेश का राजकुमार था। वह नासो के विलियम, ऑरेंज के विलियम तथा 'शान्त विलियम' तीन नामों से प्रसिद्ध था। चार्ल्स पंचम के शासन काल में उसने अपनी सैनिक योग्यता के आधार पर काफी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। उसकी गणना देश के प्रभावशाली सामन्तों में की जाती थी तथा हालैण्ड तथा ब्रेबान्ट के प्रदेशों में उसकी जागीरें थीं। अलवा के ड्यूक के नीदरलैण्ड्स में आने के पूर्व वह हालैण्ड तथा जीलैण्ड के प्रान्तों का प्रान्तपति था। यद्यपि जन्म से वह एक कैथालिक था, किन्तु धीरे-धीरे वह कैल्विनवाद की ओर आकृष्ट होने लगा और अन्त में उसने कैल्विनवाद स्वीकार कर लिया। अलवा के ड्यूक के नीदरलैण्ड्स में पहुँचते ही वह जर्मनी भाग गया। उसकी जागीरें जब्त कर ली गयीं। नीदरलैंड्स मे अलवा के ड्यूक का दमन-चक्र उसके लिये असह्य हो गया और उसने वहाँ जनता को उस अत्याचार से मुक्ति दिलाने लिये पुनः नीदरलैण्ड्स लौटने का निश्चय किया। उसने अपनी सम्पत्ति बेचकर एक सेना का संगठन किया, जिसमें नीदरलैण्ड्स से निकाले गये व्यक्तियो की संख्या भी अधिक थी। विलियम ने सन् १५६८ ई० में नीदरलैण्ड्स पर आक्रमण कर दिया, परन्तु अलवा के ड्यक की सेना ने उसे पराजित कर दिया। किन्तु इस पराजय से विलियम हतोत्साहित न हुआ वरन् उसके इस आक्रमण ने नीदरलैण्ड्स-वासियों ने अदम्य साहस एवं उत्साह का संचार किया। यद्यपि अलवा के ड्यूक का स्थल पर पूर्ण

अधिकार था, किन्तु समुद्र पर वह पूर्ण नियन्त्रण न रख सका। अब नीदरलैण्ड्स के साहसी डच नाविकों ने 'सामुद्रिक भिखारियों' का दल संगठित कर स्पेनी जहाजों को लूटना प्रारम्भ किया। इस प्रकार इस दल के नाविकों का साहस बढ़ता ही गया और सन् १५७५ ई० में उन्होंने ब्रिल के बन्दरगाह पर भी अधिकार कर लिया। 'सामुद्रिक भिखारियों' के दल की इस सफलता से उत्तरी प्रदेशों में भी एक नवीन शक्ति एवं उत्साह का संचार हुआ। विलियम को इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा जर्मनी आदि देशों से वाह्य सहायता भी प्राप्त हुई। अब विलियम की शक्ति में अत्यधिक वृद्धि हो चुकी थी। उसने उत्तरी नीदरलैण्ड्स के सभी प्रदेशों से स्पेनियों को निकालना प्रारम्भ किया। इस प्रकार अब अलवा के ड्यूक का अधिकार क्षेत्र ब्रसेल्स के दक्षिण तक ही सीमित रह। विलियम के सफल नेतृत्व से प्रभावित होकर हालैण्ड के निवासियों ने उसे अपना संरक्षक अथवा गवर्नर बना दिया। अलवा के ड्यूक ने उत्तरी प्रदेशों को पुनः प्राप्त करने का प्रयास किया। उसने हारलेम नगर के आठ महीने के घेरे के पश्चात् नगर में प्रवेश किया तथा उसे बुरी तरह लूटा। किन्तु अब अलवा के ड्यूक की योग्यता पर फिलिप द्वितीय का विश्वास न रहा। अतः उसने सन् १५७३ ई० अलवा के ड्यूक को स्पेन वापस बुला लिया तथा उसके स्थान पर रेकसेन्स की नीदरलैण्ड्स में नियुक्ति की।

रेकसेन्स का शासन काल (सन् १५७३-१५७६ ई०)—नवम्बर १५७३ ई० में रेकसेन्स नीदरलैण्ड्स पहुँचा। उसने वहाँ अपने पूर्ववर्ती प्रशासकों की नीतियों का त्याग कर समझौते की नीति का अनुसरण करने का विचार किया। किन्तु इस दिशा में उसके सभी प्रयास विफल हुये। इसका प्रमुख कारण यह था कि उसे फिलिप द्वितीय द्वारा विद्रोहियों से सन्धि करने के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता न मिली थी और न ही डच स्पेन से सन्धि के लिये तत्पर थे। ऑरेंज के विलियम ने अब अपने को कैल्विन-वादी घोषित कर दिया था। उसने पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता, प्राचीन विशेषाधिकारों की की बहाली तथा स्पेनी सेना एवं पदाधिकारियों को हटाने की माँग की। किन्तु इन शर्तों पर विचार करना सम्भव न था क्योंकि यह सब उसकी शक्ति से परे था। अतः संघर्ष पहले की ही भाँति पुनः जारी हो गया। स्पेनी सेना ने सन् १५४७ ई० में लीडेन नगर का घेरा डाल दिया। ऑरेंज के विलियम ने साहस एवं वीरता के साथ आक्रमण का सामना किया। उसने लीडेन की रक्षा के लिये समुद्र का बाँध काट दिया, जिससे सामुद्रिक लहरें आस-पास की भूमि को जलमग्न करने लगीं। इसी समय विलियम के सैनिकों ने भी उन पर आक्रमण कर दिया। ऐसी विषम परिस्थिति में स्पेनियों को घेरा उठा लेना पड़ा और लीडेन पर स्पेनियों का अधिकार न हो सका। इसके पश्चात् रेकसेन्स ने ब्रैबान्ट प्रदेश की परिषद् को समझौते के लिये आमंत्रित

किया और उसने 'रक्त परिषद' तथा दस प्रतिशत बिक्री कर समाप्त करने के लिये कहा। किन्तु इसका कोई संतोषजनक परिणाम न निकला और सन् १५७६ ई० में रेकसेन्स की मृत्यु हो गई।

रेक्सेन्स की आकस्मिक मृत्यु से स्पेन की सेना ने, जिसका काफी समय से वेतन बाकी था, लूट-मार प्रारम्भ कर दिया। स्पेनी सैनिकों के इस विद्रोह को 'स्पेनियों का रोष' (Spanish fury) की संज्ञा दी गई है। इन्होंने नवम्बर १५७६ ई० में एन्ट-वर्प नगर की ओर प्रस्थान किया तथा वहाँ पहुँचकर ७००० व्यक्तियों की हत्या कर दी एव अपार सम्पत्ति लूटी। अभी तक नीदरलैण्ड्स के उत्तरी प्रान्त ही विद्रोह के केन्द्र थे, किन्तु स्पेनी सैनिकों की इस लूट-मार के कारण दक्षिणी प्रान्त भी उत्तरी प्रान्तों के साथ हो लिये। इस प्रकार नीदरलैण्ड्स के सभी सत्रह प्रान्तों के प्रतिनिधि गेन्ट (Ghent) नामक नगर में एकत्रित हुये और उन्होंने यह घोषणा की कि जब तक 'इन्क्वीजीशन' नामक धार्मिक न्यायालय समाप्त नहीं कर दिये जाते, स्पेनी सेना वापस नहीं बुला ली जाती तथा उन्हें पुरानी स्वतन्त्रता पुनः प्रदान नहीं कर दी जाती वे शान्त न होंगे तथा संगठित रूप से संघर्ष जारी रखेंगे। नीदरलैण्ड्स के सभी प्रान्तों के प्रतिनिधियों की यह घोषणा 'गेन्ट के सन्धिकरण' (Pacification of Ghent) के नाम से प्रसिद्ध है।

डॉन जॉन का शासन (सन् १५७६-७८ ई०)—रेकसेन्स के स्थान पर फिलिप द्वितीय ने अपने सौतेले भाई आस्ट्रिया के डॉन जॉन को नीदरलैण्ड्स का प्रशासक बना कर भेजा। नीदरलैण्ड्स पहुँच कर उसने विद्रोहियों से सम्पर्क स्थापित कर विद्रोह का अन्त करने का प्रयास किया। उसने नीदरलैण्ड्सवासियों की कुछ माँगों को स्वीकार कर उन्हें कुछ सुविधायें भी प्रदान करना चाहा। किन्तु ऑरेंज के विलियम का डॉन जॉन में विश्वास न होने के कारण उसने इन सुविधाओं को अस्वीकार कर दिया। अतः संघर्ष पुनः पहले की भाँति जारी रहा। किन्तु सन् १५७८ ई० डॉन जॉन की मृत्यु हो गई और उसके स्थान पर पारमा का ड्यूक अलेक्जेन्डर फार्नेस नीदरलैण्ड्स् का प्रशासक नियुक्त हुआ।

पारमा के ड्यूक का शासन (सन् १५७८-१५९२ ई०)—पारमा का ड्यूक अलेक्जेन्डर फिलिप द्वितीय की सौतेली बहन फार्नेस मार्गरेट का पुत्र था जो पारमा का ड्यूक अलेक्जेन्डर फार्नेस एक कुशल सेनापति एवं कूटनीतिज्ञ था। नीदरलैण्ड्स पहुँचकर उसने 'विभाजन एवं शासन' (Divide and Rule) की नीति का अनुकरण किया। उसने इस नीति के द्वारा 'गेन्ट के सन्धिकरण' को समाप्त कर नीदरलैंडस के उत्तरी एवं दक्षिणी प्रान्तों में मतभेद पैदा कर उन्हें अलग करने का प्रयास किया। उत्तरी प्रान्तों के लोग कैल्विनवादी थे एवं उनका मुख्य व्यवसाय व्यापार था, किन्तु

दक्षिणी प्रान्त केल्विनवादी तथा उद्योगशील थे। पारमा के ड्यूक ने दक्षिण के कैथोलिक प्रान्तों को कैथोलिक धर्म की रक्षा के नाम पर अपनी ओर मिला लिया। दक्षिण नीदरलैण्ड्स के दस कैथोलिक प्रान्तों ने सन् १५७६ ई० में कैथोलिक धर्म की रक्षा एवं फिलिप द्वितीय के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से 'आरास के संघ' (Union of Arras) की स्थापना की। इसके बदले मे पारमा के ड्यूक ने इन्हें पुरानी राजनीतिक सुविधायें प्रदान करने का आश्वासन भी दिया। 'आरास के संघ' के प्रत्युत्तर में ऑरेंज के विलियम ने उत्तर के कैल्विनवादी प्रान्तों के सहयोग से 'यूट्रेक्ट के संघ' (Union of Utrecht) की स्थापना की जिसका उद्देश्य धार्मिक स्वतन्त्रता की स्थापना तथा स्पेन के विरुद्ध अपने अधिकारों एवं स्वतन्त्रता की रक्षा करना था। इस प्रकार पारमा के ड्यूक की कूटनीति से नीदरलैण्ड्स में आरास एवं यूट्रेक्ट के संघों की स्थापना से 'गेन्ट की सन्धि' का अन्त हो गया और नीदरलैण्ड्स दो परस्पर विरोधी भागों में विभाजित हो गया। दक्षिणी प्रदेश स्पेन के अधीन बने रहने के कारण 'स्पेनी नीदरलैण्ड्स' कहलाये।

डच गणतन्त्र की स्थापना—नीदरलैण्ड्स के दक्षिणी प्रान्तों को कूटनीति के द्वारा अपनी ओर मिलाने के पश्चात् पारमा के ड्यूक ने उत्तर के प्रोटेस्टेन्ट प्रदेशों पर शक्तिपूर्वक अधिकार करने का प्रयास किया। किन्तु वह अपने इस प्रयास में सफल न हो सका। इसके अनेक कारण थे। एक तो यह कि भूमि आक्रामक युद्ध के लिये उपयुक्त न थी; दूसरे नहरों तथा समुद्र के बाँध को काट कर आक्रामक सेना को रोका जा सकता था तथा तीसरे यह कि हालैण्ड के कुशल नाविक स्पेन के व्यापारिक जहाजों को लूटते थे। इसके अतिरिक्त ऑरेंज का विलियम खुले हुए युद्ध से बचता था। अपनी कूटनीति के द्वारा उसने इंग्लैण्ड, फ्रांस एवं जर्मनी से भी सहायता प्राप्त की सन् १५८० ई० फिलिप द्वितीय ने घोषणा की कि जो व्यक्ति भी ऑरेंज के विलियम को जीवित या मृत लायेगा उसे सामन्त के पद के साथ पारितोषिक भी प्रदान किया जायेगा। इसके उत्तर में ऑरेंज के विलियम ने फिलिप द्वितीय के कुकर्मों का प्रकाशन किया तथा सन् १५८१ ई० में 'संयुक्त प्रान्तों की स्वतन्त्रता' की घोषणा की। अतः ऑरेंज के विलियम की हत्या के कई प्रयास किये गये और अन्त में जुलाई १५८४ ई० में एक स्पेनी हत्यारे ने उसकी जीवन-लीला समाप्त कर दी।

ऑरेंज के विलियम की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र मोरिस ने डचों का नेतृत्व ग्रहण किया। डच इंग्लैण्ड की महारानी एलिजाबेथ से सहायता प्राप्त करने में सफल हुये। इंग्लैण्ड की महारानी ने डचो की आर्थिक एवं सैनिक सहायता की। इंग्लैण्ड के इस व्यवहार से फिलिप द्वितीय बहुत क्रोधित हुआ उसने कुछ समय के लिए डच-युद्ध को स्थगित कर इंग्लैण्ड से निर्णयात्मक युद्ध करने का निश्चय किया। यद्यपि

पारमा के ड्यूक ने उसकी इस योजना का विरोध किया, किन्तु वह अपने निश्चय पर डटा रहा। मई सन् १५८८ ई० में स्पेन के विशाल 'आर्मेडा' नामक जहाजी बेड़े ने इंग्लैण्ड के विरुद्ध प्रस्थान किया। किन्तु अंग्रेजों ने 'स्पेनी आर्मेडा' को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इसी बीच डचों को अपनी शक्ति-संगठित करने का उपयुक्त अवसर मिला। इसके अतिरिक्त सन् १५८९ ई० में फ्रांस में हेनरी चतुर्थ के सिंहासनारोहण से डचों को फ्रांस की सहायता भी मिलने लगी। 'आर्मेडा' की पराजय से स्पेन की शक्ति को बहुत आघात लगा था। अब स्पेन की दुर्बलता से लाभ उठा कर मॉरिस ने आक्रामक नीति अपनायी। सन् १५९२ ई० मे पारमा के ड्यूक की भी मृत्यु हो गयी थी। अतः अब परिस्थिति मॉरिस के अनुकूल थी। उसने समस्त उत्तरी प्रान्तों से स्पेनियों को खदेड़ दिया। फिलिप द्वितीय ने डचों से वार्ता प्रारम्भ की, किन्तु कोई समझौता न हो सका। सन् १५९८ ई० में फिलिप द्वितीय की मृत्यु हो गयी तथा उसकी मृत्यु के पश्चात् फिलिप तृतीय के शासन काल में भी डचों ने स्पेन के विरुद्ध संघर्ष जारी रखा। अन्त में फिलिप तृतीय ने परिस्थितियों से विवश होकर सन् १६०९ ई० में डचों के साथ बारह वर्षों के लिये विराम संधि कर ली। किन्तु तीस वर्षीय युद्ध के दौरान (सन् १६१८-१६४८ ई०) स्पेन के नये शासक फिलिप चतुर्थ ने उत्तरी नीदरलैण्ड्स के प्रान्तों को जीतने के उद्देश्य से डचों के विरुद्ध पुनः युद्ध आरम्भ कर दिया। अन्त मे सन् १६४८ ई० में वेस्टफेलिया की संधि के द्वारा स्पेन एवं नीदरलैण्ड्स के मध्य युद्ध का अन्त हुआ तथा यूरोप के सभी राज्यों ने डच प्रजातन्त्र की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली। दक्षिणी नीदरलैण्ड्स के प्रान्त स्पेन के आधीन रहे तथा वे 'स्पेनी नीदरलैण्ड्स' कहे जाने लगे।

●

अध्याय ८

तीस वर्षीय युद्ध

(THIRTY YEARS' WAR, 1618—1648)

धर्म सुधार आन्दोलन के परिणामस्वरूप जर्मन राज्य प्रोटेस्टेन्ट एवं कैथोलिक दो विरोधी गुटों में विभाजित हो गये। आग्सबर्ग को सन्धि (सन् १५५५ ई०) भी जर्मनी में स्थायी रूप से शान्ति स्थापित करने में असफल रही। इस सन्धि के पश्चात् भी कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेन्टों के मध्य कटुता बनी रही। ऐसी परिस्थिति में वहाँ कभी भी गृह युद्ध प्रारम्भ हो सकता था। अन्त में, सन् १६१८ ई० में यह युद्ध प्रारम्भ हो गया और तीस वर्षों तक चलते रहने के कारण यह तीस वर्षीय युद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यद्यपि इस युद्ध का प्रारम्भ एक धार्मिक युद्ध के रूप में हुआ था, किन्तु अन्तिम चरण में अन्तराष्ट्रीय राजनीति से प्रभावित होने के कारण इसने राजनीतिक युद्ध का रूप धारण कर लिया। दूसरे शब्दों में अन्तिम चरण में यह स्पेन के हैप्सबर्ग वंश तथा फ्रांस के बोरबाँ वंश के मध्य युद्ध हो गया जिसके द्वारा यह निश्चित होना था कि अब यूरोप में स्पेन का प्रधानता स्थापित होगी अथवा फ्रांस को। इसके साथ ही यह भी निश्चित होना था कि यूरोप में किस धर्म की प्रधानता स्थापित होगी, कैथोलिक अथवा प्रोटेस्टेन्ट।

इतिहासकार लार्ड ऐक्टन ने तीस वर्षीय युद्ध के कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "प्रतिक्रियावादी धर्म-सुधार आन्दोलन का अन्तिम एवं अत्यन्त महत्वपूर्ण परिणाम तीस वर्षीय युद्ध था। प्रतिक्रियावादी आन्दोलन के अन्तर्गत प्रोटेस्टेन्टवाद की बढ़ती हुई प्रगति को रोकने के लिये एक सुनियोजित कठोर दमन नीति अपनायी गयी। जिससे प्रोटेस्टेन्टवादी बहुत भयभीत हो गये और अन्त में उन्होंने इसका सामना करने का निश्चय किया। इस प्रकार तीस वर्षीय युद्ध का प्रारम्भ हो गया।" अध्ययन की सुविधा को दृष्टि से तीस वर्षीय युद्ध के कारणों को निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है—

धार्मिक कारण :

तीस वर्षीय युद्ध का सर्वप्रमुख कारण धार्मिक था। सन् १५५५ ई० को आग्सबर्ग का सन्धि न तो जर्मनी के प्रोटेस्टेन्ट को सन्तुष्ट कर सकी थी और न ही

इससे कैथोलिक सन्तुष्ट हुये थे। इसका कारण यह था कि यह सन्धि काफी दोषपूर्ण थी। इसके द्वारा जर्मनी के प्रत्येक राजकुमार को अपने राज्य के धर्म के निश्चय का अधिकार दिया गया कि उसके राज्य में प्रोटेस्टेन्ट धर्म स्थापित होगा अथवा कैथोलिक धर्म। किन्तु इसके सम्बन्ध में जनता की इच्छा को कोई महत्व न दिया गया। इस सन्धि के द्वारा जहाँ एक ओर राजकुमारों को धार्मिक सहिष्णुता प्रदान की गई वहीं दूसरी ओर जनता को उससे वंचित रखा गया। इस सन्धि की एक दूसरी धारा धार्मिक संरक्षण के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई कि यदि कोई कैथोलिक प्रोटेस्टेन्ट-वाद स्वीकार कर लेता है तो उसे अपने पद के साथ-साथ उससे संयुक्त सम्पत्ति को भी त्यागना होगा। इसके अन्तर्गत यह भी कहा गया कि कैथोलिक चर्च की सम्पत्ति जो १ जनवरी, १५५२ ई० से पूर्व अधिकृत कर ली गई है उस पर कैथोलिक चर्च का अधिकार न होगा। १ जनवरी, १५५२ ई० के पश्चात् धर्म परिवर्तन में सम्पत्ति कैथोलिक चर्च के अन्तर्गत ही रहेगी। परन्तु इसके बावजूद भी प्रोटेस्टेन्टों ने कैथोलिक चर्च की काफी सम्पत्ति अधिकृत कर ली। इस प्रकार प्रोटेस्टेन्टो एवं कैथोलिकों में कटुता बढती रही जो भविष्य में तीस वर्षीय युद्ध का कारण बनी।

इसके अतिरिक्त जिस समय आग्सबर्ग की सन्धि (सन् १५५५ ई०) हुई थी उसमें कैल्विनवादी राजकुमार सम्मिलित न थे। इस कारण केवल लूथरवादियों को ही मान्यता प्रदान की गई थी। किन्तु कालान्तर में लूथरवाद का प्रभाव कम होने लगा तथा मध्य एवं दक्षिणी जर्मनी, बोहेमिया आदि राज्यों में कैल्विनवादियों का प्रभाव बढ़ने लगा। इस कारण जर्मनी के कैल्विनवादियों ने मान्यता की माँग की। फलस्वरूप तीस वर्षीय युद्ध का प्रारम्भ हुआ।

राजनीतिक कारण :

तीस वर्षीय युद्ध का दूसरा प्रमुख कारण राजनीतिक था। सम्राट फर्डिनेण्ड द्वितीय जर्मनी में अपनी शक्ति को सुदृढ़ रूप से स्थापित करना चाहता था तथा वहाँ एक केन्द्रीकृत शासन व्यवस्था लागू करना चाहता था। दूसरी ओर जर्मनी के राजकुमार स्वतन्त्रता के पक्ष में थे। धर्म सुधार आन्दोलन के काल में वे काफी धनी एवं शक्ति-सम्पन्न हो गये थे और अब वे सम्राट की सत्ता के आधीन न रह कर पूर्ण-रूपेण स्वतन्त्र होना चाहते थे। अतः जर्मन सम्राट ने जर्मनी के इन राजकुमारों की शक्ति को दमन करने का निश्चय किया। सम्राट की बढ़ती हुई शक्ति ने जर्मनी के बहुत से कैथोलिक राजकुमार भी असन्तुष्ट थे। इसके अतिरिक्त फ्रांस राइन नदी की ओर अपनी सीमा का विस्तार करना चाहता था। इसी प्रकार स्वीडेन

तथा डेनमार्क भी यूरोप में अपनी सीमाओं के विस्तार के उद्देश्य से इस युद्ध में सम्मिलित हुये ।

तात्कालिक कारण :

इस युद्ध का तात्कालिक कारण बोहेमिया का विद्रोह था। बोहेमिया की अधिकांश जनता कैल्विनवादी थी। सम्राट मैथियास की मृत्यु के पश्चात् फर्डिनेण्ड द्वितीय पवित्र रोमन सम्राट बना। वह धर्मनिष्ठ कैथोलिक था। उसकी प्रोटेस्टेन्ट विरोधी नीति से आतन्कित होकर सन् १६०८ ई० में प्रोटेस्टेन्टों ने पैलेटाइन के राजा फ्रेडरिक के नेतृत्व में एक प्रोटेस्टेन्ट संघ का निर्माण किया। इस संघ में हेस, वर्डेन, बटेमवर्ग आदि राज्य सम्मिलित थे। इस संघ का उद्देश्य कैथोलिकों के विरुद्ध प्रोटे-स्टेन्टवाद की रक्षा करना था। इसके पश्चात् सन् १६०९ ई० में बवेरिया के शासक मैक्सीमलियन के नेतृत्व में एक कैथोलिक संघ की स्थापना की गई। इस प्रकार जर्मनी दो परस्पर विरोधी संघों में विभाजित हो गया। फर्डिनेण्ड द्वितीय ने अपनी प्रोटेस्टेन्ट विरोधी नीति के कारण प्रोटेस्टेन्टों के विरुद्ध अनेक आदेश जारी किये जिसके परिणामस्वरूप प्रोटेस्टेन्टों में असन्तोष व्याप्त हो गया और इन आदेशों के विरोधी में एक सभा बुलाई। सम्राट ने सभा को भंग करने का आदेश दे दिया। अतः प्रोटेस्टेन्ट बहुत क्रोधित हुये और उन्होने सन् १६१८ ई० में प्राग के किले में प्रवेश कर कुछ अधिकारियों को किले की खिड़की से बाहर फेंक दिया। सम्राट फर्डिनेण्ड द्वितीय ने विद्रोहियों के अन्त करने का निश्चय किया। इस प्रकार सन् १६१८ ई० में बोहेमिया के विद्रोह से तीस वर्षीय युद्ध का प्रारम्भ हुआ। तीस वर्षों (सन् १६१८ ई० से १६४८ ई०) तक चलते रहने के कारण यह 'तीस वर्षीय युद्ध' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

युद्ध के चार काल :

घटनाओं के आधार पर तीस वर्षीय युद्ध को निम्नलिखित चार कालों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) **बोहेमियन अथवा पैलेटाइन काल (सन् १६१८** १६२४ ई०) : सम्राट फर्डिनेण्ड द्वितीय ने बोहेमिया के विद्रोह को शान्त करने के लिये बवेरिया के काउन्ट टिली के सेनापतित्व में एक विशाल सेना भेजी तथा स्पेन के सम्राट फिलिप तृतीय से सहायता माँगी। पैलेटाइन के राजकुमार तथा प्रोटेस्टेन्ट संघ के नेता फ्रेडरिक ने इंग्लैण्ड से सहायता की आशा की, क्योंकि इंग्लैण्ड का राजा जेम्स प्रथम उसका श्वसुर था। किन्तु इंग्लैण्ड का राजा जेम्स प्रथम इंग्लैण्ड की आन्तरिक समस्याओं

में व्यस्त रहने के कारण फ्रेडरिक की सहायता न कर सका। इसके अतिरिक्त उसे जर्मनी से लूथरवादी राजकुमारों से भी कोई सहायता न मिल सकी। फलस्वरूप नवम्बर सन् १६२० ई० में सेनापति टिली ने व्हाइट हिल के युद्ध में बोहेमिया के विद्रोहियों को पराजित किया। फ्रेडरिक को विवश होकर देश छोड़ना पड़ा। बोहेमिया पर सम्राट फर्डिनेण्ड द्वितीय का पूर्ण अधिकार हो गया। बोहेमिया में प्रोटेस्टेन्ट धर्म को निषिद्ध घोषित किया गया तथा विद्रोही सामन्तों की सम्पत्ति अधिकृत कर ली गई। कैथोलिक धर्म को राज्य-धर्म घोषित किया गया। पैलेटाइन के राज्य को बवेरिया के शासक मैक्सिमीलियन को दे दिया गया तथा उसे 'निर्वाचक' की उपाधि भी प्रदान की गई। इस प्रकार युद्ध के प्रथम चरण मे कैथोलिकों को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

(२) **डेनिश काल (सन् १६२५-१६२९ ई०)** : सन् १६२५ ई० में डेनमार्क के राजा क्रिश्चियन चतुर्थ ने युद्ध में भाग लिया। उसके युद्ध में भाग लेने के कई कारण थे। पहला तो यह कि क्रिश्चियन चतुर्थ अपनी महत्वाकांक्षी नीति के कारण-उत्तरी सागर पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था। दूसरे, लूथरवादी होने के कारण वह अपने सहधर्मी जर्मनी के प्रोटेस्टेन्टों की सहायता करना चाहता था। इंग्लैण्ड में जेम्स प्रथम की मृत्यु के पश्चात् चार्ल्स प्रथम राजा बना और उसने क्रिश्चियन चतुर्थ को आर्थिक सहायता प्रदान की। सन् १६२५ ई० डेनमार्क के राजा क्रिश्चियन चतुर्थ ने उत्तरी जर्मनी पर आक्रमण कर दिया। सम्राट फर्डिनेण्ड द्वितीय ने सेनापति टिली की सहायता के लिये सेनापति वालेन्सटाइन को नियुक्त किया। टिली तथा वालेन्सटाइन की सम्मिलित सेनाओं ने सन् १६२६ ई० में लूटर (Lutter) के युद्ध में क्रिश्चियन चतुर्थ को बुरी तरह पराजित किया। ब्रेन्डेनबर्ग के ड्यूक ने डेनमार्क के विरुद्ध सम्राट फर्डिनेण्ड की सहायता की। कैथोलिकों के पास पर्याप्त नाविक शक्ति न थी। इस कारण वे डेनमार्क पर अधिकार न कर सके। अन्त में सन् १६२९ ई० में डेनमार्क के राजा क्रिश्चियन चतुर्थ ने सम्राट फर्डिनेण्ड से ल्यूबेक (Lubeck) की सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार श्लेसविग, होल्सटीन तथा जटलैण्ड क्रिश्चियन चतुर्थ के ही अधिकार में रहे किन्तु उसके अनेक सम्बन्धियों से कई जर्मन बिशपरिकें छीन ली गई।

कैथोलिक लीग से प्रभावित होकर सम्राट फर्डिनेण्ड द्वितीय ने सन् १६२९ ई० में कैथोलिक सम्पत्ति की पुनः वापसी-सम्बन्धी एक राजाज्ञा (Edict of Restitution) जारी की, जिसके अनुसार जो सम्पत्ति आग्सवर्ग की सन्धि (सन् १५५५ ई०)

के अनुसार प्रोटेस्टैन्टों को मिल गई थी वह उनसे वापस लेने का प्रयास किया गया। केवल तीन वर्ष के अन्तर्गत ही ५ बिशपरिकें, ३० नगर तथा लगभग १०० मठों पर कैथोलिकों का पुनः अधिकार स्थापित हो गया। सेनापति वालेन्सटाइन इसके पक्ष में न था इस कारण उसे सेना से हटा दिया गया। सम्राट की राजाज्ञा से अब लूथरवादी राज्य भी आतंकित हो उठे इस प्रकार स्वीडेन के राजा गस्टवस एडॉल्फस ने युद्ध में भाग लिया।

(३) **स्वीडिश काल (सन् १६३०-१६३५ ई०)**– सन् १६३० ई० में स्वीडेन के राजा गस्टवस एडाल्फस ने कैथोलिक संघ के विरुद्ध में भाग लिया। इसके कई कारण थे। पहला, यह कि स्वीडेन एक प्रोटेस्टेन्टवादी देश था। इस कारण गस्टवस एडाल्फस सहधार्मियों की सहायता करना अपना कर्तव्य समझता था। दूसरे, उसने राजवंशीय हितों की पूर्ति तथा सीमा विस्तार के उद्देश्य से कैथोलिकों के विरुद्ध युद्ध में भाग लेना आवश्यक समझा। इसके अतिरिक्त वह यूरोप में शक्ति-सन्तुलन बनाये रखने के लिये आस्ट्रिया एवं पौलैण्ड की शक्ति को सीमित करना चाहता था। इस कारण वह जर्मनी के प्रोटेस्टेन्टो की सहायता करना अति आवश्यक समझता था। स्वीडेन की सामुद्रिक शक्ति के विकास तथा व्यापार एवं वाणिज्य को उन्नतिशील बनाने के लिये वह बाल्टिक-सागर में अपना प्रभाव स्थापित करना चाहता था। स्वीडेन की सेना उस समय यूरोप में सर्वश्रेष्ठ थी। फ्रांस के प्रधानमन्त्री रिशेलू ने भी उसकी आर्थिक सहायता की क्योंकि वह यूरोप में हैप्सबर्ग परिवार के प्राधान्य एवं गौरव को समाप्त करना चाहता था।

सन् १६३० ई० में स्वीडेन के राजा गस्टवस एडाल्फस ने उत्तरी जर्मनी के कुछ प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। प्रारम्भ में जर्मनी के प्रोटेस्टेन्ट राज्यों ने अपने स्वार्थवश गस्टवस की कोई सहायता न की। किन्तु सन् १६३१ ई० में जब सम्राट की सेना ने टिली के नेतृत्व में मैजबर्ग (Magdeberg) के प्रोटेस्टेन्ट दुर्ग को बुरी तरह लूटा और लगभग सन् २०,००० प्रोटेस्टेन्टों की हत्या कर दी तब जर्मनी के प्रोटेस्टेन्ट राजकुमारों की आँखें खुलीं। फलस्वरूप कैथोलिकों से आतंकित होकर ब्रेन्डेनबर्ग तथा सैक्सनी के राजकुमार गस्टवस की सहायता के लिये तैयार हो गये। सन् १६३१ ई० में गस्टवस ने इस संयुक्त सेना द्वारा सेनापति टिली की सेना को बीटेनफील्ड में बुरी तरह पराजित किया। तत्पश्चात वह राइन नदी की ओर बढ़ा। किन्तु फ्रांस के प्रधानमन्त्री रिशेलू के विरोध के कारण गस्टवस कोलोन, ट्रीयर एवं मेन्ज की बिशपरिकों पर अधिकार न कर सका। अतः अब उसने बवेरिया पर आक्रमण कर दिया और अप्रैल, सन् १६३२ ई० में लेक (Lech) के युद्ध में सेनापति टिली को

पराजित किया तथा इस युद्ध में टिली मार डाला गया। अतः प्रोटेस्टेन्टों की बढ़ती हुई प्रगति से भयभीत होकर सम्राट फर्डिनेण्ड ने सेनापति वालेन्सटाइन को पुनः आमन्त्रित किया और कैथोलिक लीग की सेना का समस्त भार उसे सौंपा। नवम्बर, सन् १६३२ ई० में दोनों पक्षों में लुटजेन (Lutzen) का भयंकर युद्ध हुआ। यद्यपि इस युद्ध में विजय प्रोटेस्टेन्टों की ही हुई, किन्तु गस्टवस एडाल्फस मार डाला गया। उसकी मृत्यु से जर्मनी में प्रोटेस्टेन्ट राज्यों के संघ की स्थापना का स्वप्न जाता रहा। वालेन्सटाइन ने प्रोटेस्टेन्टों से सन्धि की वार्ता प्रारम्भ की। किन्तु कैथोलिकों को वालेन्सटाइन की धार्मिक नीति असह्य थी तथा वे उसके सन्धि प्रस्ताव के भी विरोधी थे। अतः कैथलिकों ने १६३४ ई० में एक षडयन्त्र के द्वारा सेनापति वालेन्सटाइन की हत्या कर डाली।

गस्टवस एडाल्फस की मृत्योपरान्त स्वीडेन की सेना में कुशल नेतृत्व का अभाव हो गया तथा दूसरी ओर कैथोलिकों की स्थिति में काफी सुधार हुआ। सैक्सनी के प्रोटेस्टेन्ट शासक ने अब स्वतन्त्र रूप से युद्ध जारी रखा। जुलाई, सन् १६३४ ई० में नार्डलिजेन (Nordlingen) के युद्ध में सम्राट की सेना ने स्वीडेन की सेना को बुरी तरह हराया और उसे दक्षिणी जर्मनी से निष्कासित कर दिया। इस समय तक दोनों ही पक्ष युद्ध करते-करते थक गये थे। अतः मई, सन् १६३५ ई० में प्राग की सन्धि हुई। जिसके अनुसार साम्राज्य की सम्पूर्ण सैनिक-शक्ति सम्राट के आधीन रखने की व्यवस्था की गई तथा सैक्सनी के राजकुमार के अतिरिक्त सभी राजकुमारों को अपनी-अपनी सेना भंग करने के लिये कहा गया। दोनों पक्षों द्वारा विजित प्रदेशों को लौटाने की व्यवस्था की गई। यह भी निश्चित हुआ कि सन् १६२७ ई० तक जो कैथोलिक सम्पत्ति प्रोटेस्टेन्टों के अधिकार में आ गई थी उसमें आगामी ४० वर्षों तक अथवा इसके भीतर जब तक कोई संतोषजनक समझौता न हो जाय परिवर्तन न किया जाय। किन्तु इस सन्धि का सब से बड़ा दोष यह था कि इसमें कैल्विनवाद को धार्मिक मान्यता न प्रदान की गयी। यद्यपि प्राग की संधि दोनों पक्षों के लिये संतोषजनक थी और उससे शान्ति-स्थापना की आशा भी थी। किन्तु प्रधानमन्त्री रिशेलू इसके पक्ष में न था, वह फ्रांस के हित के लिये युद्ध को जारी रखना चाहता था।

(४) **फ्रांसीसी काल (सन् १६३५-१६४८ ई०)**—इस काल में तीस वर्षीय युद्ध ने राजनीतिक स्वरूप ग्रहण कर लिया। जब कि प्रारम्भ में इसका स्वरूप धार्मिक था। रिशेलू प्राग की संधि (सन् १६३५ ई०) के पक्ष में न था और वह युद्ध को जारी रखना चाहता था। अतः अब उसने युद्ध में प्रत्यक्ष रूप से भाग लिया। रिशेलू के इस युद्ध में भाग लेने के कई कारण थे। पहला तो यह कि वह हैप्सबर्ग परिवार

के स्थान पर यूरोप में बोरबाँ परिवार की प्रतिष्ठा को स्थापित करना चाहता था। दूसरे, वह फ्रांस की सीमा का विस्तार चाहता था। रिशेलू के हैप्सबर्ग सम्राट के विरुद्ध युद्ध घोषित करने से पूर्व स्वीडेन, हालैण्ड तथा सेवाय से न्धि कर ली। सन् १६३५ ई० में रिशैलू ने स्पेन के हैप्सबर्ग परिवार के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। यह युद्ध लगभग तेरह वर्षों (सन् १६३५-१६४८ ई०) तक चलता रहा। प्रारम्भ में फ्रासीसियों की पराजय हुई। किन्तु बाद में फ्रांसीसी सेनापतियों के कुशल नेतृत्व के फलस्वरूप फ्रांसीसी सेना ने सन् १६३७ ई० के सन् १६४२ ई० तक उत्तर में में आर्तवा (Artois) तथा दक्षिण में रूसिलों (Roussillon) पर अधिकार कर लिया। रिशेलू की मृत्यु के समय युद्ध की स्थिति फ्रांस के पक्ष में थी। सन् १६४३ ई० में फ्रांसीसी सेनापति कौन्दे (Conde) ने स्पेनी सेना को रॉक्राय (Rocroi) के युद्ध में पराजित किया, जिससे स्पेन की सैनिक प्रतिष्ठा को काफी आघात लगा।

रिशेलू की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी मेजारिन ने उसकी नीति का अनुसरण किया। सन् १६४८ ई० में फ्रांस तथा स्वीडेन की सम्मिलित सेनाओं ने सम्राट तथा बवेरिया की सेनाओं को बुरी तरह पराजित किया। फ्रास की बढ़ती हुई सेना से वियना को खतरा उत्पन्न हो गया। वियना आस्ट्रिया की राजधानी थी। अतः सम्राट ने फ्रांस तथा स्वीडेन से शान्ति की वार्ता आरम्भ की। यद्यपि सन् १६४८ ई० की वेस्टफेलिया की सन्धि द्वारा तीस वर्षीय युद्ध का अन्त हो गया किन्तु स्पेन तथा फ्रांस के मध्य आगामी ११ वर्षों तक युद्ध चलता रहा और अन्त मे सन् १६५९ ई० की पिरेनीज की सन्धि द्वारा फ्रांस तथा स्पेन के मध्य युद्ध की समाप्ति हुई।

वेस्टफेलिया की सन्धि (सन् १६४८ ई०) :

तीस वर्षीय युद्ध का अन्त वेस्टफेलिया की सन्धि (१६४८ ई०) के द्वारा हुआ। इस सन्धि के द्वारा अनेक राजनीतिक परिवर्तन किये गये जो निम्नलिखित हैं—

सर्वप्रथम, व्यावहारिक दृष्टि से जर्मनी के प्रत्येक राजकुमार को सत्ता-सम्पन्न बना दिया गया और प्रत्येक राज्य को युद्ध एवं सन्धि का पूर्ण अधिकार प्रदान किया गया। किन्तु इसके सम्बन्ध में यह शर्त रखी गयी कि राजा जो सन्धि करेगा वह पवित्र रोमन सम्राट के विरुद्ध न होगी और न ही उस सन्धि से शान्ति को कोई खतरा पहुँचेगा।

दूसरे, स्ट्रासबर्ग को छोड़कर समस्त अल्सास के प्रान्त फ्रास को मिले। इसके अतिरिक्त मेत्ज (Metz), तूल तथा वर्दून की बिशपरिकों पर फ्रांस के अधिकार की पुष्टि की गयी।

तीसरे, स्वीडेन को पश्चिमी पामेरेनिया, ब्रेमेन तथा वर्डेन की बिशपरिकों प्राप्त हुई। इस प्रकार, ओडर, एल्ब तथा वेसर नदियों के मुहानों पर स्वीडेन का अधिकार स्थापित हुआ।

चौथे, फ्रांस तथा स्वीडेन को जर्मन ससद (Diet) में प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ तथा उन्हें जर्मनी की समस्याओं में हस्तक्षेप का अधिकार भी प्राप्त हुआ । स्वीडेन डायट में प्रतिनिधित्व का अधिकार पाकर और बाल्टिक सागर के दक्षिणी तट पर पाँव जमाकर एक महत्वपूर्ण शक्ति बन गया ।

पाँचवें, पैलेटाइन के राज्य को दो भागों में विभक्त किया गया—एक उत्तरी पैलेटाइन तथा दूसरा दक्षिणी पैलेटाइन । उत्तरी पैलेटाइन का प्रदेश तथा निर्वाचक का अधिकार बवेरिया के शासक मैक्सिमीलियन को प्रदान किया गया । दक्षिणी पैलेटाइन का प्रदेश अपदस्थ फ्रेडरिक के पुत्र चार्ल्स लेविस को प्रदान किया गया तथा उसे निर्वाचक की उपाधि भी दी गयी ।

छठें, ब्रैन्डेनबर्ग से पश्चिमी पामेरेनिया लेकर स्वीडेन को दे दिया गया था । अतः इसके बदले में उसे पूर्वी पामेरेनिया मैजबर्ग की बिशपरिक के अतिरिक्त अन्य कई बिशपरिकें प्राप्त हुईं ।

सातवें, यूरोप में स्विटजरलैण्ड तथा उत्तरी नीदरलैण्ड्स (हालैण्ड) को हैप्सबर्ग राजसत्ता से पूर्णतः पृथक एवं स्वतन्त्र स्वीकार कर लिया गया ।

आठवें, इस सन्धि के द्वारा कैल्विनवादियों को मान्यता प्रदान की गई तथा उन्हें भी धार्मिक स्वतन्त्रता एवं नागरिक अधिकार प्राप्त हुआ । १ जनवरी सन् १६२४ ई० के पहले जो सम्पत्ति कैथोलिकों एवं प्रोटेस्टेन्टों के पास थी वह उन्हें अपने पास रखने या छोड़ने का अधिकार प्राप्त हुआ जिससे प्रोटेस्टेन्टों को लाभ हुआ ।

अन्त में, इसके अनुसार साम्राज्य की अदालतों में समान संख्या में प्रोटेस्टेन्ट एवं कैथोलिक न्यायाधीश रखने की व्यवस्था की गई ।

महत्ता—वेस्टफेलिया की सन्धि से यूरोप में धर्म-सुधार के युग का अन्त होता है और राजनीतिक क्रान्ति के युग का आरम्भ होता है । १६वीं शताब्दी में यूरोप के राज्यों के मध्य धर्म के नाम पर युद्ध होते थे किन्तु अब धर्म के स्थान पर वे अपनी-अपनी प्रधानता स्थापित करने के लिये राजवंशीय युद्ध लड़ने लगे । सर्वप्रथम, रिशेलू ने इस दिशा में कदम उठाया । उसने धर्म को राजनीति की वेदी पर चढ़ा दिया और फ्रांस की वाह्य सीमाओं को बढ़ाने का प्रयास किया । दूसरे, इस सन्धि में धार्मिक समस्याओं को सहिष्णुतापूर्वक हल करने का प्रयास किया गया । क्योंकि तीस वर्षीय युद्ध में धर्म के नाम पर इतना अधिक रक्तपात देख कर लोगों को धार्मिक असहिष्णुता से घृणा होने लगी और अब वे धार्मिक सहिष्णुता में विश्वास करने लगे । इस प्रकार, तीसवर्षीय युद्ध यूरोप का अन्तिम धार्मिक युद्ध बन गया । तीसरे, इस संधि से जर्मनी के राष्ट्रों की प्रादेशिक स्वतंत्रता की पुष्टि हो गई तथा व्यवहारिक रूप से इसका यह

परिणाम हुआ कि सम्राट को जर्मन राजनीति पर से अपने नियंत्रण त्यागना पड़ा क्योंकि इस संधि ने सम्राट एवं जर्मन राज्यों के मध्य बंधन को बहुत शिथिल बना दिया था। यह संधि सार्वजनिक विधि का एक महान् संलेख समझी जाने लगी जिसने यूरोप की राज्य पद्धति का स्तर स्थापित किया और प्रत्येक विवाद में अधिकारपूर्ण पथ प्रदर्शन किया जो उस समता को उलटने का भय उत्पन्न करता था जिसको इस संधि द्वारा स्थापित करने का प्रयास किया गया था। यूट्रेक्ट (१७१३ ई०) जैसी महत्वपूर्ण संधि को भी वेस्टफेलिया शान्ति का व्यवस्थापन मात्र माना गया।

अन्त में, वेस्फेलिया की संधि यूरोप को राजनीति में हैप्संबर्ग राजवंश की शक्ति के पतन तथा फ्रान्स के बोरबॉ राजवश के उत्कर्ष की परिचायक है।

अध्याय ६

फ्रांस का उत्थान

(RISE OF FRANCE)

१६वीं शताब्दी के फ्रांस का इतिहास मुख्यतः धार्मिक संघर्षों एवं गृह युद्धों का इतिहास है। फांस में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की गति को तीव्रता प्रदान करने का श्रेय फ्रांस के राजा फ्रांसिस प्रथम (सन् १५१५-४७ ई०) को है। उसने इटली के प्रसिद्ध मानववादी विद्वानों एवं कलाकारों से सम्पर्क स्थापित कर उन्हें फ्रांस आने के लिए निमन्त्रित किया। उसने इन विद्वानों की सहायता से फ्रांस में 'फ्राँस के कालेज' (College De France) की स्थापना की, जहाँ 'नवीन विद्या' की शिक्षा की व्यवस्था की गयी। उसने सन् १५१६ ई० में पोप के साथ एक सन्धि की जिसके अनुसार फ्रांस में चर्च के अधिकांश उच्चाधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार फ्रांस के राजा को प्राप्त हुआ। फ्रांसिस प्रथम का राजनीतिक आदर्श 'एक राजा, एक धर्म एवं एक विधान' था। सन् १५३८ ई० के पश्चात् उसने प्रोटेस्टैन्ट आन्दोलन को नष्ट करने के लिए एक कठोर दमन नीति का अनुसरण किया। इस उद्देश्य से १५४७ ई० में उसने पेरिस में एक विशेष अदालत की स्थापना की। परिणामस्वरूप लगभग तीस हजार व्यक्तियों की हत्या की गयी, बीस से अधिक गाँव और नगर नष्ट कर दिये गये तथा बहुत से व्यक्तियों को देश छोड़ कर भाग जाना पड़ा।

हेनरी द्वितीय

(Henry II, 1547—1559)

फ्रांसिस प्रथम के पश्चात् उसका पुत्र हेनरी द्वितीय फ्रांस का राजा बना। उसने अपने पिता की धार्मिक असहिष्णुता एवं दमन नीति को जारी रखा। उसके काल में फ्रांस में कैल्विनवादियों की संख्या मे वृद्धि हुई। जॉन कैल्विन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि इन्स्टीट्यूट्स ऑव क्रिश्चियन रेलीजन' (The Institutes of Christian Religion) राजा फ्रांसिस प्रथम को समर्पित की थी। फ्रांसीसियों पर इस ग्रन्थ का काफी प्रभाव पड़ा। सन १५६० ई० तक फ्रांस में 'ह्यूगनों' (कैल्विनवादियों) की संख्या चार लाख हो गयी थी। हेनरी द्वितीय इनके दमन के लिए धार्मिक न्यायालय स्थापित करना चाहता था। किन्तु 'पेरिस की पार्लेमा' के विरोध के कारण वह अपने उद्देश्य में सफल न हो सका। अतः फ्रांस के राजा हेनरी द्वितीय

ने ह्यूगनो को समूल नष्ट करने के उद्देश्य से स्पेन के शासक फिलिप द्वितीय के साथ सन् १५५९ ई० में 'कातो कैम्ब्रेजी' (Cateau Cambresis) की सन्धि की। सन् १५५९ ई० मे हेनरी द्वितीय की मृत्यु हो गयी और उसकी मृत्यु के पश्चात् फ्रांस में दीर्घकालीन धार्मिक एव गृह युद्धों के कारण अराजकता फैल गयी।

हेनरी द्वितीय का मृत्योपरान्त फांस में क्रमशः फांसिस द्वितीय (सन् १५५९ ई०-१५६० ई०), चार्ल्स नवम् (सन् १५६० ई०—१५७४ ई०) एवं हेनरी तृतीय (१५७४ ई०-१५८९ ई०) सिंहासनारूढ़ हुये। हेनरी द्वितीय के यह तीनो ही पुत्र बहुत अयोग्य एवं प्रतिभाहीन थे। हेनरी तृतीय के शासनकाल मे गृह युद्ध प्रारम्भ हो गया। यह युद्ध 'तीन हेनरियों' का युद्ध कहलाता है।

हेनरियों का युद्ध (सन् १५८८ ई०-१५८९ ई०) :

यह युद्ध फ्रांस के सिंहासन के उत्तराधिकार के लिए हुआ था। इसमें तीन व्यक्तियों ने भाग लिया और तीनों के नाम हेनरी थे। इस कारण इसे तीन हेनरियों के युद्ध के नाम से जाना जाता है। इन तीन हेनरियों में पहला कैथरीन द मेडिचा का पुत्र फ्रांस का राजा हेनरी तृतीय था। दूसरा, बोरबाँ वश तथा नवार का शासक हेनरी था जो फ्रांस के सिंहासन का प्रत्यक्ष उत्तराधिकारी था। तीसरा, गीज परिवार तथा कैथोलिकों का नेता हेनरी ड्यूक ऑव गीज था जिसे स्पेन के शासक फिलिप द्वितीय की पूर्ण सहायता प्राप्त थी। हेनरी तृतीय के शासन के अन्तिम वर्षों में फ्रांस की वास्तविक सत्ता इसी हेनरी अर्थात् गीज परिवार के ड्यूक हेनरी के हाथों में आ गयी थी। राजा हेनरी तृतीय ने अपने को उसके प्रभाव से मुक्त करने के लिए 'स्टेट्स जनरल' नामक सभा की बैठक बुलायी जिसके अधिक सदस्यों ने गीज परिवार के ड्यूक हेनरी का साथ दिया। अतः राजा हेनरी तृतीय ने उसकी तथा उसके भाई दोनो की हत्या करवा दी। इससे कैथोलिक लीग हेनरी तृतीय से बहुत असंतुष्ट हो गयी। हेनरी तृतीय ने उससे अपनी आत्मरक्षा के लिए नवार के राजा हेनरी की शरण ग्रहण कर ली। इस समय स्पेन का शासक फिलिप द्वितीय कैथोलिक लीग की सहायता कर रहा था तथा फिलिप द्वितीय के विरुद्ध इंग्लैण्ड की महारानी एलिजाबेथ फ्रांस के प्रोटेस्टेन्टों की सहायता कर रही थी। अन्त में राजा हेनरी तृतीय तथा नवार के हेनरी की सेनाओं ने मिलकर कैथोलिक लीग को बुरी तरह पराजित किया और पेरिस नगर पर अधिकार करने के लिए घेरा डाल दिया। किन्तु इसी समय (सन् १५८० ई०) एक कट्टर कैथोलिक ने हेनरी तृतीय पर छुरे से प्रहार कर उसकी हत्या कर दी। अपनी मृत्यु से पूर्व फ्रांस के राजा हेनरी तृतीय ने नवार के हेनरी को अपना उत्तराधिकार घोषित कर दिया था। इस प्रकार हेनरी तृतीय की मृत्योपरान्त नवार के हेनरी ने 'हेनरी चतुर्थ' की पदवी धारण की और फ्रांस का राजा बना।

हेनरी चतुर्थ

(Henry IV, 1589-1610)

राज्यारोहण—फ्रांस के राजा हेनरी तृतीय की मृत्यु (१५८६ ई०) के पश्चात् नवार का हेनरी फ्रांस का राजा बना। उसने हेनरी चतुर्थ की पदवी धारण की। वह बोरबाँ वंश का था। अत: हेनरी चतुर्थ के शासक बन जाने से फ्रांस में बोरबाँ राजवंश की स्थापना हुई। किन्तु शासक बनने के पश्चात् हेनरी चतुर्थ को फ्रांस के कुछ ही लोगों का समर्थन प्राप्त होने के कारण उसके समक्ष अनेक समस्यायें उपस्थित हुईं।

धर्म परिवर्तन—राजा बनने के पश्चात् हेनरी चतुर्थ के समक्ष सर्वप्रथम समस्या अपनी सत्ता को सुदृढ़ रूप से स्थापित करना था। क्योंकि फ्रांस की अधिकांश जनता उसे एक विरोधी शासक के रूप में समझती थी। हेनरी चतुर्थ प्रोटेस्टेन्ट था किन्तु फ्रांस की अधिकांश जनता कैथोलिक थी। इसके अतिरिक्त स्पेन का राजा फिलिप द्वितीय भी फांस के सिंहासन पर प्रोटेस्टेन्ट राजा के स्थान पर कैथोलिक राजा को प्रतिष्ठित करना चाहता था। इस कारण फिलिप द्वितीय ने फ्रांस के सिंहासन पर अधिकार करने के लिए अपने सेनापति पारमा के नेतृत्व में एक सेना भेजी। किन्तु इस समय तक फ्रांस के लोग गृह युद्ध से तंग आ चुके थे और अब वे गृह युद्ध अथवा विदेशी हस्तक्षेप नहीं चाहते थे। वे हेनरी चतुर्थ को प्रोटेस्टेन्ट शासक के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार न थे। वे उसका धर्म परिवर्तन चाहते थे कि वह प्रोटेस्टेन्ट से कैथोलिक हो जाय और इसी दशा में वे उसे फ्रांस के शासन के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार थे। अत: शासक के रूप में फ्रांस में अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से वह धर्म परिवर्तन के लिए तैयार हो गया। सन् १५९३ ई० में उसने प्रोटेस्टेन्ट धर्म त्याग दिया और उसके स्थान पर कैथोलिक धर्म अपना लिया। धर्म परिवर्तन करते ही फ्रांस के सभी नगर एक-एक करके उसके पक्ष में हो गये। पेरिस की जनता भी उसके पक्ष में हो गयी और उसके प्रवेश के लिए द्वार खोल दिया। इस प्रकार फ्रांस की अधिकांश जनता ने उसे शासक के रूप में स्वीकार किया। तत्पश्चात् सन् १५९५ ई० में पोप ने भी हेनरी चतुर्थ को फांस के शासक के रूप में मान्यता प्रदान कर दी। किन्तु स्पेन तथा फ्रांस का युद्ध एक लम्बे काल तक चलता रहा और इसका अन्त सन् १५९८ ई० में वरविन की सन्धि (Treaty of Vervins) के द्वारा हुआ। इस सन्धि के द्वारा स्पेन के शासक फिलिप द्वितीय ने भी हेनरी चतुर्थ को फ्रांस के शासक के रूप में स्वीकार किया।

नांत का अध्यादेश (The Edict of Nantes, 1598) :

फ्रांस में गृह-युद्ध की समाप्ति के पश्चात् हेनरी चतुर्थ ने धार्मिक समस्या की

और अपना ध्यान दिया क्योंकि वह फ्रांस में शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए धार्मिक समस्या का एक स्थायी हल निकालना चाहता था। उसने शासक बनने के पश्चात् प्रोटेस्टेन्ट धर्म का त्याग कर कैथोलिक धर्म ग्रहण कर फ्रांस के कैथोलिकों को काफी सीमा तक संतुष्ट कर दिया था। किन्तु उसके पुराने सहधर्मी ह्यूगनो उसके असन्तुष्ट थे। अत: उन्हें संतुष्ट करने के लिये अप्रैल सन् १५९८ ई० में उसने 'नाँत का अध्यादेश' जारी किया। इसके द्वारा उसने फ्रांस के अल्पसंख्यक ह्यूगनो को काफी सुविधायें प्रदान कीं। ह्यूगनों को फ्रांस में धार्मिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति हुई। उन्हें राजकीय सेवाओं में समान अवसर प्राप्त हुआ। उन्हें पहले की भाँति पूजा का अधिकार प्राप्त हुआ। न्याय के लिए पेरिस में एक विशेष न्यायालय की व्यवस्था की गयी तथा उसमें प्रोटेस्टेन्ट जजों की भी व्यवस्था की गयी। उन्हें स्कूल आदि शिक्षण संस्थाओं के लिये राजकीय सहायता का वचन दिया गया। उन्हें अनेक नगर तथा दुर्ग प्रदान किये गये और इनके प्रबन्ध के लिए राज्य की ओर से आर्थिक सहायता का वचन भी दिया गया।

यूरोप में यह पहला अवसर था जबकि कैथोलिक राज्य मे प्रोटेस्टेन्टों को इतनी सहायता एवं सुविधाएँ प्रदान की गयीं थी। उसने अपनी धार्मिक सहिष्णुता एवं उदारता का परिचय दिया। किन्तु उसके इस कार्य से न तो पूर्णतया प्रोटेस्टेन्ट ही संतुष्ट हो सके और न ही कैथोलिक। प्रोटेस्टेन्ट इन्हें कम समझ कर असंतुष्ट थे तथा दूसरी ओर कैथोलिक इन्हें अधिक समझ कर असंतुष्ट थे। हेनरी चतुर्थ के इस कार्य द्वारा बहुत से कैथोलिकों को उसके धर्म-परिवर्तन पर सन्देह होने लगा। किन्तु यह अध्यादेश काफी हितकर हुआ। क्योंकि इस अध्यादेश द्वारा हेनरी चतुर्थ ने फ्रांस में धार्मिक मतभेदों को समाप्त कर वहाँ शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया।

निरंकुश शक्ति की स्थापना :

फ्रांस में दीर्घ काल तक धार्मिक युद्धों के कारण राजा की शक्ति को काफी आघात लगा था। देश के शक्तिशाली अमीर राजा की शक्ति को स्वीकार करने के लिए तैयार न थे। वे उसकी आज्ञा तथा आदेशों के पालन में उदासीनता दिखाते थे। हेनरी चतुर्थ ने कूटनीति से काम लिया। उसने छोटे कुलीनों के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग कर उन्हे अपनी सत्ता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया तथा शक्तिशाली अमीरों को सोना तथा उपाधियाँ देकर अपने पक्ष में करने का प्रयास किया। हेनरी चतुर्थ फ्रांस में निरंकुश शासन स्थापित करना चाहता था। यही कारण था कि उसने 'स्टेट्स जनरल' नामक सभा की बैठक भी न बुलाई। उसे जब जनता कि इच्छाओं के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करनी होती थी तो वह अपने द्वारा मनोनीत समिति

(Notables) द्वारा प्राप्त कर लेता था। उसने 'पेरिस की पार्लेमाँ' पर भी पूर्ण नियन्त्रण रखा। वह कहा करता था कि लोग उसकी आज्ञा का पालन करें।

आर्थिक सुधार :

हेनरी चतुर्थ को आर्थिक सुधार के क्षेत्र में ड्यूक ऑव सली नामक अर्थ मन्त्री से काफी सहयोग मिला। हेनरी चतुर्थ के सिंहासारोहण के समय फ्रांस की आर्थिक दशा बड़ी शोचनीय थी तथा राजकोष रिक्त था। राज्य पर ऋण का भार भी अधिक था। फ्रांस की कर-व्यवस्था में अनेक दोष थे। जनता से वसूल की जाने वाली धन-राशि का कुछ भाग ही राजकोष में जमा हो पाता था और अधिकांश भाग अधिकारियों द्वारा हड़प लिया जाता था। अतः अर्थ मन्त्री सली ने समान कर-व्यवस्था लागू की जिससे फ्रांस के राजकोष में वृद्धि हुई। इसके पश्चात् उसने कृषि की ओर भी ध्यान दिया। हेनरी चतुर्थ ने भी कृषि सुधार में विशेष रुचि की। उसने कृषि विकास के लिए एक आदेश जारी किया जिसके अनुसार अनेक सुविधाएँ प्रदान की गई। फ्रांस से अब बाहर अनाज भेजा जा सकता था। सली ने भी कृषि व्यवस्था को उन्नतिशील बनाने के लिए अनेक सुधार किये क्योंकि उसका विश्वास था कि देश की प्रगति कृषि-व्यवस्था पर ही निर्भर करती है। उसके प्रोत्साहन के फल-स्वरूप कृषि के क्षेत्र में कृषि के नये-नये ढंग तथा उपकरणों का प्रयोग किया गया। फ्रांस की बहुत-सी भूमि जो कृषि योग्य न थी उसे कृषि योग्य बनाया गया। इस प्रकार कृषि की उन्नति हुई तथा उपज में वृद्धि हुई।

यद्यपि सली ने कृषि उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया किन्तु उद्योग-धन्धों एवं व्यापार-वाणिज्य के प्रति वह उदासीन रहा। हेनरी चतुर्थ ने उद्योग-धन्धों एवं वाणिज्य के विकास की ओर अपना ध्यान आकृष्ट किया। उसने फ्रांस में विभिन्न उद्योगों को बढ़ावा दिया। उसके प्रयासों के परिणामस्वरूप फ्रांस में कालीन, सिल्क तथा रेशमी कपड़े के उद्योगों को काफी प्रोत्साहन मिला। देशीय उद्योगों के विकास के लिए उसने विदेशों से आने वाली वस्तुओं पर रोक लगा दी। व्यापार एवं वाणिज्य के विकास के लिये उसने पुरानी सड़कों एवं पुलों के पुनर्निर्माण के साथ ही नई सड़कों एवं पुलों का भी निर्माण करवाया। यातायात की दिशा में भी हेनरी चतुर्थ ने महत्वपूर्ण प्रयोग किए। उसने विभिन्न नदियों को एक-दूसरे से मिलाने का प्रयास किया जिससे जल-मार्ग से सामान भेजा जा सके। उसने उपनिवेश स्थापना की दिशा में भी प्रयास किया। अपने अन्तिम वर्षों में उसने एक नाविक को कनाडा भेजा जहाँ उसने क्यूबेक (Quebec) उपनिवेश की स्थापना की।

सन् १६१० ई० में हेनरी चतुर्थ के इन सुधारों के फलस्वरूप फ्रांस में शान्ति स्थापित हो चुकी थी। अतः अब उसने स्पेन एवं आस्ट्रिया की ओर अपना ध्यान

आकर्षित किया। उसने आस्ट्रिया के विरुद्ध जर्मनी के प्रोटेस्टेन्ट राजकुमारो की सहायता की तथा तुर्की को आस्ट्रिया पर आक्रमण के लिए उत्तेजित किया। किन्तु इसी समय १४ मई, सन् १६१० ई० को एक कैथोलिक ने हेनरी चतुर्थ की हत्या कर दी।

इतिहासकार वेकमैन हेनरी चतुर्थ तथा उसके अर्थ-मन्त्री सली के कार्यों का मूल्यांकन करते हुए लिखते हैं कि "हेनरी चतुर्थ एक राजनीतिज्ञ था और ड्यूक ऑव सली एक प्रशासक तथा फ्रांस को दोनों की सेवाओ की आवश्यकता थी। जहाँ बुद्धिमान हेनरी ने फ्रांस की भयंकर धार्मिक समस्या का एक सही हल निकाला, वही सली ने अपनी सतर्कता के द्वारा आर्थिक साधनों को प्रगतिशील बनाया तथा शासन-नीति में आमूल परिवर्तन कर भविष्य में फ्रांस को राजनीतिक गौरव की प्राप्ति के लिए आवश्यक त्याग के योग्य बनाया।"

लुई त्रयोदश

(Louis XIII, 1610—1643)

हेनरी चतुर्थ की मृत्यु के पश्चात् उसका नौ वर्षीय पुत्र लुई त्रयोदश सन् १६१० ई० में फ्रांस का शासक बना। लुई त्रयोदश की अल्पायु के कारण राजमाता मेरी द मेडिची उसकी संरक्षिका नियुक्त की गई। किन्तु उसमें शासन-सम्बन्धी गुणों का सर्वथा अभाव था। यह संकीर्ण विचारों की महिला थी और उसकी महत्वाकांक्षा की सीमा न थी। प्रशासन की बागडोर हाथ में आते ही उसने सर्वप्रथम अर्थ-मन्त्री सली को त्याग-पत्र देने के लिए विवश किया। सली के त्याग-पत्र से उसकी कट्टर कैथोलिक नीति स्पष्ट हो गयी। सभी सामन्त अपने अधिकारों के लिए सशंकित हो उठे। वाह्य नीति के क्षेत्र में उसने हेनरी चतुर्थ की वैदेशिक नीति का पूर्णतः त्याग कर दिया तथा स्पेन के शासक फिलिप तृतीय की पुत्री आस्ट्रिया की एन के साथ लुई त्रयोदश का विवाह किया। दूसरी ओर फ्रांसीसी राजकुमारी एलिजाबेथ का विवाह स्पेन के युवराज के साथ सम्पन्न हुआ। इस प्रकार संरक्षिका मेरी द मेडिची ने अपने पति हेनरी चतुर्थ की नीति का परित्याग कर उसके स्थान पर स्पेन से मैत्री की नीति अपनायी। उसके संरक्षण-काल में फ्रांस में अव्यवस्था फैलने लगी और देश की दशा बड़ी शोचनीय हो गई और सामन्तों ने विद्रोह प्रारम्भ कर दिया। राजमाता ने धन देकर सामन्तों के विद्रोह को शान्त करने की नीति अपनायी। परिणामस्वरूप इन अपव्ययों के कारण राजकोष रिक्त होने लगा और फ्रांस आर्थिक संकट की ओर अग्रसर हो गया। ऐसी परिस्थिति में सन् १६१४ ई० में राजमाता ने 'स्टेट्स जनरल' (States General) की बैठक बुलायी किन्तु इससे कोई लाभ न हुआ। 'स्टेट्स जनरल' का यह अन्तिम अधिवेशन था और तत्पश्चात् लगभग अगले १७५ वर्षों तक इसका

अधिवेशन नहीं बुलाया गया। 'स्टेट्स जनरल' के अधिवेशन की विफलता पर फ्रांस के सामन्तों में संघर्ष प्रारम्भ हो गया और देश में पुनः युद्ध की सम्भावना उत्पन्न हो गयी। अब लुई त्रयोदश भी युवावस्था को प्राप्त हो चला था। अतः सन् १६१७ ई० में उसने राजमाता के हाथों से प्रशासन की बागडोर अपने हाथो में ले ली और उसके पदाधिकारियों को भी अपदस्थ कर दिया। यद्यपि लुई त्रयोदश में प्रशासनिक गुणों का अभाव था किन्तु सौभाग्य के उसे रिशेलू नामक एक प्रधानमन्त्री मिल गया जिसने उसके इस अभाव की पूर्ति की।

कार्डिनल रिशेलू
(Cardinal Richelieu, 1624—1642)

कार्डिनल रिशेलू का जन्म सन् १५८५ ई० में पेरिस में हुआ था। उसका पिता आर्मन्ड द रिशेलू नामक एक सामन्त था। रिशेलू को २१ वर्ष की आयु में लूशों का बिशप नियुक्त किया गया और सन् १६१४ ई० की 'स्टेट्स जनरल' की बैठक मे उसने पुरोहितों के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। बैठक में उसने अपनी वाक्पटुता एवं व्यक्तित्व से राजमाता मेरी द मेडिची को अत्यधिक प्रभावित किया था। राजमाता ने उसे शाही समिति (Royal Council) का सदस्य नियुक्त कर दिया तथा राजमाता की ही सिफारिश पर वह रोमन कैथोलिक चर्च में कार्डिनल के पद पर प्रतिष्ठित हो गया। रिशेलू ने अपने गुणों से राजा लुई त्रयोदश को भी बहुत प्रभावित किया और उसका विश्वासपात्र बन गया। यद्यपि प्रारम्भ में कुछ समय के लिए उसमें तथा राजा में मतभेद पैदा हो गया था किन्तु बाद में लुई त्रयोदश उससे इनता प्रभावित हुआ कि उसने उसे सन् १६२४ ई० में अपना प्रमुख सलाहकार तथा प्रधानमन्त्री नियुक्त कर दिया। प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्ति के समय रिशेलू ने राजा से यह कहा कि "मैं प्रतीज्ञा करता हूँ कि मैं अपनी सम्पूर्ण शक्ति ह्यूगनों के दमन, अमीरों के गौरव को समाप्त करने, फ्रांस की सम्पूर्ण जनता को आज्ञाकारी बनाने तथा यूरोप में आपका नाम प्रतिष्ठित करने में लगा दूँगा।" रिशेलू के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका प्रमुख उद्देश्य फ्रास में राजा की शक्ति को सर्वोच्च रूप में स्थापित करना तथा फ्रांस को यूरोपीय देशों में सर्वश्रेष्ठ स्थान दिलाना था। उसने जीवन पर्यन्त इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयास भी किया। वास्तव में सन् १६२४ ई० से लेकर सन् १६४२ ई० तथ फ्रांस के प्रशासन का वास्तविक संचालन रिशेलू ने ही किया तथा राजा लुई त्रयोदश नाम मात्र का शासक बना रहा।

रिशेलू की गृह नीति :

रिशेलू की गृह नीति का प्रमुख उद्देश्य फ्रांस में राजा की शक्ति को निरंकुश

एवं सर्वोच्च रूप में स्थापित करना था। जिस समय रिशेलू प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त हुआ उस समय यूरोप में तीस वर्षीय युद्ध चल रहा था। अतः हैप्सबर्ग परिवार को अपमानित करने तथा फ्रांस के गौरव को बढ़ाने का यह अच्छा अवसर था। रिशेलू यह भली-भाँति जानता था कि उसकी वाह्य नीति की सफलता गृह नीति की सफलता पर ही आधारित है। उसने गृह नीति के क्षेत्र में ड्यूक ऑव सली की नीति का अनुसरण किया। वह फास में बोरबाँ राजतन्त्र को निरंकुश एवं सुदृढ़ रूप में स्थापित करना चाहता था।

प्रधानमन्त्री बनने के पश्चात् रिशेलू ने राजा की शक्ति को स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश रूप में स्थापित करने का प्रयास किया। इसके लिए आवश्यक था कि वह सर्वप्रथम ह्यूगनों की शक्ति का दमन करे। अतः रिशेलू ने उनकी ओर ध्नान आकर्षित किया। नाँत के अध्यादेश द्वारा राजा हेनरी चतुर्थ ने उन्हें सैनिक दुर्ग तथा नगर प्रदान किये थे। इस कारण वे अब काफी शक्तिशाली हो गये थे और समय-समय पर विद्रोह कर दिया करते थे तथा वाह्य विद्रोहियों की सहायता भी करते थे। रिशेलू ह्यूगनों के प्रति असहिष्णु न था और न ही उनके धर्म का विरोधी था। वह उनकी राजनीतिक सुविधाओं को समाप्त कर उन्हें पूर्णतः राजा की सत्ता के आधीन लाना चाहता था जिससे कि वे भविष्य में फ्रांस की आन्तरिक शान्ति के लिए कोई खतरा न उत्पन्न कर सकें। क्योंकि इस समय ह्यूगमों राज्य के भीतर राज्य के समान थे। जब सन् १६२५ ई० में ह्यूगनों ने विद्रोह किया तो रिशेलू को उनके दमन का उपयुक्त अवसर मिला। उनके उनके 'ला रॉशेल' (La Rochelle) नामक प्रसिद्ध दुर्ग का घेरा डाल दिया जो लगभग १५ महीनों तक चलता रहा। यद्यपि ह्यूगनों को इंग्लैण्ड से सैनिक सहायता प्राप्त हुई, किन्तु अन्त में उन्हें सन् १६२८ ई० में आत्म-समर्पण करना पड़ा। इस प्रकार ह्यूगनों के विद्रोह का अन्त हो गया और उन्होंने राज्य की आधीनता स्वीकार कर ली। उसने ह्यूगनो से 'एलय' (Alais) की सन्धि कर ली जिसके अनुसार उनके समस्त राजनीतिक एवं सैनिक किलेबन्दी आदि के विशेषाधिकारों का अन्त कर दिया गया। किन्तु उनके धार्मिक एवं नागरिक अधिकारों को पहले की ही भाँति सुरक्षित रखा गया। इस प्रकार रिशेलू ने फ्रांस के निरंकुश राजतन्त्र की पहली बाधा का अन्त करने में सफलता प्राप्त की।

फ्रांस के राज्य की निरंकुशता के मार्ग की दूसरी प्रमुख बाधा फ्रांस का कुलीन अथवा अमीर वर्ग था क्योंकि यह वर्ग अपने व्यक्तिगत स्वार्थों एवं हितों के लिए शासक की आज्ञा का विरोध किया करता था। उनके आधीन अनेक दुर्ग थे जो विद्रोह के गढ़ का काम करते थे। अमीर वर्ग ने रिशेलू की हत्या के अनेक प्रयास किये किन्तु सौभाग्य से वह बचा रहा। अतः उसने अब इनकी शक्ति के समूल दमन का

निश्चय किया। उसने षडयन्त्रकारी अमीरों को मृत्यु-दण्ड प्रदान कर अन्य अमीरों के हृदय में आतंक एवं भय उत्पन्न कर दिया। सन् १६२६ ई० में एक राजाज्ञा के आधार पर उसने सामन्तों के उन अनेक दुर्गों को ध्वंस करा दिया जो देश की रक्षा के लिए आवश्यक न थे तथा जिनका प्रयोग सामन्त लोग शासक के विरुद्ध करते थे। उसने सामन्तों के द्वन्द-युद्ध को भी समाप्त कर दिया तथा शिकार सम्बन्धी अनेक विशेषाधिकारों का भी अन्त कर दिया। उसकी इस नीति से कृषक बहुत प्रसन्न हुये, क्योंकि वे सामन्तों से असन्तुष्ट थे। इस प्रकार सामन्त वर्ग के दमन से राजा को स्वेछाचारी एवं निरंकुश सत्ता के मार्ग की दूसरी प्रमुख बाधा का भी अन्त हो गया।

इसके पश्चात् रिशेलू ने फ्रांस के शासन के केन्द्रीकरण की ओर अपना ध्यान आकर्षित किया। फ्रांस के विभिन्न प्रान्तों में सामन्त वर्ग के लोग गर्वनरो के रूप में कार्य कर रहे थे। रिशेलू ने उन्हे अपदस्थ करने के स्थान पर उनके अधिकारो को सीमित तथा नियन्त्रित करने की नीति का अनुसरण किया। उसने प्रान्तों में 'इन्टेन्डेन्ट' (Intendent) नामक नये पदाधिकारियों की नियुक्ति की। यह मध्य वर्ग मे स नियुक्त किये जाते थे तथा इनकी नियुक्ति केन्द्र द्वारा होती थी। इस कारण यह राजा के प्रति विशेष भक्ति रखते थे। रिशेलू ने इन्हें प्रान्त की वित्तीय व्यवस्था, न्याय व्यवस्था तथा स्थानीय सुरक्षा सम्बन्धी कार्य सौंपा। फलस्वरूप प्रान्तीय गर्वनर शक्तिहीन हो गये। 'इन्टेन्डेन्ट' विभिन्न प्रान्तों में शासन के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते थे। एक इतिहासकार के अनुसार "ये 'इन्टेन्डेन्ट' नामक अधिकारी रिशेलू जैसे सतर्क व्यक्ति के लिए सम्पूर्ण देश में उसकी आँखों की तरह फैले हुए थे। रिशेलू ने इस प्रकार फ्रांस के प्रशासन का केन्द्रीकरण किया। यह उसकी महान सफलता थी।" इतना ही नहीं उसने शासन की शक्ति को निरंकुश रूप में स्थापित करने के उद्देश्य से 'स्टेट्स जनरल' की कोई बैठक न बुलायी और इस संस्था को निष्क्रिय तथा मृतप्राय बना दिया। उसने उसकी बैठक के प्रस्ताव का सदैव विरोध किया क्योंकि उसे भय था कि 'स्टेट्स जनरल' उसकी नीतियों का विरोध करेगी। उसने 'पेरिस की पार्लेमाँ' को राजा के समस्त अध्यादेशों को पंजीबद्ध करने के लिए बाध्य किया क्योंकि राजाज्ञा कानून का रूप तभी धारण करती थी जब पेरिस की पार्लेमाँ उन्हें पंजीबद्ध कर लेती थी। इस प्रकार रिशेलू ने फ्रांस में राजा की निरंकुश शक्ति के मार्ग की सभी बाधाओं का अन्त कर दिया।

प्रधानमन्त्री रिशेलू की गृह नीति की समीक्षा करते हुए इतिहाकार हेज ने लिखा है कि "रिशेलू फ्रांस में केवल एक ही सार्वजनिक कोष चाहता था और वह राजा का। फ्रांस के लिये वह केवल एक ही सशस्त्र सेना चाहता था और वह राजा

की तथा वह इन दोनों के लिए किसी संस्था अथवा व्यक्ति के प्रति राजा का उत्तरदायित्व नहीं रखना चाहता था।''

रिशेलू की वैदेशिक नीति :

अपनी वैदेशिक नीति में भी रिशेलू अपनी गृह नीति की भाँति सफल रहा। उसकी वैदेशिक नीति का प्रमुख उद्देश्य यूरोप में बोरबाँ राजवंश की प्रतिष्ठा स्थापित कर फ्रांस को सर्वोच्च स्थान प्रदान कराना था। इसके लिए स्पेन के हैप्सबर्ग परिवार से संघर्ष अनिवार्य था। फ्रांस की सीमायें हैप्सबर्ग परिवार के साम्राज्य से घिरी हुई थीं तथा उत्तर-पूर्व में उसकी सीमा असुरक्षित थी। फ्रांस के गौरव की वृद्धि के उद्देश्य से उसने पिरेनीज पहाड़ियों तथा राइन नदी की ओर फ्रांसीसी सीमाओं के विस्तार का प्रयास प्रारम्भ किया। वह यह भली-भाँति जनता थाँ कि स्पेन को पराजित करके ही फ्रांस की प्रतिष्ठा स्थापित की जा सकती है। यही कारण था कि कैथोलिक चर्च का कार्डिनल होते हुए भी उसने तीसवर्षीय युद्ध में प्रोटेस्टेन्टों की ओर से भाग लिया। प्रारम्भ में वह जर्मनी के प्रोटेस्टेन्टों की अप्रत्यक्ष रूप से सहायता करता रहा। स्वीडेन के राजा गस्टवस की मृत्यु के पश्चात् रिशेलू ने उचित अवसर समझ कर युद्ध में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने का निश्चय किया। इस प्रकार सन् १६३५ ई० में फ्रांस भी तीसवर्षीय युद्ध में प्रत्यक्ष रूप से सम्मिलित हो गया। किन्तु कुछ ही वर्षों पश्चात् सन १६४२ ई० में रिशेलू की मृत्यु हो गयी और वह तीस वर्षीय युद्ध का अन्त (सन १६४८ ई०) न देख सका। किन्तु घटनाओं से यह स्पष्ट हो रहा था कि विजय फ्रांस की ही होगी। इस प्रकार रिशेलू ने राजनीति को धर्म से अलग रखा और राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए धर्म की चिन्ता किये बिना अपने सहधर्मी कैथोलिकों के विरुद्ध प्रोटेस्टेन्टों की सहायता की।

उसकी वैदेशिक नीति का मूल्यांकन करते हुए इतिहासकार हेज़ ने उचित ही लिखा है कि ''रिशेलू बोरबाँ राजवंश का आज्ञाकारी सेवक तथा एक फ्रांसीसी देशभक्त दोनों ही था। फ्रांसीसी देशभक्त के रूप में वह स्पेन की प्रतिष्ठा एवं प्रधानता को समाप्त कर यूरोपीय राजनीति में अपने देश को एक सम्मानपूर्ण स्थान दिलाना चाहता था। लुई त्रयोदश के आज्ञाकारी सेवक के रूप में हैप्सबर्ग राजवंश की प्रतिष्ठा का अन्त कर यूरोप में बोरबाँ राजवंश की प्रतिष्ठा एवं प्रधानता स्थापित करना चाहता था।''

कार्डिनल मज़ारें

(Cardinal Mazarin, 1643—1664)

कार्डिनल रिशेलू की मृत्योपरान्त लुई त्रयोदश ने कार्डिनल मज़ारें को अपना प्रधानमन्त्री नियुक्त किया। किन्तु कुछ ही समय पश्चात् १४ मई, सन १६४३ ई०

को लुई त्रयोदश की भी मृत्यु हो गई उसकी मृत्यु के पश्चात् लुई चतुर्दश फाँस के सिंहासन पर बैठा। उस समय लुई चतुर्दश की आयु केवल ५ वर्ष की थी। इसलिये उसकी माता उसकी संरक्षिका बनी और प्रधानमन्त्री मज़ारें ने उसके नाम पर प्रशासन का संचालन किया।

कार्डिनल मज़ारें का जन्म सन् १६०८ ई० में इटली के एक साधारण परिवार में हुआ था प्रारम्भ में उसका विचार कैथोलिक चर्च की सेवा करना था। इस कारण उसने रोम तथा स्पेन में धार्मिक शिक्षा ग्रहण की। सन् १६३९ ई० में जब उसकी भेंट रिशेलू से हुई तो उसने उसको अपने व्यक्तित्व से काफी प्रभावित किया। फलस्वरूप रिशेलू ने मज़ारें को प्रशासन में एक पद प्रदान किया तथा उसकी प्रतिभा एवं कार्यकुशलता से बहुत प्रभावित होकर अपनी मृत्यु से पूर्व उसने मज़ारें को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। अतएव "रिशेलू की मृत्यु के पश्चात् लुई त्रयोदश ने उसे अपना प्रधानमन्त्री बनाया था और उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पाँच वर्षीय पुत्र लुई चतुर्दश की संरक्षिका ने भी कार्डिनल मज़ारें को प्रधान-मन्त्री के पद पर बना रहने दिया। यद्यपि लुई चतुर्दश की माता उसकी संरक्षिका थी किन्तु प्रशासन की बागडोर मज़ारें के ही हाथों में सौंप दी गई। वास्तव में सन १६४३ ई० से १६६१ ई० तक फांस की प्रशासन नीतियों का संचालन कार्डिनल मज़ारें के द्वारा ही हुआ।

मज़ारें की गृह नीति :

मज़ारें की गृहनीति के अन्तर्गत उसका प्रमुख उद्देश्य राजा की शक्ति को सर्वोच्च बनाना था। मज़ारें के इस उद्देश्य के मार्ग में अनेक बाधायें उपस्थित हुईं तथा अनेक विद्रोह हुये जिन्हें 'फ्रौन्दे' के नाम से जाना जाता है। 'फ्रौन्द' शब्द का अर्थ पेरिस के बच्चों द्वारा सड़कों पर खेले जाने वाले एक ऐसे खेल से था जिसें स्थानीय पुलिस खेलने से मना करती थी। किन्तु राजनीति के अन्तर्गत 'फ्रौन्दे' का अर्थ सर-कार विरोधी लोगों से था। इस विद्रोह में मुख्यतः तीन तत्व सम्मिलित थे—सर्वप्रथम 'पेरिस की पार्लेमाँ' थी जो प्रशासन में हस्तक्षेप करना चाहती थी; दूसरे उच्च वर्गीय सामन्त वर्ग के वे लोग थे जो राजा को निरंकुश नहीं होने देना चाहते थे; तथा तीसरे तत्व के अन्तर्गत सर्वसाधारण वर्ग के लोग सम्मिलित थे जो करों के भार से दबे जा रहे थे। यह तीनों तत्व मज़ारें के विरुद्ध संगठित हो गये और उससे घृणा करने लगे। अतः लोगों ने 'फ्रोन्दे' रूपी विद्रोह के द्वारा उसे प्रधानमन्त्री के पद से हटाने का प्रयास किया। इस विद्रोह को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, प्रथम फ्रौन्दे तथा द्वितीय फ्रौन्दे।

प्रथम फ्रौन्दे (Fronde)—प्रथम फौन्दे 'पेरिस की पार्लेमाँ' से सम्बन्धित

था। 'पेरिस की पार्लेमाँ' इंग्लैण्ड की पार्लियामेन्ट की भाँति एक प्रतिनिधि संस्था न थी। यह एक ऐसी संस्था थी जिसका कार्य न्यायालय की भाँति कार्य करना था। इसकी सदस्यता वंशानुगत होती थी तथा खरीदी भी जा सकती थी। इनका न तो निर्वाचन होता था और न ही वे राजा द्वारा नियुक्त किये जाते थे। इसका प्रमुख कार्य राजा द्वारा जारी किये गये आदेशों को लिपिबद्ध करना था। सन् १६४८ ई० में पेरिस की पार्लेमाँ ने राजा के वित्तीय आदेश को लिपिबद्ध करने से इन्कार कर दिया। इसका कारण यह था कि वह अपने अधिकारों में वृद्धि चाहती थी। उसने राजमाता के समक्ष एक प्रस्ताव रखा जिसके द्वारा यह माँग रखी गई कि कोई नये कर न लगाये जायें, बिना उसकी आज्ञा के नये पद न स्थापित किये जायें, 'इन्टेन्डेन्ट' नामक पदाधिकारियों को हटा दिया जाय तथा किसी व्यक्ति पर मुकदमा चलाये बिना उसे २४ घण्टे से अधिक जेल में न रखा जाय। मज़ारें ने 'पेरिस की पार्लेमाँ' के सदस्यों को कैद करने का आदेश दे दिया। पेरिस के लोगों ने इसका विरोध किया और इस प्रकार प्रथम फ्रौन्दे अथवा गृह-युद्ध का प्रारम्भ हो गया। किन्तु मज़ारें ने त्यूरेन तथा कौन्दे की सहायता से विद्रोहियों का दमन कर दिया। अप्रैल, सन् १६४६ ई० में पेरिस की पार्लेमाँ तथा राजा के मध्य एक सन्धि हुई जिसके अनुसार पहले स्वीकृत किये गये अधिकारों की पुष्टि की गई तथा 'पेरिस की पार्लेमा' ने राजा के आदेशों को पंजीबद्ध करना स्वीकार कर लिया।

द्वितीय फ्रौन्दे—प्रथम गृह-युद्ध के समाप्त होते ही फ्रांस में सन् १६५० ई० में दूसरा फ्रौन्दे अथवा गृह-युद्ध प्रारम्भ हो गया। क्योंकि इसमें उच्च वर्ग एवं राज्य परिवार के सामन्तों ने भाग लिया था इस कारण इसे 'राजकुमारों के फ्रौन्दे' के नाम से भी जाना जाता है, यही कारण था कि सामान्य जनता इससे अलग रही। द्वितीय फ्रौन्दे का प्रमुख नेता कौन्दे था जो कि प्रारम्भ में राजा की सेवा में था किन्तु दरबार में अपनी स्थिति से असन्तुष्ट होकर राजा के विरुद्ध हो गया। इस फ्रौन्दे का उद्देश्य भी मज़ारें को प्रधानमन्त्री के पद से हटाना था। वे विभिन्न प्रान्तों में गवर्नर का पद प्राप्त करना तथा अपने लिये पूर्ववर्ती सुविधायें प्राप्त करना चाहते थे। जिसके अन्तर्गत वे पेन्शन तथा उपहार के रूप में धनराशि प्राप्त करने के इच्छुक थे। किन्तु पेरिस के लोगों को जब यह ज्ञात हुआ कि अमीर वर्ग केवल अपने हितों के लिये युद्ध कर रहा है तो उनमें प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई। विद्रोहियों के मध्य इस विभाजन से मज़ारें ने लाभ उठाया। उसने सेनापति त्यूरेन की सहायता से सन् १६५२ ई० में द्वितीय फ्रौन्दे का अन्त कर दिया और राजा की निरंकुश शक्ति की स्थापना की।

इन दोनों विद्रोहों के दमन से अनेक महत्वपूर्ण परिणाम निकले। सर्वप्रथम,

उच्च अमीरों की शक्ति को काफी आघात लगा। दूसरे, पेरिस की पार्लेमाँ से राजनीतिक एवं वित्तीय अधिकार छीन लिये गये। अब उन्हें इसमे हस्तक्षेप का कोई अधिकार न रहा। तीसरे, पेरिस को निःशस्त्र कर दिया तथा उसके नगर पालिका के चुनाव सम्बन्धी अधिकारों को भी समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार राजा की शक्ति को कम करने के लिए जितने प्रयास किये गए मज़ारें ने उन सभी को विफल कर दिया और राजा की शक्ति पहले से अधिक सुदृढ़ हो गई।

मज़ारें की वैदेशिक नीति :

मज़ारें ने आन्तरिक नीति की भाँति वैदेशिक नीति में भी पूर्ववर्ती प्रधान-मन्त्री रिशेलू की नीति का अनुसरण किया। वह भी यूरोप में फ्रांस को एक प्रतिष्ठित स्थान दिलाना चाहता था। उसने स्पेन तथा आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग परिवार के विरुद्ध युद्ध जारी रखा और सफलतापूर्वक उसे समाप्त किया। सन् १६४८ ई० में मज़ारें ने पवित्र रोमन सम्राट के साथ 'वेस्टफेलिया की संधि' की। किन्तु स्पेन के विरुद्ध युद्ध जारी रहा क्योंकि वह फ्रांस की शर्तो को स्वीकार करने के लिए तैयार न था। मज़ारें ने इंग्लैण्ड से सन्धि कर उससे सहायता प्राप्त की। इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से उसने स्पेन को अकेला कर दिया। फलस्वरूप स्पेन की पराजय हुई और विवश होकर सन् १६५६ ई० में उसको फ्रांस के साथ 'पिरेनीज़ की सन्धि' करनी पड़ी। यह सन्धि सन् १६४८ ई० की 'वेस्टफेलिया की सन्धि' की पूरक थी। इस सन्धि के द्वारा तीस वर्षीय युद्ध का पूर्ण रूप से अन्त हुआ। इस सन्धि के द्वारा फांस को आर्त्वा तथा रूसिलों के प्रदेश प्राप्त हुए स्पेन के शासक ने अपनी पुत्री मेरिया थेरेसा का विवाह फांस के लुई चतुर्दश से करने का वचन दिया। इस प्रकार 'पिरेनीज़ की सन्धि' मज़ारें के लिए एक महान सफलता थी तथा स्पेन के लिए यह अपमानजनक सन्धि थी।

संक्षेप में मज़ारें ने रिशलू की नीतियों को आगे बढ़ाया। सन् १६६१ ई० में जब प्रधानमन्त्री की मृत्यु हुई तो उस समय तक उसने स्पेन तथा आस्ट्रिया के हैप्स-बर्ग राजवंश की शक्ति को दुर्बल कर लुई चतुर्दश की साम्राज्यवादी नीति के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् लुई चतुर्दश ने प्रशासन की समस्त बागडोर अपने हाथों में ले ली जिससे फ्रांस के इतिहास में एक नये युग का आरम्भ हुआ।

अध्याय १०

फ्रांस का चरमोत्कर्ष

(PREDOMINANCE OF FRANCE)

लुई चतुर्दश

(Louis XIV, 1643—1715)

लुई चतुर्दश फ्रांस के राजा लुई त्रयोदश का पुत्र था। सन् १६४३ ई० में अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् वह फ्रांस के सिंहासन पर बैठा। उस समय उसकी आयु केवल ५ वर्ष की होने के कारण राजमाता संरक्षिक बनी और प्रशासन का कार्य उसके प्रधानमन्त्री द्वारा सम्पन्न होने लगा। सन् १६६१ ई० तक फ्रांस के प्रशासन की वास्तविक बागडोर मजारें के ही हाथों में रही और उसके प्रधान-मन्त्रित्व काल में फ्रास की प्रतिष्ठा में काफी वृद्धि हुई। किन्तु सन् १६६१ ई० म मज़ारें की मृत्यु हो जाने पर प्रशासन की सम्पूर्ण बागडोर लुई चतुदर्श ने अपने हाथों में केन्द्रित कर ली। मज़ारें की मृत्योपरान्त लुई चतुदर्श ने किसी भी व्यक्ति को प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त नहीं किया और उसने कहा कि उसे किसी मन्त्री की सहायता की आवश्यकता नहीं है, वह स्वयं शासन करेगा। अत: सन १६६१ ई० से लेकर सन् १७१५ ई० तक लुई चतुर्दश ने वास्तविक रूप से प्रशासन किया।

गृह नीति :

लुई चतुर्दश के इस कथन कि "मैं ही राज्य हूँ" से उसकी गृह नीति का स्पष्टीकरण हो जाता है। वह फ्रांस में निरंकुश एवं सर्वोच्च शक्ति के रूप में अपनी सत्ता स्थापित करना चाहता था। वह यह नहीं चाहता था कि उसके प्रशासन में रिशेलू अथवा मज़ारें जैसे प्रधानमन्त्रियों का हस्तक्षेप हो। वह प्रशासन की सम्पूर्ण शक्ति अपने हाथों में केन्द्रित कर निरंकुश रूप से शासन करना चाहता था। वह स्वयं प्रशासन नीतियों का संचालन करना चाहता था। वह अपने मन्त्रियों एवं अधि-कारियों को लिपिकों एवं सेवकों की भाँति समझता था। उसकी इच्छा थी कि उसके अधिकारी उसके आदेशों को कार्यान्वित करें। इसका कारण यह था कि वह राजत्व के दैवीय सिद्धान्त में विश्वास करता था, जिसके अनुसार 'राजा पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है।' वह केवल ईश्वर के प्रति ही उत्तरदायी था। उसकी आज्ञा का विरोध करना धर्म-विरुद्ध तथा दण्डनीय था।

उसका दूसरा महत्वपूर्ण कार्य केन्द्रीय प्रशासन को संगठित करना था। उसने प्रशाशन में अनेक समितियों का निर्माण किया जिसके सदस्य उसके सेवक की भाँति थे। राजा प्रशासन की सभी नीतियों का निर्धारण स्वयं करता था। प्रत्येक समिति का कार्य केवल राजा को परामर्श देना ही था। बिना राजा की स्वीकृति के वे स्वतन्त्र रूप से कोई कार्य नहीं कर सकती थीं। लुई चतुर्दश स्वयं प्रशासन के विभागों पर कठोर दृष्टि रखता था।

उसने अपने गौरव तथा प्रतिष्ठा को प्रदर्शित करने के लिए पेरिस नगर से बाहर वर्साय नामक स्थान पर एक राज-प्रासाद का निर्माण करवाया। सन् १६६९ ई० में इसका निर्माण कार्य प्रारम्भ हुआ और सन् १७०१ ई० में यह पूर्ण हुआ, यद्यपि दरबार को सन् १६८२ ई० में ही पेरिस से वर्साय स्थानान्तरित कर दिया गया था। इसके निर्माण में फ्रांस के उच्च कोटि के कारीगरों की सेवाएं ली गयीं तथा राजप्रासाद को बड़े सुन्दर एवं वैभवशाली ढंग से अलंकृत किया गया। इसके निर्माण में इतना अधिक धन खर्च हुआ था कि लुई चतुर्दश ने अपनी मृत्यु से पूर्व ही उन सभी कागजों को नष्ट करवा दिया जिनसे कुल खर्च का पता लग सकता था। वर्साय के राजमहल में राजा तथा उसका परिवार, दरबारी तथा प्रशासन के अधिकारी निवास करते थे।

लुई चतुर्दश ने कला, साहित्य एवं संगीत की उन्नतिशील बनाने की ओर भी विशेष ध्यान दिया। उसने कलाकारों, साहित्यकारों एवं संगीतकारों को प्रोत्साहन प्रदान किया। बहुत से कलाकार तथा संगीतकार उसके दरबार को सुशोभित किया करते थे। उसके शासन काल में फ्रांसीसी साहित्य के क्षेत्र में भी काफी प्रगति हुई तथा अनेक ग्रन्थ लिखे गये। कॉरनील, मोलेर, रासीन आदि साहित्यकारों ने अपनी साहित्यिक रचनाओं द्वारा फ्रांसीसी नाटक को काफी उन्नतिशील बनाया। इसके अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी रचनाएँ की गयीं। इसीलिए लुई चतुर्दश का काल फ्रांसीसी साहित्य का 'स्वर्ण युग' कहा जाता है।

कोलबेर (Colbert) **के आर्थिक सुधार :**

कोलबेर प्रधानमन्त्री मजारें के अन्तर्गत कर चुका था। उसने अपने उत्तराधिकारी के रूप में उसका नाम प्रस्तुत किया था। लुई चतुर्दश ने कोलबेर को वित्तमन्त्री के पद पर नियुक्त किया। वित्त-मन्त्री बनने के पश्चात उसका प्रमुख उद्देश्य फ्रांस की आर्थिक दशा को उन्नतिशील एवं सुदृढ बनाना था। उसने सर्वप्रथम फ्रांस की कर व्यवस्था की ओर अपना ध्यान आकर्षित किया। उसने कोई नवीन कर नहीं लगाया। वह पुराने करों से ही सन्तुष्ट था। किन्तु जब उसने देखा कि करों की वसूली में भ्रष्टाचार फैला हुआ है तो उसने कर-व्यवस्था से भ्रष्टाचार को समाप्त

करने का निश्चय किया । उसने घूसखोर और भ्रष्टाचारी अधिकारियों को दण्डित कर इसके लिए बाध्य किया कि वह करों के रूप में वसूली गयी सम्पूर्ण धनराशि राजकोष में जमा करें । इस प्रकार राजकोष में अब अधिक धन जमा होने लगा । इतना ही नहीं उसने सभी कुलीनों के कर-मुक्ति पत्रों की जाँच करायी और जिनके पत्र प्रमाणित न हो सके उन्हें भूमि कर देने के लिए बाध्य किया । इस प्रकार लगभग ४० करोड़ रुपये की धनराशि राज्य को प्राप्त हुई । उसने किसानों पर प्रत्यक्ष करों का भार कम कर दिया तथा कुलीन वर्ग पर कई नये परोक्ष कर लगाए ।

उसने केवल कर व्यवस्था के क्षेत्र में ही सुधार नहीं किया वरन् उसने फ्रांस की आर्थिक उन्नति के लिए आय के अन्य साधनों की ओर भी ध्यान दिया । अब तक फ्रांस उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में काफी पिछड़ा हुआ था । वहाँ अधिकतर वस्तुएँ पड़ोसी देशों से मंगाई जाती थीं । उसने इंग्लैण्ड, हालैण्ड तथा इटली आदि देशों के कारीगरों को फ्रांस में आने के लिए प्रोत्साहित किया तथा उन्हें अनेक सुविधाएँ प्रदान कीं । इन कारीगरों के द्वारा उसने रेशम, चमड़ा, शीशे, कताई आदि उद्योगों में फ्रांसीसियों को प्रशिक्षित कराया । जब फ्रांस में इन उद्योगों की स्थापना हो गयी तो देशीय वस्तुओं के विकास के लिए विदेशों से आने वाली वस्तुओं पर करों का भार बढ़ा दिया । इसके अतिरिक्त उसने उत्पादन की वृद्धि के विभिन्न साधनों पर काफी ध्यान दिया । इस प्रकार इन उद्योगों की स्थापना से फ्रांस को काफी लाभ हुआ और इसकी आय में वृद्धि हुई । इतना ही नहीं उसने फ्रास के व्यापार एवं वाणिज्य को भी उन्नतिशील बनाया । उसके प्रयासों के फलवस्रूप ही बाल्टिक सागर, भूमध्य-सागर आदि क्षेत्रों में फ्रांसीसी व्यापरिक कम्पनियों की स्थापना हुई ।

लुई चतुर्दश की वैदेशिक नीति :

लुई चतुर्दश की वैदेशिक नीति का प्रमुख उद्देश्य यूरोप में फ्रांस को सर्वोच्च शक्ति के रूप में स्थापित करना था । प्रधानमन्त्री मजारें के पश्चात् सन् १६६१ ई० में जिस समय लुई चतुर्दश ने प्रशासन की सम्पूर्ण बागडोर अपने हाथों में ली उस समय यूरोप में शान्ति थी । एक निरंकुश शासक की भाँति वह अपने गौरव एवं प्रतिष्ठा को बढ़ाना चाहता था । किन्तु उसकी यह महत्वाकांक्षा यूरोप की शान्ति के लिए भयानक थी । लुई चतुर्दश का दूसरा प्रमुख उद्देश्य फ्रांस के लिए प्राकृतिक सीमाओं को प्राप्त करना था । इसकी प्राप्ति के लिए लुई चतुर्दश को लगभग ५० वर्षों तक युद्ध करना पड़ा । उसने सर्वप्रथम अपना ध्यान पतनोन्मुख स्पेन की ओर दिया क्योंकि फ्रांस की सीमाएँ हैप्सबर्ग परिवार के साम्राज्य की सीमाओं द्वारा घिरी हुई थीं । तीस वर्षीय युद्ध से जर्मनी में हैप्सबर्ग परिवार की शक्ति को काफी आघात लगा था । स्पेन का अब तीव्र गति से पतन हो चला था । इस कारण फ्रांस की

पूर्वी सीमा पर स्थित बेल्जियम, लक्जेमबर्ग आदि स्पेनी राज्य निःसहाय थे। लुई चतुर्दश ने इंग्लैण्ड के राजा चार्ल्स द्वितीय को तटस्थ बना दिया। इसके लिए लुई चतुर्दश ने इंग्लैण्ड को धनराशि प्रदान की। इंग्लैण्ड को तटस्थ बना कर फ्रांस स्पेनी नीदरलैण्ड्स पर आक्रमण करना चाहता था। उसे यह भय था कि यदि इंग्लैण्ड को तटस्थ न बनाया गया तो सम्भवतः वह फ्रांस के इस कार्य में हस्तक्षेप करेगा। लुई चतुर्दश ने अपनी महत्वाकांक्षी साम्राज्यवादी नीति को न्यायोचित सिद्ध करने के लिए 'प्राकृतिक सीमाओं के सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया जिसके अनुसार प्रत्येक देश की सीमाएँ पर्वत, नदियों तथा समुद्र आदि से घिरी होनी चाहिए। इस सिद्धान्त के आधार पर उसने उत्तर-पूर्व में राइन नदी, पूर्व-दक्षिण में आल्पस् तथा पिरेनीज के पर्वत तथा पश्चिम में समुद्र आदि को फ्रांस की सीमाओं के रूप में स्वीकार करने के लिए कहा। इससे यूरोप के राष्ट्र अत्यधिक सशंकित एवं भयभीत हो गये। इन सीमाओं की प्राप्ति के लिए लुई चतुर्दश को अनेक युद्ध करने पड़े।

(क) डिवोल्यूशन का युद्ध (War of Devolution, 1667—68) :

लुई चतुर्दश स्पेनी नीदरलैण्ड्स पर अधिकार करना चाहता था। सन् १६६५ ई० में फिलिप चतुर्थ की मृत्यु के पश्चात उसकी दूसरी पत्नी का पुत्र चार्ल्स द्वितीय राजा बना। 'डिवोल्यूशन' नामक एक सामन्तीय उत्तराधिकार के अनुसार लुई चतुर्दश ने अपनी स्त्री की ओर से स्पेनी नीदरलैण्ड्स के उत्तराधिकार का दावा पेश किया क्योंकि इस नियम के अनुसार प्रथम पत्नी से उत्पन्न सन्तान का अधिकार अधिक होता था। लुई चतुर्दश की पत्नी मेरिया थेरेसा का जन्म फिलिप चतुर्थ की पहली पत्नी से हुआ था तथा चार्ल्स द्वितीय का जन्म फिलिप की द्वितीय पत्नी से हुआ था। इस कारण चार्ल्स द्वितीय की तुलना में लुई चतुर्दश की पत्नी का दावा अधिक मजबूत था इसके अतिरिक्त लुई चतुर्दश ने विवाह के समय स्पेनी उत्तराधिकार के सभी अधिकार त्याग दिये थे तथा इसके प्रत्युत्तर में एक निश्चित धनराशि दहेज के रूप में देने का वचन दिया गया था। किन्तु दहेज की धनराशि उसे न दी गयी थी। इस कारण उसने स्पेनी उत्तराधिकार के लिए अपना अधिकार प्रस्तुत किया। यह सामन्तीय नियम केवल सम्पत्ति के सम्बन्धी में लागू होता था किन्तु लुई चतुर्दश ने युद्ध के बहाने के रूप में इस कानून का उपयोग किया। स्पेन के राजा चार्ल्स द्वितीय ने लुई चतुर्दश के दावों को ठुकरा दिया। इस प्रकार सन् १६६७ ई० में डिवोल्यूशन का युद्ध प्रारम्भ हुआ। युद्ध प्रारम्भ करने से पूर्व लुई चतुर्दश ने बड़ी कूटनीति से काम लिया। उसने स्पेन को अकेला करने का प्रयास किया। उसने हालैण्ड तथा स्वीडेन को स्पेन तथा फ्रांस के युद्ध के लिए तटस्थ बना दिया। तीस वर्षीय युद्ध में फ्रांस ने जर्मनी के प्रोटेन्टेन्ट राज्यों की सहायता की थी। अतः वे भी

उसके पक्ष में थे। यह युद्ध फ्रांस और स्पेन के मध्य सन् १६६७ ई० से सन् १६६८ ई० तक चलता रहा। स्पेन मे अब वह शक्ति न रह गयी थी कि वह फ्रास को पराजित कर सकता तथा यदि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे परिवर्तन न हुआ होता तो सम्भवत: फ्रांस का अधिकार सम्पूर्ण स्पेनी नीदरलैण्ड्स पर हो गया होता। फ्रांस को बढ़ती हुई शक्ति से यूरोप के अन्त राज्य भयभीत हो गये। हालैण्ड ने इंग्लैण्ड तथा स्वीडेन को सम्मिलित कर एक त्रिगुट का निर्माण किया जिसका उद्देश्य फ्रांसीसी सेनाओं की बढ़ती हुई प्रगति को रोकना था और इस गुट के निर्माण के कारण लुई चतुर्दश सधि के लिए सहमत हो गया। इस युद्ध का अन्त सन् १६६८ ई० में 'एला-शैपल की सन्धि' (Treaty of Aix-La-Chapelle) द्वारा हुआ।

'एला-शैपल की सन्धि' द्वारा स्पेनी नीदरलैण्ड्स का अधिकांश भाग स्पेन को वापस मिल गया किन्तु फ्रांस की सीमा पर स्थित लील, तूर्नेय, शार्लेराय आदि कई नगर उसे मिल गये जिससे लुई चतुर्दश की महत्वकांक्षा की आंशिक पूर्ति हुई।

(ख) डचों से युद्ध (Dutch War, 1672—1678) :

लुई चतुर्दश हालैण्ड से क्रुद्ध हो गया था क्योंकि उसने डिवोल्यूशन के युद्ध में फ्रांस के विरुद्ध गुट बनाने में महत्वपूर्ण भाग लिया था। इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह था कि हालैण्ड वाणिज्य एवं उपनिवेश स्थापन के क्षेत्र में इंग्लैण्ड तथा फ्रांस का प्रतिद्वन्दी हो रहा था। तीसरे, लुई चतुर्दश डचों से घृणा करता था क्योंकि वे गणतन्त्रवादी तथा प्रोटेस्टेन्ट थे। युद्ध करने से पूर्व लुई चतुर्दश ने त्रिगुट को नष्ट करने का प्रयास किया। उसने इंग्लैण्ड के राजा चार्ल्स द्वितीय से सन् १६७० ई० में 'डोवर की गुप्त सन्धि' की। इस सन्धि के अनुसार उसने इंग्लैण्ड को एक बड़ी धनराशि देकर तटस्थ बना दिया। इसी प्रकार स्वीडेन को भी लुई चतुर्दश ने अपने पक्ष में कर लिया। इस प्रकार त्रिगुट नष्ट हो गया तथा हालैण्ड एकाकी हो गया। इसी समय हालैण्ड में गृह युद्ध प्रारम्भ हो गया। लुई चतुर्दश के लिए यह उपयुक्त अवसर था। अत: उसने सन १६७२ ई० में युद्ध की घोषणा कर दी। कौन्दे तथा त्यूरेन की अध्यक्षता में फ्रांसीसी सफलतापूर्वक आगे बढ़ने लगे। अनेक नगरों पर अधिकार करते हुए फ्रांसीसी सेनाएँ एम्सटरडम की ओर बढ़ी। डचों ने अपनी इस असफलता के लिए डेविट (Dewitt) को उत्तराधिकारी ठहराते हुए उसका वध कर दिया और उसके स्थान पर ऑरेन्ज के विलियम तृतीय को अपना नेता चुना। ऑरेंज के विलियम तृतीय ने फ्रांस के विरुद्ध आस्ट्रिया, स्पेन, ब्रैन्डेनबर्ग तथा डेनमार्क के सहयोग से एक गुट का निर्माण किया। इसी समय संसद के दबाव के कारण इंग्लैण्ड भी फ्रांस का साथ छोड़ने लगा और अब केवल स्वीडेन ही फ्रांस के मित्रों में बच रहा था। इसी बीच सेनापति त्यूरेन भी युद्ध में मारा गया। युद्ध के खर्चों के कारण

फ्रांस के समक्ष आर्थिक कठिनाइयाँ भी उत्पन्न हो रही थी। अतः लुई चतुर्दश युद्ध समाप्त करने का इच्छुक हो गया। दूसरी ओर हालैण्ड भी युद्ध की परिस्थिति से छुटकारा पाना चाहता था।

अतः इस युद्ध का अन्त सन १६७८ ई० में 'निमवेजिन की सन्धि' (Treaty of Nimwegen) द्वारा हुआ। फ्रांस को स्पेन से फ्रेन्च काम्टे तथा बेल्जियम के अनेक नगर मिले। हालैण्ड को इस सन्धि द्वारा कोई हानि न उठानी पड़ी। इस सन्धि द्वारा लुई चतुर्दश अपनी प्रतिष्ठा की चरम सीमा पहुँच गया।

(ग) आग्सबर्ग के संघ का युद्ध :
(War of League of Augsberg, 1688-97)

वेस्टफेलिया, एला शैपल तथा निमवेजिन आदि सन्धियों द्वारा फ्रांस को जो क्षेत्र मिले थे लुई चतुर्दश ने उनके आधीनस्थ भू-भागों का दावा पेश किया। इन आधीनस्थ क्षेत्रों का पता लगाने के लिए उसने 'चैम्बर ऑव रियूनियन' (Chamber of Reunion) नामक एक आयोग का निर्माण किया। इस आयोग ने बड़ी चतुरतापूर्वक इन सन्धियों की व्याख्या कर लक्जेमबर्ग, स्ट्रासबर्ग सहित २० नगरों पर फ्रांस का दावा पेश किया। लुई चतुर्दश ने आयोग के निर्णय के अनुसार इन स्थानों पर अधिकार स्थापित करने के लिए सेनाएँ भेजी एवं स्ट्रासबर्ग तथा अन्य कई नगरों पर अधिकार कर लिया। लुई चतुर्दश के इस कार्य से यूरोपीय राष्ट्र सशंकित हो उठे और सन् १६८६ ई० में उन्होंने एक संघ का निर्माण किया जो 'आग्सबर्ग के संघ' (League of Augsberg) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसमें स्पेन, हालैण्ड, सेवाय, आस्ट्रिया तथा अनेक जर्मन राज्य सम्मिलित थे। सन १६८८ ई० में इंग्लैण्ड भी इस संघ में सम्मिलित हो गया। फ्रांस अब अकेला बच गया। किन्तु आग्सबर्ग के संघ के युद्ध का तात्कालिक कारण पैलेटाइन के उत्तराधिकार का प्रश्न था जिसके लिए लुई चतुर्दश तथा सम्राट लियोपोल्ड दोनों ने ही अपने-अपने उम्मीदवार का समर्थन किया और यह प्रश्न पोप के समक्ष निर्णय के लिए रखा गया। पोप ने सम्राट लियोपोल्ड के उम्मीदवार जोजेफ क्लीमेंट के पक्ष में निर्णय दिया जिसे लुई चतुर्दश ने मानने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार सन १६८८ ई० में 'आग्सबर्ग के संघ का युद्ध' प्रारम्भ हुआ और इसका अन्त सन १६९७ ई० में 'रिसविक की सन्धि'(Peace of Ryswick) द्वारा हुआ।

'रिसविक की सन्धि' के अनुसार स्ट्रासबर्ग को छोड़कर लुई चतुर्दश ने सभी क्षेत्रों को त्याग दिया जिन पर 'चैम्बर ऑव रियूनियन' के निर्णय के अनुसार उसने अधिकार कर लिया था। दूसरे, हालैण्ड को कुछ व्यापारिक सुविधाएँ मिलीं। तीसरे, लोरेन उसके ड्यूक को वापस लौटा दिया गया। लुई चतुर्दश ने पैलेटाइन से अपने

सभी दावे हटा लिए। लुई चतुर्दश ने विलियम तृतीय को इंग्लैण्ड का राजा स्वीकार किया। फ्रांस को कोई प्रादेशिक हानि न हुई बल्कि उसे समस्त अल्सास प्रदेश पर अधिकार प्राप्त हो गया।

(घ) स्पेनी उत्तराधिकार का युद्ध (War of Spanish Succession, 1702-10)

यह युद्ध स्पेन के सिंहासन के उत्तराधिकार के लिए हुआ था अतः इसे 'स्पेनी उत्तराधिकार के युद्ध' के नाम से जाना जाता है। स्पेन के राजा चार्ल्स द्वितीय की न कोई सन्तान थी और न ही उसका कोई भाई था उसके निकटनम सम्बन्धियों में फ्रांस का लुई चतुर्दश तथा आस्ट्रिया का सम्राट लियपोल्ड था। चार्ल्स द्वितीय की दो बहनें थी—पहली बहन मेरिया थेरेसा का विवाह फ्रांस के राजा लुई चतुर्दश के साथ हुआ था तथा दूसरी बहन मार्गरेट थेरेसा का विवाह आस्ट्रिया के सम्राट लियोपोल्ड के साथ हुआ था। विवाह के समय मेरिया थेरेसा ने स्पेन के सिंहासन से अपने अधिकारों को त्याग दिया था और बदले में उसे दहेज के रूप में एक निश्चित धनराशि देने के लिए कहा गया था। किन्तु वह धनराशि उसे न दी गयी। अतः सिंहासन पर उत्तराधिकार के लिए उसका दावा बना हुआ था। लुई चतुर्दश ने अपने पुत्र डॉफिन के अधिकार का दावा पेश किया। चार्ल्स द्वितीय की छोटी बहन मार्गरेट थेरेसा का विवाह आस्ट्रिया के सम्राट लियोपोल्ड के साथ हुआ था। उसकी पुत्री मेरिया एण्टोनिया ने विवाह के समय स्पेनी सिंहासन से अपने अधिकारों को त्याग दिया था। अब उसने अपने पुत्र बवेरिया के जोजेफ फर्डिनेण्ड के अधिकार का दावा पेश किया। स्पेनी उत्तराधिकार का प्रश्न सभी यूरोपीय राष्ट्रों के लिए महत्वपूर्ण था क्योंकि इस पर यूरोप का शक्ति-सन्तुलन निर्भर करता था। यदि आस्ट्रिया के साथ स्पेन सम्मिलित हो जाता अथवा उसका उम्मीदवार उत्तराधिकारी बन जाता तो आस्ट्रिया की शक्ति सम्राट चार्ल्स पंचम के काल की भाँति हो जाती। यदि फ्रांस के साथ स्पेनी साम्राज्य का सयोजन हो जाता तो यूरोप में फ्रांस के बोरबां राजवंश की प्रधानता स्थापिता हो जाती। युद्ध को बचाने के लिए लुई चतुर्दश ने इंग्लैण्ड के राजा विलियम तृतीय के साथ सन् १६९८ ई० में स्पेनी साम्राज्य के विभाजन की प्रथम सन्धि कर ली। जब स्पेन के राजा चार्ल्स द्वितीय को इसकी सूचना मिली तो वह बहुत क्रोधित हुआ क्योंकि इसमें उससे परामर्श न लिया गया था। अतः उसने बवेरिया के फर्डिनेण्ड को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। किन्तु इसी बीच फर्डिनेण्ड की अचानक मृत्यु हो गयी। अतः समस्या और भी जटिल हो गयी।

सन् १७०० ई० में फ्रांस, इंग्लैण्ड तथा आस्ट्रिया में स्पेनी साम्राज्य के

विभाजन की दूसरी सन्धि हुई। स्पेन का राजा चार्ल्स द्वितीय पुनः बहुत क्रुद्ध हुआ क्योंकि इस बार भी विभाजन के सम्बन्ध में उसकी सहमति न ली गयी थी। दूसरे, वह अपने साम्राज्य को विभाजित नहीं होने देना चाहता था। अतः उसने अपनी मृत्यु से पूर्व लुई चतुर्दश के पौत्र आंजो के ड्यूक फिलिप को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। लुई चतुर्दश ने स्पेनी साम्राज्य के विभाजन की सन्धि को ठुकरा कर चार्ल्स द्वितीय की इस वसीयत को स्वीकार कर लिया। अब लुई चतुर्दश ने अपने पौत्र को वर्साय के दरबार में स्पेन का शासक घोषित करते हुए उसे फिलिप पंचम के नाम से सम्बोधित किया। तत्पश्चात् फिलिप पंचम ने स्पेन पर अधिकार करने के लिए प्रस्थान कर दिया। यूरोपीय राष्ट्र लुई चतुर्दश की इस महत्वाकांक्षा से सशंकित हो उठे और उन्होंने एक विशाल गुट का निर्माण किया, जिसमें हालैण्ड, इंग्लैण्ड, आस्ट्रिया तथा जर्मनी के अनेक राज्य सम्मिलित थे। उन्होंने यह माँग रखा की स्पेन का सिंहासन आर्चड्यूक चार्ल्स को प्रदान किया जाय। परिणामस्वरूप सन् १७०२ ई० में यह युद्ध प्रारम्भ हो गया। सन् १७१० ई० में इंग्लैण्ड में ह्विग दल के स्थान पर टोरी दल शक्ति में आया जो शान्ति चाहता था। साथ ही सन् १७११ ई० में सम्राट लियोपोल्ड की मृत्यु हो गयी और उसके स्थान पर आर्चड्यूक चार्ल्स आस्ट्रिया का सम्राट बना। इस कारण अब इंग्लैण्ड तथा हालैण्ड ने उसका समर्थन वन्द कर दिया। यदि चार्ल्स आस्ट्रिया तथा स्पेन दोनों का राजा बन जाता तो यूरोप का शक्ति सन्तुलन बिगड़ जाता। अंततः १७१३ ई० में 'यूट्रेक्ट की सन्धि (Treaty of Utrecht) द्वारा इस युद्ध का अन्त हुआ। किन्तु आस्ट्रिया तथा फ्रांस में युद्ध जारी रहा और अन्त में सन् १७१४ ई० में आस्ट्रिया तथा फ्राँस में 'रस्टाड की सन्धि' (Treaty of Rastadt) हुई जिसके द्वारा आस्ट्रिया ने 'यूट्रेक्ट की सन्धि' (सन् १७१३ ई०) की धाराओं को स्वीकार कर लिया।

यूट्रेक्ट की सन्धि (Treaty of Utrecht, 1713)

इस सन्धि द्वारा लुई चतुर्दश के पौत्र फिलिप पंचम को स्पेन का राजा स्वीकार किया गया किन्तु यह शर्त रखी गयी कि फ्रांस तथा स्पेन का सिंहासन कभी एक साम्राज्य में सम्मिलित न होगा। आस्ट्रिया के सम्राट को इटली में स्पेन के कुछ क्षेत्र मिले जिसमें मिलान, नेपल्स तथा स्पेनी नीदरलैण्ड्स सम्मिलित थे। इस प्रकार इस सन्धि द्वारा स्पेन की काफी क्षति हुई। सेवाए के ड्यूक को स्पेनी साम्राज्य का भू-भाग तथा सिसली आदि के क्षेत्र मिले तथा उसे राजा को पदवी प्राप्त हुई। हालैण्ड को फ्रांस के विरुद्ध अपनी रक्षा के लिये नीदरलैण्ड्स के अनेक दुर्गों में सेना रखने का अधिकार प्राप्त हुआ। फ्रांस के पास अल्सास तथा स्ट्रासबर्ग बना रहने दिया गया किन्तु राइन नदी के दक्षिणी तट पर अधिकृत कई दुर्ग उससे वापस ले लिए गये। फ्रांस ने इंग्लैण्ड

के भूतपूर्व स्टुअर्ट राजवंश को समर्थय न देने का वचन दिया। प्रशा को एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में स्वीकार कर किया गया। इंग्लैण्ड को स्पेन से जिब्राल्टर और मिनारका आदि प्रदेश मिले तथा फ्रांस से न्यूफाउण्डलैण्ड तथा हडसन की खाड़ी के भू-भाग प्राप्त हुये।

यद्यपि इस सन्धि से फ्रांस को कोई क्षेत्रीय हानि न उठानी पड़ी किन्तु भविष्य में उसकी आक्रामक नीति को रोकने के लिए अनेक कदम उठाये गये। उसकी सीमा पर अनेक नये राज्यों का निर्माण किया गया। फ्रांस की उत्तरी सीमा पर आस्ट्रिया तथा डचों को स्थापित किया गया तथा पूर्वी सीमा पर प्रशा को स्थापित किया गया। फ्रांस एवं इटली के मध्य सेवाय के राज्य की स्थापना की गयी। इस प्रकार इस सन्धि द्वारा यूरोप के शक्ति-सन्तुलन को बनाये रखने का प्रयास किया गया। यह कहा जा सकता है जिस प्रकार वेस्टफेलिया की सन्धि (सन् १६४८ ई०) हैप्सबर्ग राजवंश के पतन की सूचक थी उसी प्रकार यूट्रेक्ट की सन्धि (सन् १७१३ ई०) से बोरबाँ राजवंश के पतन तथा इंग्लैण्ड की प्रधानता का आभास मिलता है।

●

अध्याय ११

फ्रांस पतन की ओर

(DECLINE OF FRANCE)

लुई पंचदश

(Louis XV, 1715-1774)

लुई चतुर्दश की मृत्योपरान्त उसका पौत्र लुई पंचदश सन् १७१५ ई० में फ्रांस का राजा बना। उसकी आयु केवल पाँच वर्ष थी। अतः उसका चाचा ड्यूक ऑव ओलिआँ उसका संरक्षक बना और अगले आठ वर्षों तक वह प्रशासन का संचालन करता रहा।

ड्यूक ऑव ओलिआँ का संरक्षण (सन् १७१५ ई०-२३ ई०) :

ड्यूक ऑव ओलिआँ लगभग आठ वर्षों तक लुई पंचदश का संरक्षक रहा। इस काल में प्रशासन का संचालन उसी के हाथों में था। यद्यपि ड्यूक ऑव ओलिआँ एक योग्य एवं प्रतिभावान व्यक्ति था किन्तु उसमें आलस्य, विलासप्रियता तथा दृढ़-संकल्पता की कमी थी। उसने शान्तिपूर्ण वैदेशिक नीति का अनुसरण किया। उसने फ्रांस की आर्थिक दशा को उन्नतिशील बनाने के लिए कृषि एवं उद्योग को प्रोत्साहित किया। किन्तु उसके सुधारों से फ्रांस को कोइ विशेष लाभ न हुआ। सन् १७२३ ई० में ड्यूक ऑफ ओलिआँ की मृत्यु हो गयी।

कार्डिनल फ्लेरी का संरक्षण (सन् १७२३ ई०-४३ ई०) :

लुई पंचदश के प्रथम संरक्षण की मृत्यु के पश्चात् सन् १७२३ ई० में कार्डिनल फ्लेरी उसका संरक्षक बना। उसने फ्रांस की आर्थिक दशा को सुधारने की बड़ी चेष्टा की। उसने राजकीय खर्चे को कम कर दिया। उसने व्यापार एवं वाणिज्य के विकास की ओर भी ध्यान दिया। उद्देश्य से उसने अनेक सड़कों का निर्माण करवाया। उसका विश्वास था कि शान्तिपूर्ण वाह्य नीति के द्वारा ही आन्तरिक विकास सम्भव है। किन्तु आस्ट्रिया की मेरिया थेरेसा के विरुद्ध फ्रांस को गुट में सम्मिलित होना पड़ा। फ्लेरी बोरबाँ राजवंशीय महत्वाकांक्षा का शिकार बन गया। सन् १७४३ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

पोलैण्ड के उत्तराधिकार का युद्ध (War of Polish Succession, 1733-1738) :

पोलैण्ड के उत्तराधिकार का प्रश्न स्पेन के बोरबाँ परिवार के शासक फिलिप

पंचम (सन् १७०० ई०—१७४६ ई०) की महत्वकांक्षा के कारण काफी जटिल हो गया। फिलिप पंचम ने इटली के प्रदेशों पर आस्ट्रिया के अधिकार को कभी स्वीकार नहीं किया और वह यूट्रेक्ट की सन्धि (१७१३ ई०) को समाप्त करने का प्रयास कर रहा था। प्रारम्भ में ओलिआँ तथा फ्लेरी ने फिलिप पंचम की महत्वाकांक्षा को नियन्त्रित करने के लिए आस्ट्रिया तथा इंग्लैण्ड का साथ दिया। किन्तु बाद में फ्रांस तथा स्पेन में सन् १७३३ ई० में एक सन्धि हो गयी और इस प्रकार इन दोनो राष्ट्रों के बीच 'प्रथम पारिवारिक संघ' की स्थापना हुई। दूसरी ओर आस्ट्रिया फ्रांस के विरुद्ध रूस की सहायता कर रहा था। इस प्रकार एक ओर फ्रांस तथा स्पेन और दूसरी ओर आस्ट्रिया तथा रूस हो गये और पोलैण्ड के उत्तराधिकार का युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय हो गया। इस युद्ध का अन्त सन् १७३८ ई० में वियना की सन्धि द्वारा हुआ तथा आगस्टस द्वितीय के पुत्र आगस्टस तृतीय को पोलैण्ड का सिंहासन प्राप्त हुआ। रूस और आस्ट्रिया के लिए यही संतोषजनक था। किन्तु इस सन्धि से यूरोपीय राजनीति में बोरबाँ राजवंश की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। स्टेनिसलास को लोरेन की डची प्रदान की गयी तथा उसकी मृत्यु के पश्चात् आस्ट्रिया ने उस पर लुई पंचदश के अधिकार को स्वीकार कर लिया। आस्ट्रिया ने नेपल्स, सिसली तथा पारमा आदि राज्यों को बोरबाँ राजवंश को हस्तान्तरित करना स्वीकार कर लिया। फिलिप पंचम ने अपने पुत्र चार्ल्स को नेपल्स एवं सिसली तथा दूसरे पुत्र को पारमा के शासक के रूप में प्रतिष्ठित किया। सन् १७६६ ई० में स्टेनिसलास की मृत्यु के पश्चात लोरेन की डची पर फ्रांस का अधिकार हो गया। सन् १७६८ ई० में लुई पंचदश ने जिनेवा से कार्सिका का द्वीप खरीद लिया। अब इटली में बोरबाँ राजवंश का प्रभाव स्थापित हो गया। फिलिप पंचम का पुत्र चार्ल्स, जो नेपल्स तथा सिसली का शासक था, बहुत योग्य सिद्ध हुआ। उसने चार्ल्स तृतीय के रूप में सन् १७५९ ई० से १७८८ ई० तक स्पेन पर भी शासन किया।

लुई पंचदश का व्यक्तिगत शासन (सन् १७४३ ई०-१७७४ ई०) :

अपने दूसरे संरक्षक कार्डिनल फ्लेरी की मृत्यु के पश्चात् लुई पंचदश ने सन् १७४३ ई० में शासन की सम्पूर्ण बागडोर अपने हाथों में ले ली। यद्यपि उसमें मानसिक एवं हार्दिक गुण विद्यमान थे किन्तु वास्तव में वह एक दुर्बल प्रकृति का व्यक्ति था। वह अपना अधिकार समय वर्साय में रहकर विलासप्रिय जीवन में व्यतीत करता था। उसने फ्रांस की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दशा में सुधार का कोई प्रयास नहीं किया। फ्रांस आर्थिक दृष्टि से दिवालिया होने लगा जिसने भविष्य में क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त किया। लुई पंशदश ने स्वयं कहा था कि "मेरे

बाद प्रलय होगा।" उसकी यह भविष्यवाणी सत्य निकली और उसके उत्तराधिकारी लुई षोडश के काल में फांसीसी क्रांति (सन् १७८६ ई०) हुई।

लुई षोडश

(Louis XVI, 1774-1793)

लुई पंशदश की मृत्यु के पश्चात् उसका पौत्र लुई षोडश (लुई सोलहवाँ) सन् १७७४ ई० में फ्रांस के सिंहासन पर बैठा। सिंहासनारोहण के समय उसकी आयु २० वर्ष थी। यद्यपि उसमें अनेक गुण थे किन्तु उसमें दृढ़ निश्चय और दूरदर्शिता का अभाव था। उसने आस्ट्रिया की राजकुमारी मेरी अन्त्वानेत से विवाह किया था, जिसे फांसीसी सदैव विदेशी समझते थे। लुई षोडश उसके काफी प्रभाव में था। वह शासन में हस्तक्षेप किया करती थी जिसके परिणाम सदैव फ्रांस के हित के विपरीत हुआ करते थे।

सिंहासन पर बैठते ही लुई षोडश ने फ्रांस की आर्थिक दशा को सुधारने का प्रयास किया। इसके लिए उसने तुर्गो (Turgot) को वित्त-मन्त्री के पद पर नियुक्त किया। वह दो वर्षों (सन् १७७४ ई०—सन १७७६ ई०) तक इस पद पर रहा। उसने आर्थिक दशा को सुधारने के लिए खर्च में कमी करने तथा सार्वजनिक सम्पत्ति के विकास का निश्चय किया। किसानों से लिए जाने वाले बेगार को बन्द कर दिया गया। उसने समान भूमिकर व्यवस्था को लागू करने की योजना बनायी। किन्तु तुर्गो के इन सुधारों से उच्च वर्ग के लोग असंतुष्ट हो गए। उन्होंने इसका विरोध किया क्योंकि इससे उनके विशेषाधिकारों पर आघात की सम्भावना थी। कुलीनों ने मेरी अन्त्वानेत से प्रार्थना की कि तुर्गो को पदच्युत कर दिया जाय। मेरी अन्त्वानेत के कहने पर लुई षोडश ने तुर्गो को वित्त-मन्त्री के पद से हटा दिया।

तुर्गो के पश्चात् सन १७७६ ई० में नेकर (Necker) को वित्त-मन्त्री नियुक्त किया गया। वित्त-मन्त्री बनने से पूर्व बैंक-संचालक के रूप में उसने पेरिस में काफी ख्याति प्राप्त कर ली थी। उसने आरम्भ में कुछ सुधारों द्वारा फ्रांस के खर्चों में कुछ बचत की। किन्तु बाद में जब उसने तुर्गो की योजना को कार्यान्वित करने का प्रयास किया तो कुलीन वर्ग ने उसका भी विरोध प्रारम्भ किया। सन् १७८१ ई० में राजा ने उसे पदच्युत कर केलोन (Calonne) को वित-मन्त्री नियुक्त किया। प्रारम्भ में केलोन ने दरबार को प्रसन्न करने के लिए भारी ऋण लिए। किन्तु जब ऋण मिलना भी बन्द हो गया तो उसने सामान्य रूप से कर व्यवस्था लागू करने का प्रस्ताव किया। इस पर विचार के लिए राजा ने 'प्रतिष्ठित लोगों की सभा' (Council of Notables)

बुलाई। उन्होंने बिना 'स्टेटस जनरल' की स्वीकृति के कर-व्यवस्था में किसी परिवर्तन को अस्वीकार कर दिया। इस पर सन १७८६ ई० में केलोन ने भी त्याग पत्र दे दिया। इसके पश्चात् वित्त-मन्त्री ब्रिएन (Brienne) की भी यही दशा हुई। अन्त में नेकर को पुनः वित्त-मन्त्री नियुक्त किया गया। राजा लुई षोडश ने 'स्टेटस जनरल' के अधिवेशन की स्वीकृति दे दी।

'स्टेटस जनरल' का अधिवेशन एवं क्रान्ति का आरम्भ (१७८९ ई०) :

फ्रांस में 'स्टेट्स जनरल' का अन्तिम अधिवेशन सन् १६१४ ई० में लुई त्रयोदश के शासन काल में हुआ था। तत्पश्चात् लगभग १७५ वर्षों तक इसकी बैठक न बुलाई जाने के कारण 'स्टेटस जनरल' एक मृतप्राय संस्था हो गयी थी। अतः सन् १७८९ ई० में सामान्य निर्वाचन हुआ और तीनों वर्गों अर्थात पुरोहित, सामन्त तथा तृतीय वर्ग के लोगों ने अपने प्रतिनिधियों का चुनाव किया। ५ मई, सन् १७८९ ई० को 'स्टेटस जनरल' का अधिवेशन बुलाया गया। उसमें लगभग १२०० सदस्य थे जिन्हें राजनीतिक अनुभव न था। अधिवेशन के पहले दिन कोई महत्वपूर्ण बात न हुई।

७ मई, सन् १७८९ ई० को मतदान के सम्बन्ध में मतभेद उत्पन्न हो गया कि सदस्य अलग-अलग भवनों में अथवा एक साथ एक ही भवन में मत देंगे। पुरोहित तथा कुलीन वर्ग अलग-अलग भवनों में चले गये। किन्तु तृतीय वर्ग ने अलग बैठने से इन्कार कर दिया और उसने अन्य वर्गों के सदस्यों को साथ बैठने के लिए आमन्त्रित किया। धीरे-धीरे साधारण पुरोहित तृतीय वर्ग के साथ आकर मिलने लगे। १७ जून, सन् १७८९ ई० को तृतीय वर्ग के इन प्रतिनिधियों ने अपने को फ्रांस की एक मात्र प्रतिनिधि संस्था घोषित की तथा अपने आपको 'राष्ट्रीय सभा' (National Assembly) का नाम दिया। लुई षोडश ने इनके दमन के लिए तृतीय सदन में ताला लगवा दिया। इस पर राष्ट्रीय सभा के सदस्यों ने समीप के एक 'टेनिस कोर्ट' में बैठक की और बेली (Bailly) की अध्यक्षता में शपथ ली कि 'जब तक हम अपने देश के लिए एक नया संविधान नहीं बना लेंगे तब तक विसर्जित न होंगे'। वास्तव में यह शपथ फ्रांस के निरंकुश राजतन्त्र के विरुद्ध युद्ध की घोषणा थी और यहीं से फ्रांसीसी क्रान्ति (१७८९ ई०) का प्रारम्भ होता है।

अध्याय १२

रूस का उत्थान

(RISE OF RUSSIA)

आधुनिक युग के पूर्व रूस में राजनीतिक एकता न थी वरन् वहाँ अनेक राजनीतिक नगर विद्यमान थे। ९वीं शताब्दी में स्लाव जाति-निवासी रूरिक (Ruric) ने रूस पर आक्रमण कर वहाँ की राजनीतिक अराजकता एवं अनेकता का अन्त किया तथा स्लावों का राजनीतिक संगठन किया। अब उनका पश्चिमी यूरोप से सम्पर्क स्थापित हुआ। रूरिक के उत्तराधिकारियों ने अपने अथक परिश्रम के फलस्वरूप रूसी राज्य की स्थापना को। १०वीं शताब्दी में रूसियों ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया और रूस में यूनानी चर्च की स्थापना की। १३वीं शताब्दी में मंगोलों ने रूस पर आक्रमण कर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। अन्त में १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इवान महान मंगोलों की सत्ता का अन्त कर रूस का शासक बन गया।

इवान महान (Ivan the Great, 1462-1505) :

१५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इवान महान ने मंगोलों को रूस से निष्कासित कर रूस को एक सुदृढ़ साम्राज्य के रूप में स्थापित करने के प्रयास किया। सन् १४८१ ई० में मंगोलों ने मास्को पर अन्तिम आक्रमण किय: जिसमें वे पराजित हुए। इसके पश्चात् सन् १४८७ ई० मे इवान ने दक्षिणी रूस के मंगोलों को भी पराजित किया। इवान ने पश्चिमी यूरोप के साथ सम्पर्क विकसित करने का प्रयास किया। तुर्कों ने सन् १४५३ ई० में कुस्तुनतुनियाँ पर अधिकार कर लिया और उस पर तुर्कों का अधिकार हो जाने से बाइजेण्टियन साम्राज्य का अन्त हो गया। इस प्रकार रूस पूर्वी यूरोप के ईसाई साम्राज्य का उत्तराधिकारी हो गया। इवान ने अन्तिम रोमन सम्राट कान्सटैन्टाइन नवम् की भतीजी से विवाह किया। इसके अतिरिक्त उसने 'जार' अथवा 'सम्पूर्ण रूस के सम्राट' की पदवी धारण की। उसने अनेक यूरोपीय देशों में अपने राजदूत भेजे। इसके अतिरिक्त इवान ने रूस के कुलीन वर्ग तथा कैथोलिक चर्च को अपने नियन्त्रण में रखने का प्रयास किया।

इवान चतुर्थ का शासन (Ivan IV, 1553-1584)

इवान चतुर्थ ने अपने दीर्घ-कालीन शासन के अन्तर्गत रूस में केन्द्रीकृत एवं

निरंकुश जारशाही की स्थापना की। उसने रूस के लोगों को प्रशिक्षित कराने के लिए विदेशी कारीगरों की सेवायें प्राप्त करने का प्रयास किया। उसने पूर्व तथा पश्चिम की ओर रूसी सीमा के विस्तार का भी प्रयास किया किन्तु उसे सफलता न मिली। उसने सामन्तों की शक्ति को नियन्त्रित कर एक नये सामन्त वर्ग का गठन किया तथा रूस के रूढ़िवादी चर्च को भी अपने नियन्त्रण में कर लिया। उसे 'इवान भयंकर' की संज्ञा प्रदान की जाती है। सन् १५८४ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

रूस में गृह युद्ध (Civil War, 1584-1613) :

सन् १५८४ ई० में इवान चतुर्थ की मृत्योपरान्त रूस में गृह युद्ध एवं अशान्ति व्याप्त हो गयी। क्योंकि इवान चतुर्थ का उत्तराधिकारी थियोडोर प्रथम अयोग्य एवं दुर्बल था। इस कारण सामन्तों में आपसी कलह एवं संघर्ष प्रारम्भ हो गया। रूस की आन्तरिक दशा से प्रेरित होकर हालैण्ड तथा स्वीडेन ने रूस पर आक्रमण किये और उनके अनेक क्षेत्रों पर अधिकार कर लिए। तुर्कों ने क्रीमिया पर अधिकार कर लिया। अन्त में रूसी सामन्तों ने सन् १६१३ ई० में अराजकता को समाप्त करने के लिए एक सभा बुलाई और सोलह वर्षीय माइकेल रोमनॉव को रूसी जार के रूप में नियुक्त किया। इस प्रकार सन् १६१३ ई० से रूस में रोमनॉव वंश के शासन का युग प्रारम्भ हुआ तथा गृह युद्ध एवं अराजकता का अन्त हो गया।

माइकेल रोमनॉव का शासन (Michael Romanov, 1613-1645) :

रूस में फैली हुई अराजकता को समाप्त करने के लिए रूसी सामन्तों ने सन् १६१३ ई० में एक सभा कर माइकेल रोमनॉव को जार के रूप में सिंहासन पर बैठाया था। सिंहासन पर बैठने के पश्चात् उसने रूस में शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित की। उसने वाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा की ओर भी ध्यान दिया तथा उसके लिए उसने अनेक सुरक्षात्मक व्यवस्थाएँ कीं। उसने अनेक किलों का निर्माण करवाया।

अलेक्सिस का शासन (Alexis, 1646-1776) :

माइकेल की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अलेक्सिस सन् १६४५ ई० मे रूस का जार बना। उसके शासन काल में रूस तथा पोलैण्ड के मध्य पुनः संघर्ष हुआ। उसने पोलैण्ड को सन्धि करने के लिए विवश किया। इस संधि से रूस को क्षेत्रीय लाभ होने के साथ-साथ यूरोपीय राजनीति में उसकी प्रतिष्ठा भी स्थापित हुई। उसने रूसी रूढ़िवादी चर्च पर भी अपना नियन्त्रण स्थापित किया। सन् १६७६ ई० में अलेक्सिस की मृत्यु हो गयी।

जार थियोडोर (Tsar Theodore, 1676—1682) :

जार थियोडोर अपने पिता अलेक्सिस की मृत्यु के बाद सन् १६७६ ई० में रूस के सिंहासत पर बैठा। थियोडोर के काल में कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं हुई। सन् १६८२ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

इवान पंचम एवं पीटर प्रथम (Ivan V and Peter I, 1682-1688) :

इवान पंचम एवं पीटर प्रथम संयुक्त रूप से सिंहासनारूढ़ हुए। अल्पायु होने के कारण उनकी बहन सोफिया संरक्षिक बनी। इस प्रकार रूस के शासन की बागडोर संरक्षिका सोफिया के हाथों में रही। सन् १६८९ ई० में पीटर ने सोफिया के हाथों से शासन की सम्पूर्ण शक्ति स्वयं ग्रहण कर ली।

पीटर महान्

(Peter the Great 1682-1725)

प्रारम्भिक जीवन एवं राज्यारोहण :

पीटर का जन्म सन् १६७२ ई० में क्रेमलिन नगर में हुआ था। बाल्य-काल से कला विज्ञान, शासन-पद्धति, सैन्य संगठन एवं प्रशिक्षण में उसकी विशेष रुचि थी। सन् १६८२ ई० में १० वर्ष की अल्पायु में वह अपनी बहन सोफिया के संरक्षण में अपने भाई इवान के साथ संयुक्त रूप से सिंहासन पर बैठा। इस प्रकार सन् १६८२ ई० से सन् १६८९ ई० तक शासन की बागडोर वास्तव में उसकी बहन सोफिया के हाथों में ही रही और वही शासन की संचालक थी। सन् १६८९ ई० में १७ वर्ष की आयु में पीटर ने सोफिया के हाथों से प्रशासन की सम्पूर्ण शक्ति अपने हाथों में ले ली तथा उसे एक मठ में भेज दिया। पीटर के राज्यारोहण के समय देश की दशा बड़ी शोचनीय थी। यूरोप के साथ उसका कोई सम्पर्क न था तथा एशिया में भी उसका कोई स्थान न था। इस प्रकार रूस एक पृथक देश की भाँति था। रूस के लोग ग्रीक अथवा पूर्वी चर्च के मानने वाले थे। उनकी वेश-भूषा तथा रहन-सहन एशिया के लोगों और विशेषकर चीनियों की तरह था। उसके सैनिक यूरोप की सेनाओं की तुलना में बेकार थे। देश में राज संरक्षक जिसे 'स्ट्रेल्सी' तथा धर्माधीश जिसे 'पैट्रिआर्क' (Patriarch) कहते थे, बड़ी शक्ति रखते थे। वे प्रशासन में सदैव बाधा उत्पन्न करते थे।

सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात् उसका सर्वप्रमुख उद्देश्य राजा की शक्ति के मार्ग की बाधाओं का अन्त करना था। दूसरे, वह रूस का यूरोप के प्रगतिशील देशों के साथ सम्पर्क स्थापित करना चाहता था। उसका तीसरा प्रमुख उद्देश्य दक्षिण एवं पश्चिम में रूस की सीमा का विस्तार करना था। अपने शासन के सम्पूर्ण काल में पीटर इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयास करता रहा।

गृह नीति :

पीटर की गृह नीति का सर्व प्रमुख उद्देश्य रूस में एक शक्तिशाली एवं निरंकुश जारशाही की स्थापना करना था। उसके इस उद्देश्व की पूर्ति में तीन बाधाएँ थीं—पहला स्ट्रेल्सी नामक अंगरक्षक दल, दूसरा बोयर नामक सामान्तीय सभा तथा तीसरा रूढ़िवादी रूसी चर्च।

(i) **स्ट्रेल्सी का दमन** (Streltsi)—पीटर ने सर्व प्रथम स्ट्रेल्सी का दमन किया। सन् १६९७ ई० में पीटर ने यूरोप के अनेक ईसाई राज्यों का भ्रमण किया। इस यात्रा का उद्देश्य तुर्कों के विरुद्ध सहायता प्राप्त करना तथा रूस का पश्चिमी यूरोप के साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करना था। रूस में पीटर की अनुपस्थिति से लाभ उठा कर उसके 'स्ट्रेल्सी' (Streltsi) नामक अंग रक्षकों ने मास्को में विद्रोह कर दिया। इनका विद्रोह विदेशियों को रूस से निष्कासित करना तथा पीटर के स्थान पर सोफिया की संरक्षता में उसके अल्पवयस्क पुत्र अलेक्सिस को सिंहासन पर बैठाना था। इस विद्रोह की सूचना पाते ही पीटर रूस लौटा और बड़ी निर्दयतापूर्वक उसने विद्रोहियों का अन्त कर दिया तथा अनेक विद्रोहियों की हत्या कर दी गयी। इस प्रकार पीटर मे अंग-रक्षक दल को नष्ट और उसके स्थान पर एक शाही सेना का गठन किया। इस प्रकार निरंकुश जारशाही के मार्ग की पहली प्रमुख बाधा का अन्त हो गया।

(ii) **बोयर** (Boyars) **का दमन**—उसके मार्ग की दूसरी बाधा 'बोयर' (Boyars) नामक रूसी सामन्तीय सभा थी। ये सामन्त बड़े रूढ़िवादी तथा प्रतिक्रियावादी थे तथा पीटर के यूरोपीयकरण की नीति से असन्तुष्ट थे। प्रशासन में इनका काफी हस्तक्षेप था। अतः पीटर ने इन सामन्तों की शक्ति को सीमित करने का निश्चय किया। इस सभा के स्थान पर उसने एक 'सलाहकारी समिति' का निर्माण किया जिसका कार्य राजा को केवल सलाह देना ही था। इसके सदस्यों की नियुक्ति पीटर के हाथों में थी। इस प्रकार पीटर ने सामन्तीय सभा के स्थान पर एक ऐसी समिति का गठन किया जिसके सदस्य उसके प्रति पूर्ण भक्ति रखते थे।

(iii) **रूढ़िवादी रूसी चर्च** (Orthodox Russian Church)—इसके पश्चात् पीटर के समक्ष तीसरी प्रमुख समस्या रूढ़िवादी शक्तिशाली रूसी चर्च की थी। सन् १६९७ ई० में स्ट्रेल्सी के विद्रोह में चर्च के पदाधिकारियों ने भाग लिया था। वह रूसी चर्च की सहायता एवं मित्रता चाहता था। साथ ही वह प्रशासन को चर्च के प्रभाव से भी अलग रखना चाहता था। वह रूसी चर्च को निरंकुश राजतन्त्र का एक साधन बनाना चाहता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पीटर ने रूसी चर्च

के प्रति अपनी आस्था दिखाई तथा रूसी नास्तिकों का क्रूर दमन किया। दूसरी ओर उसने रूस के रूढ़िवादी चर्च को अपने नियन्त्रण में कर लिया। सन् १७०० ई० में रूसी चर्च के प्रधान (Patriarch) की मृत्योपरान्त उसने किसी को इस पद पर नियुक्त नहीं किया। उसके स्थान पर उसने एक धार्मिक समिति (Holy Synod) की स्थापना की। इस समिति को धर्म सम्बन्धी कार्य, चर्च के कर्मचारियों की नियुक्ति तथा सभी पुस्तकों के प्रकाशन पर नियन्त्रण आदि के अधिकार प्राप्त थे। सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार पीटर के हाथों में था। इस प्रकार पीटर रूढ़िवादी रूसी चर्च का प्रधान हो गया। पीटर ने जारशाही की शक्ति की अभिवृद्धि के लिए रूसी चर्च का समर्थन किया। इससे पीटर के मार्ग की तीसरी बाधा का भी अन्त हो गया और रूस में संगठित तथा निरंकुश जारशाही की स्थापना हुई।

(iv) **शासन पद्धति में सुधार**—पीटर ने रूस की शासन-व्यवस्था के सुधार की ओर भी अपना ध्यान दिया। उसने स्वीडेन की भाँति रूस में एक नौकरशाही की स्थापना की। प्रशासन के लिए उसने एक "सीनेट" का गठन किया जिसके सदस्य उसी के द्वारा नियुक्त होते थे। यद्यपि इसका अधिकार क्षेत्र विस्तृत था किन्तु उसे कानून बनाने का अधिकार नहीं था। उसने सम्पूर्ण शासन को प्रान्तों (Guberni) में विभक्त किया। प्रान्तीय प्रशासन की व्यवस्था गवर्नर द्वारा होती थी तथा गवर्नरों की नियुक्ति जार स्वयं करता था। राजकीय कर्मचारियों की नियुक्ति, उन्नति तथा अवनति सब जार के ही हाथों में थी। भ्रष्ट एवं घूसखोर अधिकारियों को कठोर दण्ड दिया गया। पीटर ने स्थानीय शासन को कोई महत्व नहीं दिया।

(v) **आर्थिक सुधार**—पीटर ने रूस के आर्थिक विकास की ओर भी अपना ध्यान आकर्षित किया। उसने कृषि को उन्नतिशील बनाने के लिए अनेक सुधार किये। जमींदारों को अपनी जागीर में प्राकृतिक साधनों का विकास करने के लिये प्रोत्साहित किया गया। कृषि के उपकरणों को सुधारा गया। दक्षिण-पूर्व में अंगूर, शहतूत और तम्बाकू के पौधों का उत्पादन आरम्भ किया गया तथा पशुओं की नस्ल सुधारने के प्रयास किये गये। पीटर ने अनेक देशों की यात्रा की थी। उसने वहाँ रहकर विभिन्न व्यवसायों एवं उद्योगों के बारे में जानकारी ग्रहण की। तत्पश्चात् विदेश से लौटने के बाद उसने अपने देश में विभिन्न उद्योगों एवं व्यवसायों को बढ़ावा दिया। वह अपने साथ विभिन्न व्यवसाय के लोगों को रूस लाया था जिनसे अपने देश वासियों को प्रशिक्षित कराने का प्रयास। उसके इन प्रयासों के फलस्वरूप रूस में नये उद्योगों की स्थापना हुई तथा पुराने उद्योगों को विकसित किया गया। व्यापार एवं वाणिज्य के लिए अनेक कम्पनियाँ भी स्थापित की गयीं तथा यूरोप के अनेक देशों के साथ व्यापारिक सन्धियाँ भी की गयीं।

(vi) **सामाजिक सुधार**—पीटर रूसियो के सामाजिक जीवन में भी सुधार चाहता था। वह रूसी रहन-सहन तथा सामाजिक जीवन का यूरोपीयकरण करना चाहता था। क्योंकि अभी रूसी लोगों का सामाजिक जीवन तथा रहन-सहन एशियाइयों जैसा ही था। रूसियों का पहनावा पूर्वी लोगों की भाँति था। उच्च परिवार की रूसी स्त्रियों में पर्दा प्रथा थी। उच्च वर्ग के पुरुष दाढ़ी रखते थे तथा हुक्का भी पीते थे। पीटर उनके इस सामाजिक जीवन में आमूल परिवर्तन करना चाहता था। उसने रूसियों को दाढ़ी मुड़वाने का आदेश दिया तथा जो दाढ़ी रखना चाहता थे उन्हें राज्य को कर देना पड़ता था। उसने यूरोपीय ढंग की वेशभूषा तथा धूम्र-पान पर भी बल दिया। उसने स्त्रियों में पर्दा प्रथा को भी समाप्त करने का प्रयास किया। उसने दरबार में पश्चिमी ढंग पर नाच-गाने पर भी विशेष बल दिया। उसने रूस में भी 'जूलियन कैलेण्डर' का प्रचलन किया जिससे वर्ष का प्रारम्भ पहली सितम्बर के स्थान पर पहली जनवरी से होने लगा। पीटर ने शिक्षा पर भी विशेष ध्यान किया तथा कुलीनों के लिए किसी एक यूरोपीय भाषा का जानना आवश्यक कर दिया गया। शिक्षा के विकास के लिए उसने अनेक स्कूल खुलवाये जहाँ प्राविधिक शिक्षा भी प्रदान की जाती थी। रूस में विज्ञान की प्रगति के लिए सन् १७२४ ई० में एक 'विज्ञान संस्थान' की स्थापना हुई। पाश्चात्य देशों से सम्पर्क स्थापित करने के उद्देश्य से सन् १७०३ ई० में उसने सेवा नदी के तट पर सेन्ट पीटर्सबर्ग नामक नगर की स्थापना की जो उसके साम्राज्य की नवीन राजधानी बनी। बड़े-बड़े जमींदारों को वहाँ एक-एक घर बनवाना आवश्यक हो गया। इस प्रकार मास्को के स्थान पर सेन्ट पीटर्सबर्ग की महत्ता बढ़ने लगी तथा वहाँ से पश्चिमी प्रभावों का प्रसार रूस में किया गया जिनका पीटर स्वयं बड़ा व्याख्याता था। उसकी रूस के आधुनिककरण की नीति काफी अंश तक सफल सिद्ध हुई।

पीटर की वैदेशिक नीति :

पीटर की वैदेशिक नीति का प्रमुख उद्देश्य रूस के लिए पश्चिम की ओर 'खुली खिड़की' अथवा समुद्र तट प्राप्त करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए टर्की एवं स्वीडेन से युद्ध अवश्यम्भावी था क्योंकि रूस की सीमायें इन दोनों राज्यों की सीमाओं द्वारा घिरी हुई थीं। रूस के पास कोई ऐसा बन्दरगाह नहीं था जिसका साल भर प्रयोग किया जा सके। उसके पास यद्यपि एक बन्दरगाह था किन्तु वह वर्ष में कुछ महीने बर्फ से ढका रहता था। अतः ऐसी परिस्थिति में रूस को एक ऐसे बन्दरगाह की बहुत आवश्यकता थी जिसका वह बारह महीनों उपयोग कर सके। यदि रूस बाल्टिक सागर की ओर बढ़ता तो उसका स्वीडेन से युद्ध अवश्यम्भावी था तथा काले

सागर की ओर बढ़ने पर उसका टर्की से युद्ध अनिवार्य था। पीटर ने सन् १६९५ ई० में टर्की से अजोव (Azov) का बन्दरगाह लेने का प्रयास किया और उसने उस पर अधिकार भी कर लिया था किन्तु शीघ्र ही तुर्कों ने पुनः अजोव पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

सन् १६९७ ई० में स्वीडेन के राजा चार्ल्स एकादश की मृत्यु हो गयी और उसके स्थान पर चार्ल्स द्वादश स्वीडेन का राजा बना। वह केवल १५ वर्ष का था। अतः पीटर ने बाल्टिक सागर की ओर 'खुली खिड़की' प्राप्त करने का यह एक उपयुक्त अवसर समझा। पीटर का यह विश्वास था कि वह अल्पवयस्क राजा स्वीडेन के साम्राज्य की रक्षा में सफल न होगा। इस उद्देश्य से सन् १६९९ ई० मे रूस, डेनमार्क तथा पोलैण्ड ने स्वीडेन के विरुद्ध एक संघ का निर्माण किया। इन लोगों की योजना स्वीडेन पर चारों ओर से आक्रमण करना था। किन्तु चार्ल्स द्वादश ने बड़ी सफलतापूर्वक एक-एक करके अपने शत्रुओं को पराजित किया। सन् १७०० ई० में चार्ल्स द्वादश ने डेनमार्क पर एक विशाल सेना के साथ आक्रमण कर दिया और उसे बुरी तरह पराजित कर सन्धि करने तथा संघ से अलग होने के लिए विवश किया। इसके पश्चात् शीघ्र ही चार्ल्स ने नारवा (Narva) के युद्ध में रूस को भी पराजित किया। रूस को पराजित करने के पश्चात् चार्ल्स द्वादश की सेनाएँ पोलैण्ड की ओर बढ़ीं और पोलैण्ड की सेना को भी उसने बुरी तरह परास्त किया। इतना ही नहीं चार्ल्स ने पोलैण्ड के राजा आगस्टस को अपदस्थ कर उसके स्थान पर स्टेनिसलास को पोलैण्ड के सिंहासन पर आसीन दिया।

इस प्रकार चार्ल्स द्वादश ने लगभग अपने सभी शत्रुओं को पराजित कर दिया। किन्तु निरंतर युद्धों के कारण स्वीडेन की दशा अस्त-व्यस्त हो गयी थी। जब चार्ल्स सैक्सनी के विरुद्ध युद्धों में व्यस्त था, पीटर ने अवसर से लाभ उठा कर इन्ग्रिया तथा करेलिया पर अधिकार कर लिया। चार्ल्स को जब इसकी सूचना मिली तो उसने रूस को पुनः पराजित करने के लिए प्रस्थान किया। इस बार उसने सीधे मास्को पर आक्रमण करने का निश्चय किया। किन्तु रूसी ठण्ड तथा रसद की कमी के कारण चार्ल्स का यह अभियान बड़ा कष्टदायक सिद्ध हुआ। सन् १७०९ ई० में पोल्टावा के युद्ध में पीटर ने चार्ल्स द्वादश की सेना को पराजित कर उसकी सैनिक शक्ति को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। चार्ल्स द्वादश बचे हुए कुछ सैनिकों को लेकर दक्षिण की ओर भाग निकला तथा टर्की में शरण ली। अंत में अनेक कठिनाइयों के पश्चात् वह स्वदेश पहुँचा।

अब चार्ल्स द्वादश ने टर्की के सुल्तान को रूस के विरुद्ध युद्ध के लिए उत्तेजित किया। अतः टर्की तथा रूस में पुनः युद्ध प्रारम्भ हो गया। सन १७११ ई० में टर्की तथा रूस के मध्य 'प्रूथ की सन्धि' (Treaty of Pruth) हुई जिसके अनुसार रूस ने टर्की को अजोव दे दिया। स्वीडेन पहुँचने के पश्चात् चार्ल्स द्वादश ने रूस से पुनः युद्ध करने का निश्चय किया। किन्तु इस समय स्वीडेन के विरुद्ध अनेक देश हो गये थे। रूस, डेनमार्क, इंग्लैण्ड तथा प्रशा आदि ने मिलकर स्वीडेन के विरुद्ध एक संघ का निर्माण किया। किन्तु चार्ल्स द्वादश दृढ़-प्रतिज्ञ और विचलित होने वाला व्यक्ति न था। सन १७१८ ई० में उसने नारवे पर आक्रमण कर उस पर घेरा डाल दिया। इसी समय एक गोली लग जाने से चार्ल्स द्वादश की मृत्यु हो गयी। सन् १७१८ में स्वीडेन तथा रूस के मध्य 'निस्टाड की सन्धि' (Treaty of Nystad) हुई जिसके अनुसार रूस को एस्थोनिया, लिबोनिया, इन्ग्रिया तथा करेलिया के प्रदेश प्राप्त हुए इसके अतिरिक्त रूस को फिनलैण्ड का दक्षिणी तट भी प्राप्त हुआ। इस प्रकार पीटर महान ने स्वोडेन को पराजित कर पश्चिम की ओर 'खुली खिड़की' प्राप्त कर ली। तथापि वह काले सागर में तुर्कों से 'खुली खिड़की' न प्राप्त कर सका। सन् १७२५ ई० में पीटर महान की मृत्यु हो गई। वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सफल रहा था और सन् १७२५ ई० में उसकी मृत्यु के समय रूस का यूरोपीय राजनीति में एक महत्वपूर्ण स्थान स्थापित हो गया था।

मूल्यांकन :

पीटर के सुधार किसी समान्वित नीति के परिणाम न थे जिन्हें एकदम लागू कर दिया गया हो वरन् शीघ्रता में बनाये गये नियमों की एक शृंखला थी जो कभी अपने उद्देश्य को ही विफल करते थे; किन्तु अन्ततोगत्वा वे रूस को यूरोपीय ढंग का शक्तिशाली सैनिक राज्य बनाने में सफल रहे। इन परिवर्तनों का प्रभाव जनता के एक छोटे से वर्ग पर पड़ा क्योंकि वह प्रायः प्रशासनिक वर्गों तक सीमित रहा। ये प्रभाव संक्षेप में इस प्रकार हैं—प्रथमतः एक विशेषाधिकार युक्त प्रतिष्ठित वर्ग तैयार किया गया जिसमें असैनिक पद क्रमबद्ध रूप से सैनिक पदों के सदृश्य रखे गये। दूसरे, राजकोषीय प्रशासन में स्थानीय निकायों का सहयोग प्राप्त करने के लिये नगर-विकास की आवश्यकता हुई जिन्हें वह अपनी आर्थिक योजनाओं में भागी समझता था। तीसरे, युवकों को शिक्षा प्राप्त करने के लिये विदेशों में भेजने की प्रथा से एक उदार जातीयता विहीन और कभी-कभी बुद्धिमान व्यक्तियों का उदय हुआ। किन्तु एक राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली की स्थापना हेतु मठों के स्कूलों के कार्यों की अनुपूर्ति नहीं की गई। अंत में किसानों को दासों की स्थिति में ढकेल दिया गया। यद्यपि पीटर का

यह मन्तव्य न था परन्तु यह इस कारण हुआ कि राज्य ने जमींदार एवं किसान के सम्बन्धों में हस्तक्षेप करना बंद कर दिया। यद्यपि इसका पीटर के सुधारों से आंशिक रूप से सम्बन्ध था किन्तु भविष्य में यह रूस के इतिहास में सर्वाधिक दुःखद तत्व सिद्ध हुआ।

पीटर महान् के उत्तराधिकारी

(Successors of Peter the Great, 1725—1762)

पीटर महान् के पश्चात् उसकी पत्नी महारानी कैथरीन प्रथम (Cathrine I, 1725—1727) रूस की शासिका बनी। उसने सन् १७२६ ई० में आस्ट्रिया के साथ एक रक्षात्मक सन्धि की जिसके अनुसार दोनों ने एक दूसरे पर आक्रमण होने की दशा में परस्पर सैनिक सहायता का वचन दिया।

उसके पश्चात् पीटर का पौत्र पीटर द्वितीय (Peter II, 1727—1730) रूस का जार बना। इसके काल में सामन्तों की शक्ति पुनः बढ़ने लगी और उन्होंने यूरोपीयकरण की नीति का विरोध आरम्भ किया। पीटर द्वितीय की मृत्योपरान्त पीटर महान् के बड़े भाई इवान की पुत्री एन (Anne, 1730—1740) उसकी उत्तराधिकारिणी बनी। उसने सामन्तों की शक्ति को सीमित कर उन्हें जरशाही के नियन्त्रण में रखने का प्रयास किया। इसके काल में रूस एवं टर्की युद्ध (सन् १७३६—१७३९ ई०) हुआ। सन् १७३९ ई० में रूस ने टर्की से बेलग्रेड की सन्धि कर ली जिसके अनुसार रूस को अजोव मिल गया किन्तु उसे काले सागर में अपनी सेना रखने का अधिकार न प्राप्त हुआ। जारिना एन के पश्चात् उसका पुत्र इवान षष्टम (Ivan VI, 1740—41) रूस का जार बना। सन् १७४१ ई० में रूस में क्रान्ति हुई तथा इवान षष्टम को हटाकर उसके स्थान पर पीटर महान् की छोटी पुत्री एलिजाबेथ को सिंहासनारूढ़ किया गया। उसने रूस पर सन् १७४१ से १७६२ ई० तक राज्य किया। उसने यूरोप के अनेक देशों जैसे आस्ट्रिया, इंग्लैण्ड तथा सैक्सनी आदि से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये। उसने आस्ट्रिया के उत्तराधिकार युद्ध (सन् १७४०—१७४८ ई०) में आस्ट्रिया की सैनिक सहायता की। इस युद्ध का अन्त सन् १७४८ ई० में ए-ला-शैपल की सन्धि (Treaty of Aix-La-Chapelle) द्वारा हुआ। इस सन्धि के द्वारा रूस के गौरव और प्रतिष्ठा में काफी वृद्धि हुई। एलिजाबेथ की मृत्यु (सन् १७६२ ई०) के पश्चात् एन का पुत्र पीटर तृतीय सिंहासनारूढ़ हुआ। वह प्रशा के फ्रेडरिक महान् का प्रशंसक था। अतएव उसने प्रशा से सन्धि की तथा उसके विरुद्ध अपनी सेनाएँ वापस बुला लीं। पीटर तृतीय अपने इस कार्य से काफी अलोकप्रिय हो गया क्योंकि उसके इस कार्य को रूसियों ने

आत्म-समर्पण तथा अपमानजनक समझा। पीटर तृतीय की पत्नी ने उसकी अलोकप्रियता से लाभ उठाकर उसके विरुद्ध एक षडयन्त्र रचा ओर उसे सिंहासन से हटा कर स्वयं सिंहासनारूढ़ हो गयी।

कैथरीन द्वितीय

(Catherine II, 1762—1796)

आरम्भिक जीवन तथा सिंहासनारोहण :

कैथरीन द्वितीय इतिहास में 'कैथरीन महान' के नाम से भी प्रसिद्ध है। वह जन्म से एक जर्मन थी। किन्तु विवाह के पश्चात् उसने पूर्ण रूप से रूसी जीवन एवं रहन-सहन अपना लिया था। सन् १७६२ ई० में अपने पति की अलोकप्रियता से लाभ उठा कर उसने उसके विरुद्ध एक षडयन्त्र रचा और उसे अपदस्थ कर रूस के सिंहासन पर स्वयं आरूढ हो गयी। सिंहासनारोहण के पश्चात् उसने पीटर महान की नीतियों का अनुसरण किया।

गृह नीति :

कैथरीन महान् ने गृह नीति से सम्बन्ध में पीटर महान् की नीति अपनायी। उसमें प्रशासन के अनेक गुण विद्यमान थे। उसने प्रशासन के क्षेत्र में लोगों को योग्यता पर बल दिया। उसने राष्ट्रीयता अथवा जातीय भेदभाव का ध्यान न कर लोगों को योग्यता के अनुसार उन्हें प्रशासन में पद प्रदान किये। प्रशासन के क्षेत्र में वह निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी थी। इसके सम्बन्ध में उसकी आलोचना करते हुए दीदरो लिखता है कि कैथरीन का यह विचार था कि रूस की तत्कालीन परिस्थिति में केवल स्वेच्छाचारी शासन ही उपयुक्त था। कैथरीन ने प्रशासन के क्षेत्र में अनेक सुधार किये। उसने सन् १७६६ ई० में मास्को में रूसी कानून संहिता तथा व्यवस्थापिका आयोग (Legislative Commission) का गठन किया। इसमें ६५० सदस्य थे जो विभिन्न वर्गों एवं राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। इस आयोग का अधिबेशन दीर्घकाल तक चला। इसके अधिकांश अधिवेशनों में उसने स्वयं भाग लिया। इस आयोग ने प्रशासन के सम्बन्ध में अनेक सुझाव दिये। स्थानीय प्रशासन में सुधार किया गया। उसने प्रान्त तथा जिलों का पुनर्गठन किया और वहाँ के प्रशासन के लिए अधिकारियों की नियुक्तियाँ की। उसने चर्च की समस्त भूमि को राज्य के आधीन कर लिया।

कैथरीन महान् ने रूस की कृषि व्यवस्था की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। यही कारण था कि उसके काल में कृषकों ने अनेक बार विद्रोह किया। किन्तु उसने सुधार के लिए कोई प्रयास न किया वरन् शक्ति द्वारा उसको शान्त कर दिया।

उसके समय में जमींदारो की शक्ति में काफी वृद्धि हुई तथा उन्होंने कृषकों का अधिकाधिक शोषण किया। परन्तु उसने रूस के व्यापार एवं व्यवसाय को काफी प्रोत्साहन प्रदान किया। उसके काल में रूस के उद्योग-धन्धों में काफी प्रगति हुई। रूस में अनेक कारखाने खोले गये। उसने स्वतन्त्र व्यापार की नीति (Laissezfaire) का अनुसरण किया और व्यापार पर से सभी प्रतिबन्ध हटा दिये। वाणिज्य के विकास के लिए उसने बन्दगाह् को नगरों से मिलाने वाली बहुत सी नहरों का निर्माण करवाया।

कैथरीन का जन्म जर्मनी में होने के कारण पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति से उसे बहुत प्रेम था। यही कारण था कि वह पाश्चात्य संस्कृति को रूस में भी लाना चाहती थी। उसने पीटर महान् की भाँति रूस का पाश्चात्यीकरण करने का प्रयास किया। उसने बर्लिन तथा पेरिस की भाँति अपने दरबार तथा दरबारियों के जीवन को परिवर्तित करना चाहा। अपने राज-दरबार में उसने फ्रांसीसी भाषा को विशेष स्थान दिया। उसका फ्रांसीसी लेखकों के साथ पत्र व्यवहार भी था। उसने सामन्तों को फ्रांसीसी बेशभूषा तथा रीति-रिवाज अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया। शिक्षा की ओर भी कैथरीन ने ध्यान दिया तथा रूस में यूरोपीय ढंग के कालेज तथा विश्वविद्यालय स्थापित किये। उसने स्त्री-शिक्षा पर भी बल दिया। उसने सामन्तों एवं उच्च वर्ग की पुत्रियों के लिए अनेक 'सोसाइटियों' की स्थापना की जिससे उनका पाश्चात्यीकरण हो सके।

वैदेशिक नीति :

कैथरीन ने वैदेक्षिक नीति के क्षेत्र में पीटर महान् की नीति का अनुसरण किया। पीटर ने स्वीडेन को पराजित कर बाल्टिक सागर की ओर 'खुली खिड़की' प्राप्त कर ली थी किन्तु पश्चिमी यूरोप से सम्पर्क स्थापित करने के मार्ग में पोलैण्ड तथा टर्की अभी बाधक बने हुए थे। इस प्रकार काले सागर तथा भूमध्य सागर में रूसी प्रभाव स्थापित करने के लिए क्रमशः टर्की तथा पोलैण्ड से युद्ध अवश्यम्भावी था। अतः कैथरीन महान् की वैदेशिक नीति का प्रमुख उद्देश्य पोलैण्ड तथा टर्की को पराजित करना था। रूस के इस बढ़ते हुए प्रभाव से प्रशा तथा आस्ट्रिया की विस्तार योजना को खतरा उत्पन्न हो गया था। ऐसी परिस्थिति में फ्रांस ने स्वीडेन, पोलैण्ड तथा टर्की से मिलकर रूस के बढ़ते हुए प्रभाव को नियन्त्रित करने का प्रयास किया। कैथरीन महान् ने बड़ी सफलतापूर्वक रूस की वैदेशिक नीति का संचालन कर रूस की सीमाओं का बिस्तार किया।

(i) **पोलैण्ड के प्रति नीति**—रूस के सिंहासन पर बैठते ही कैथरीन ने प्रशा के

साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये। वह प्रशा के साथ मिलकर पोलैण्ड का विभाजन कर उस पर अधिकार करना चाहती थी। सन् १७६३ ई० मे पोलैण्ड के राजा आगस्टस तृतीय की मृत्यु हो गयी। इस पर कैथरीन को पोलैण्ड में हस्तक्षेप करने का अच्छा अवसर मिला। कैथरीन महान तथा फ्रेडरिक महान ने स्टैनसलास को पोलैण्ड के राजा के रूप में स्वीकार किया। फ्रांस तथा आस्ट्रिया इससे असंतुष्ट थे और वे स्वतन्त्र चुनाव द्वारा इसका निर्णय चाहते थे। किन्तु रूस तथा प्रशा की संयुक्त शक्ति के सामने उन्हें कुछ करने का साहस न हुआ। यही कारण था कि पोलैण्ड की ससद ने भी सन् १७६४ ई० में स्टेनिसलास को पोलैण्ड के शासक के रूप मे स्वीकार कर लिया। इससे पोलैण्ड में रूस की प्रधानता स्थापित हो गयी। विदेशी प्रभाव को समाप्त करने के लिए पोलैण्ड के कैथोलिको ने एक संघ बनाया और विद्रोह कर दिया। किन्तु रूसी सेनाओं ने विद्रोहियों का दमन किया और कुछ विद्रोहियो का पीछा करते हुए वह सेना टर्की की सीमा में भी प्रवेश कर गई जिसके फलस्वरूप टर्की ने रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

(ii) **टर्की से प्रथम युद्ध (सन् १७६८-१७७४ ई०)**—रूस तथा टर्की का यह युद्ध सन् १७६८ ई० में प्रारम्भ हुआ क्योंकि पौलैण्ड के विद्रोहियों का पीछा करती हुई रूसी सेना टर्की की सीमा में प्रविष्ट हो गई थी। इस कारण टर्की ने रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी थी। यद्यपि कैथरीन ने अपने सैनिकों के कार्य के लिए टर्की के सुल्तान से क्षमा भी माँगी थी किन्तु फ्रांस के उकसाने पर टर्की ने युद्ध की घोषणा कर दी और उसने पोलैण्ड के विद्रोहियों को समर्थन भी प्रदान किया। यह युद्ध सन् १७६८ ई० से सन् १७७४ ई० तक चला और इसने तुर्की की निर्बलता को यूरोप के समक्ष स्पष्ट कर दिया। रूसी सेना ने अजोव, माल्डेविया, बुखारेस्ट आदि स्थानों पर अधिकार कर लिया। कैथरीन के उकसाने पर यूनानियों ने भी टर्की के सुल्तान के विरुद्ध आक्रमण कर दिया। अब रूस ने तुर्कों को बुरी तरह पराजित किया जिससे यूरोप की "शक्ति संतुलन" को बनाये रखने के लिए आस्ट्रिया ने टर्की की ओर से हस्तक्षेप करने का निश्चय किया। किन्तु प्रशा के फ्रेडरिक के प्रयासों के कारण आस्ट्रिया ने हस्तक्षेप नहीं किया। इस युद्ध का अन्त सन् १७७४ ई० में 'कुचुक कैनारजी की सन्धि' (Treaty of Kuchuk Kainardji) द्वारा हुआ। इस सन्धि के अनुसार आजोव का बन्दरगाह रूस को प्राप्त हुआ तथा काले सागर के उत्तर के सभी प्रान्त टर्की की सत्ता से मुक्त कर दिये गये। दूसरे, टर्की को माल्डेविया और यूनान वापस मिल गये किन्तु सुल्तान ने इन प्रदेशों के समुचित शासन-व्यवस्था का आश्वासन दिया। तीसरे, रूस को काले सागर में जहाजरानी का पूर्ण अधिकार मिला तथा टर्की के बन्दरगाहों के प्रयोग की सुविधा भी प्रदान की गयी। इसके अतिरिक्त

रूस को कुस्तुनतुनियाँ के कुछ ईसाई गिरजाघरों का संरक्षण प्रदान किया तथा रूसी ईसाइयों को जेरुसलम की तीर्थ-यात्रा करने तथा धार्मिक कार्यों के सम्पन्न करने की सुविधा प्राप्त हुई। इस सन्धि से रूस की प्रतिष्ठा में काफी वृद्धि हुई।

(iii) **टर्की से द्वितीय युद्ध (सन् १७८७ ई०-१७६२ ई०)**—कैथरीन महान् अभी अपनी उपलब्धियों से सन्तुष्ट न थी। वह टर्की को यूरोप के मानचित्र से पूर्णतया मिटा देना चाहती थी तथा उसके क्षेत्र को रूस में मिलाना चाहती थी। इस उद्देश्य से उसने सन् १७८१ ई० में आस्ट्रिया के सम्राट जोजेफ द्वितीय के साथ एक सन्धि की। इस सन्धि के द्वारा आस्ट्रिया ने रूस का विरोध न करने और उस पर टर्की द्वारा आक्रमण करने की दशा में सहायता का वचन दिया। अब कैथरीन ने काले सागर के उत्तर में स्थित सभी प्रदेशों पर अधिकार कर लिया और सन् १७८७ ई० में रूस तथा टर्की में पुनः युद्ध प्रारम्भ हो गया। इस युद्ध में आस्ट्रिया ने रूस का पक्ष लिया क्योंकि इसके बदले में उसे माल्डेविया तथा वालेखिया आदि प्रदेशों के मिलने की आशा थी। युद्ध में तुर्क बुरी तरह पराजित हुए लेकिन इग्लैण्ड, हालैण्ड तथा प्रशा के हस्तक्षेप के कारण टर्की विनाश से बच गया। अन्त में सन् १७६२ ई० में 'जेसी की सन्धि' (Treaty of Jassy) हो गई जिसके द्वारा टर्की ने क्रीमिया पर रूस के अधिकार को स्वीकार कर लिया। इसके अतिरिक्त इस सन्धि द्वारा 'कुचुक केनार्जी की सन्धि' की भी पुष्टि की गयी। इस प्रकार अब रूस का काले सागर में भी प्रभाव स्थापित हो गया।

(iv) **पोलैण्ड का विभाजन**—कैथरीन की दृष्टि पोलैण्ड पर प्रारम्भ से ही थी। अतः सन् १७७२ ई० में उसने फ्रेडरिक महान् तथा आस्ट्रिया की मेरिया थेरेसा से पोलैण्ड के विभाजन के सम्बन्ध में बातचीत प्रारम्भ की। तीनों के मध्य पौलैण्ड के विभाजन के सम्बन्ध में सन्धि हो गयी जिसके अनुसार प्रशा को डेन्जिग (Danzig) तथा थार्न (Thorn) के नगरों को छोड़ कर पश्चिम के सभी क्षेत्र मिलते, आस्ट्रिया को गैलेशिया तथा उसके निकटवर्ती समस्त क्षेत्र प्राप्त होते और पोलैण्ड को पूर्वी भाग तथा 'श्वेत रूस' प्रदान किया जाता। सन् १७७३ ई० में पोलैण्ड की संसद को घूस देकर प्रथम विभाजन की स्वीकृति प्राप्त कर ली गयी।

पोलैण्ड के प्रथम विभाजन के पश्चात् पौलैण्ड के लोगों में जागरण हुआ। राजा स्टेनिसलास ने उनके आन्दोलन का नेतृत्व किया और वहाँ संवैधानिक शासन की स्थापना का प्रयास किया। अतः सन् १७६१ ई० में कैथरीन ने पोलैण्ड पर आक्रमण की घोषणा कर दी। यद्यपि पोलैण्डवासी वीरतापूर्वक लड़े किन्तु पराजित हुए। सन् १७६३ ई० में प्रशा तथा रूस ने पोलैण्ड का दूसरा विभाजन किया। इस विभा-

जन में रूस को पूर्वी पोलैण्ड तथा प्रशा को डेन्जिग, थार्न एवं पोसेन आदि प्रदेश प्रदान मिये गये। किन्तु इस विभाजन में आस्ट्रिया को कुछ न दिया गया।

पोलैण्ड के द्वितीय विभाजन के पश्चात् पोलैण्डवासियों ने स्वतन्त्रता का प्रयास प्रारम्भ किया और सन् १७६४ ई० में उन्होंने विद्रोह कर दिया। किन्तु रूसी सेना ने उनका बुरी तरह दमन कर दिया। इस प्रकार सन् १७६५ ई० मे पोलैण्ड का तीसरा विभाजन हुआ। इस विभाजन के अनुसार पोलैण्ड को रूस, आस्ट्रिया तथा प्रशा के मध्य विभाजित कर दिया गया। पोलैण्ड का अधिकांश भाग रूस तथा प्रशा को प्राप्त हुआ। इस प्रकार कैथरीन महान् अपनी पोलैण्ड सम्बन्धी नीति में काफी सफल रही और इसके द्वारा रूस की सीमा का काफी विस्तार हुआ।

●

अध्याय १३

प्रशा का उत्थान

(RISE OF PRUSSIA)

प्रशा के उत्थान का प्रारम्भ ब्रैण्डेनबर्ग के नाम से हुआ। ब्रैण्डेनबर्ग प्रारम्भ में सामन्त चौकी थी जिसे 'मार्क' (Mark) या सीमा कहते थे। इसकी स्थापना सेलवानिक तथा एल्ब (Elb) नदी के उस पार स्थित अन्य जर्मन जातियों की प्रगति को रोकने के लिये किया गया था। आस्केनियन (Ascanian) परिवार के समय में इस प्रदेश का काफी विस्तार हुआ। किन्तु सन् १३१९ ई० में इस वंश का पतन हो गया और फिर लगभग एक शताब्दी तक वहाँ अव्यवस्था व्याप्त रही। अन्त में सन् १४१५ ई० में सम्राट् सिगिस्मण्ड (Sigismund) ने ब्रैण्डेनबर्ग के शासन का भार अपने मित्र फ्रेडरिक को दे दिया, जो होहेनजोलर्न (Hohenzollern) वंश का था। उसने ब्रैण्डेनबर्ग में अपनी तथा अपने वंश को शक्ति को सुदृढ़ करने का प्रयास किया। शीघ्र ही वहाँ होहेनजोलर्न वंश की शक्ति काफी सुदृढ़ हो गई। किन्तु अभी तक ब्रैण्डेनबर्ग का प्रशा से कोई सम्बन्ध न था। जब टेनिनबर्ग (Tanninberg) के युद्ध में पोलैण्ड ने प्रशा को पराजित कर पश्चिमी प्रशा पर अधिकार कर लिया तो ऐसी परिस्थिति में प्रशा के लोगों को सहायता की आवश्यकता हुई। अतः उन्होंने ब्रैण्डेन-बर्ग के होहेनजोलर्न वंश के अल्बर्ट (Albert) को अपना नेता चुना। इस प्रकार प्रशा में होहेनजोलर्न वंश की स्थापना हुई। अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से उसने प्रोटेस्टेण्टवाद भी स्वीकार कर लिया था।

सन् १५९८ ई० में ब्रैण्डेनबर्ग का उत्तराधिकारी जोशिम फ्रेडरिक प्रशा का भी उत्तराधिकारी बना। क्योंकि प्रशा के अल्बर्ट का कोई उत्तराधिकारी न था। इस प्रकार फ्रेडरिक ब्रैण्डेनबर्ग तथा प्रशा दोनों का उत्तराधिकारी बन गया। किन्तु इस समय भी प्रशा पोलैण्ड के आधीन था। सन् १६०९ ई० में जूलिच (Julich) क्लीव्ज (Cleves) तथा बर्ग (Berg) के ड्यूक की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकार के लिए संघर्ष प्रारम्भ हो गया। ब्रैण्डेनबर्ग के फ्रेडरिक का विवाह स्वर्गीय ड्यूक की भतीजी से हुआ था। इस आधार पर उसका अधिकांश भाग उसे प्राप्त हुआ। इस प्रकार ब्रैण्डेनबर्ग के निर्वाचक को तीन उपाधियाँ प्राप्त हो गईं क्योंकि वह ब्रैण्डेनबर्ग का निर्वाचक, क्लीव्ज का ड्यूक तथा प्रशा का ड्यूक बन गया था। तीस वर्षीय

युद्ध में ब्रैण्डेनबर्ग ने कोई महत्वपूर्ण भाग न लिया। इसका कारण यह था कि जार्ज विलियम तटस्थ रहना चाहता था। किन्तु स्वीडेन तथा आस्ट्रिया दोनों की सेनाओं ने ब्रैण्डेनबर्ग को काफी क्षति पहुँचाई। सन् १६४० ई० में जार्ज विलियम के पश्चात् फ्रेडरिक विलियम उसका उत्तराधिकारी बना।

फ्रेडरिक विलियम
(Frederick William, 1640-1688)

सन् १६४० ई० में फ्रेडरिक विलियन ब्रैण्डेनबर्ग का शासन बना। वह 'महान् निर्वाचक' (Great Elector) के नाम से विख्यात हुआ। वह योग्य, कुशल तथा दृढ़ प्रतिज्ञ था। अपने राज्य की सुदृढ़ता की ओर उसने विशेष ध्यान दिया। तीस वर्षीय युद्ध से तटस्थ होकर फ्रेडरिक विलियम ने सेना का पुनर्संगठन तथा आर्थिक क्षेत्र में अनेक सुधार किये। उसने अपनी सफल कूटनीति के कारण वेस्टफेलिया की सन्धि के द्वारा पूर्वी पामिरेनिया, मिण्डेन, मैजबर्ग आदि की बिशपरिकें प्राप्त कीं। इस सन्धि के अनुसार ब्रैण्डेनबर्ग के शासक को स्वतन्त्र रूप में स्वीकार कर लिया गया। इसके अतिरिक्त स्वीडेन तथा पोलैन्ड की शत्रुता से लाभ उठाकर फ्रेडरिक विलियम पूर्वी प्रशा पर अपना अधिकार स्थापित करने में सफल रहा। उसकी वाह्य नीति का सर्वप्रमुख उद्देश्य ब्रैण्डेनबर्ग का हित रहा। फ्रांस के राजा लुई चतुर्दश की आक्रामक नीति से सशंकित होकर फ्रेडरिक ने डचों का साथ दिया। सन् १६७५ ई० में उसने फ्रांस के सहयोग स्वीडेन को फेरबेलिन (Fehrbellin) के युद्ध में बुरी तरह पराजित किया और पश्चिमी पामिरेनिया पर अधिकार कर लिया। किन्तु डच युद्ध की समाप्ति के पश्चात् 'निमवेजिन की सन्धि' (Treaty of Nimwegen) के अनुसार उसे पश्चिमी पामिरेनिया छोड़ना पड़ा तथा इसके बदले में उसे १ लाख क्राउन युद्ध-क्षति के रूप में मिला। वह साइलेशिया पर भी अधिकार स्थापित करना चाहता था। क्योंकि साइलेशिया के कई नगरों पर होहेनजोलर्न वंश का दावा था, जो कि आस्ट्रिया के आधीन था। लुई चतुर्दश की आक्रामक नीति के भय के कारण सन् १६८६ ई० में ब्रैण्डेनबर्ग तथा आस्ट्रिया में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध हो गये। जिसके अनुसार साइलेशिया के श्वीब्स नामक नगर पर ब्रैण्डेनबर्ग का अधिकार हो गया।

फ्रेडरिक विलियम ने ब्रैण्डेनबर्ग की सर्वाङ्गीण उन्नति की ओर ध्यान दिया। आर्थिक विकास तथा कृषि उन्नति के लिए उसने अनेक नहरों का निर्माण करवाया। इसके अतिरिक्त उसने उद्योग-धन्धों को भी प्रोत्साहित किया। उसने देशीय उद्योग के विकास के लिये आयात पर चुङ्गी में वृद्धि कर दी। उसने धार्मिक सहिष्णुता की नीति का अनुसरण किया। उसने विदेशियों को बर्लिन में बसने की अनुमति दी जिससे आर्थिक एवं औद्योगिक विकास में काफी प्रगति हुई।

फ्रेडरिक प्रथम

(Frederick I, 1688—1713)

सन् १६८८ ई० में फ्रेडरिक विलियम का पुत्र फ्रेडरिक तृतीय उसका उत्तराधिकारी बना। उसमें अपने पिता के गुणों तथा शासन-सम्बन्धी योग्यता का अभाव था। किन्तु वाह्य वैभव तथा शान-शौकत में उसकी बड़ी रुचि थी और वह राजा की पदवी प्राप्त करने के लिए उत्सुक था। उसने आग्सबर्ग के संघ के युद्ध में फ्रांस के विरुद्ध मित्र देशों का साथ दिया था। किन्तु रिसविक की सन्धि (सन् १६६७ ई० में) उसे राजा की उपाधि न प्रदान की गई। तत्पश्चात् सन् १७०१ ई० में स्पेनी उत्तराधिकार के युद्ध का प्रारम्भ हुआ तो सम्राट लियोपोल्ड ने विवश होकर ब्रेण्डेनबर्ग के फ्रेडरिक तृतीय को 'प्रशा का राजा' स्वीकार किया। अब फ्रेडरिक तृतीय ने प्रशा के राजा के रूप में 'फ्रेडरिक प्रथम' को उपाधि ग्रहण की। सन् १७३३ ई० में यूट्रेक्ट की सन्धि के अनुसार यूरोपीय राष्ट्रों ने प्रशा के राजतन्त्र को स्वीकार कर लिया और 'ब्रेण्डेनबर्ग का निर्वाचक' अब 'प्रशा के राजा' के नाम से विख्यात हुआ। यह फ्रेडरिक तृतीय की सबसे बड़ी सफलता थी। उसने फ्रांस के राजा लुई चतुर्दश की भाँति प्रशा के दरबार की शान-शौकत पर विशेष बल दिया।

फ्रेडरिक विलियम प्रथम

(Frederick William I, 1718—1740)

फ्रेडरिक प्रथम के पश्चात उसका पुत्र फ्रेडरिक विलियम प्रशा का राजा बना। यद्यपि उसमें अपने पितामह 'महान् निर्वाचक' की कर्त्तव्य-परायणता एवं व्यवहारिक बुद्धि काफी सीमा तक थी किन्तु उसमें दूरदर्शिता एवं राजनीतिज्ञता का अभाव था। उसमें अपने पिता के विपरीत वैभव एवं शान-शौकत के प्रदर्शन के प्रति रुचि न थी। वह राजस्व के दैवी सिद्धान्त में विश्वास करता था तथा निरंकुश राजतन्त्र का घोर समर्थक था। उसने राज्य की सम्पूर्ण शक्तियाँ अपने हाथों में केन्द्रित कर लीं। उसने प्रशासन में अनेक सुधार किये। उसने एक केन्द्रीय प्रशासकीय निदेशालय की स्थापना की जिसके अन्तर्गत वित्त तथा युद्ध सम्बन्धी कार्य होते थे। उसने राजकीय कर्मचारियों की योग्यता के लिए उन्हें अनेक निर्देश दिये। उसने न्याय व्यवस्था को सुसंगठित करने की ओर भी ध्यान दिया। उसने अपनी राजकीय आय का ७०% सैनिक संगठन पर व्यय किया। अपनी इस प्रशासनिक कुशलता एवं सैनिक-संगठन की श्रेष्ठता के कारण प्रशा समस्त यूरोप में प्रसिद्ध हो गया। भविष्य में इन्हीं साधनों के आधार पर फ्रेडरिक महान् ने प्रशा को एक प्रथम श्रेणी के राज्य के रूप में प्रतिष्ठित किया। सन् १७४० ई० में उसकी मृत्यु हो गई और तत्पश्चात् उसका पुत्र फ्रेडरिक द्वितीय सिंहासनारूढ़ हुआ।

फ्रेडरिक द्वितीय अथवा फ्रेडरिक महान्

(Frederick II or Frederick the Great, 1740—1786)

राज्यारोहण :

फ्रेडरिक विलियम प्रथम की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र फ्रेडरिक द्वितीय अर्थात् फ्रेडरिक महान् प्रशा के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ । उसका जन्म सन् १७१२ ई० में हुआ था। उसका पिता उसे सैनिक राजा बनाना चाहता था। वह सैनिक अध्यापकों के निरीक्षण में रखा गया । उसके पिता ने उसे कठोर नियन्त्रण में रखा। इससे उसे घृणा उत्पन्न हो गई क्योंकि उसकी रुचि साहित्य, कला, संगीत एवं दर्शन आदि के प्रति थी। एक बार अपने फ्रांसीसी शिक्षक को पत्र लिखते हुये उसने कहा था कि "मैं एक ऐसे दर्पण की भाँति हूँ जो अपने समक्ष की वस्तुओं को प्रतिबिम्बित करता है। मुझे साहस नहीं है कि मैं अपने प्रकृति-सुलभ स्वभाव को प्रकट कर सकूँ।" अपने पिता के कठोर नियन्त्रण से मुक्त होने के लिए उसने कैप्टन काट (Katte) नामक एक सैनिक अधिकारी के साथ प्रशा से भाग जाने का निश्चय किया। किन्तु उसके पिता को यह योजना ज्ञात हो गई । फलस्वरूप दोनों ही बन्दीगृह में डाल दिये गये। अन्त में कैप्टन काट को फ्रेडरिक के समक्ष फांसी दे दी गई । फाँसी के समय कैप्टन काट ने फ्रेडरिक की ओर देखते हुये कहा था कि "ऐसे आकर्षक राजकुमार के लिए उसे मृत्यु भी प्रिय है।" तत्पश्चात् फ्रेडरिक विलियम प्रथम ने अपने पुत्र फ्रेडरिक द्वितीय को क्षमा कर दिया। इसके बाद उसने कोई विद्रोह नहीं किया । अपनी इच्छा के विरुद्ध सन् १७३३ ई० में सौन्दर्यहीन एलिजाबेथ क्रिस्तिना से उसे विवाह करना पड़ा। यही कारण था कि उसका विवाहित जीवन असफल रहा । फ्रेडरिक महान् को साहित्य, दर्शन, विज्ञान, कला तथा इतिहास आदि के सम्बन्ध मे अच्छा ज्ञान था तथा फ्रांसीसी साहित्य के प्रति उसकी विशेष रुचि थी। वह एक लेखक भी था।

फ्रेडरिक महान् के राजनीतिक विचार :

फ्रेडरिक महान् के प्रशासन सम्बन्धी कार्यों के अध्ययन से पूर्व उसके राजनीतिक विचारों का अध्ययन करना आवश्यक है, जिनसे वह अपने समस्त कार्यों में निर्दिष्ट होता रहा। उसने 'प्रशासन-भेद पर लेख' (Essay on the Forms of Government) लिखा जिसमें उसने अपने राजनीतिक विचारों को व्यक्त किया हैं। वह समकालीन बौद्धिक क्रान्ति से अत्यधिक प्रभावित हुआ था। निरंकुश शासक के रूप में उसने अपने हाथ में प्रशासन तथा सैनिक शक्तियों को केन्द्रित कर रखा था । उसका यह कथन था कि राजा अपने देश का प्रधान न्यायाधीश एवं आर्थिक विषयों का संचालक होता है। वह सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए सोचता और कार्य करता है । उसके अनुसार

"राष्ट्र में राजा का वही स्थान है जो शरीर में मस्तिष्क का होता है।" किन्तु इसके साथ-ही साथ वह अपने को प्रजा का 'प्रथम सेवक' कहता था। उसका विचार था कि राजा को कर्तव्यपरायण, चरित्रवान तथा परिश्रमी होना चाहिये। उसके अनुसार जो राजा प्रजा के धन का दुरुपयोग करता है वह घोर पाप करता है। फ्रेडरिक अपने व्यक्तिगत्त पत्रों का उत्तर स्वयं देता था। सभी विभागों पर वह एक कड़ी दृष्टि रखता था तथा स्वयं उसका निरीक्षण किया करता था। उसने प्रशासन में योग्यता के आधार पर लोगों को स्थान दिया। वह अपने समय की प्रबुद्ध निरंकुशता का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। लार्ड एक्टन के अनुसार "प्रबुद्ध निरंकुशता के युग में फ्रेडरिक महान् प्रबुद्ध निरंकुशों में सर्वश्रेष्ठ था। वह सभी शासकों एवं सुधारकों मे सबसे अधिक परिश्रमी तथा अध्यवसायी था। उसके अनुसार राजा राज्य का प्रथम सेवक था। उसके शासनकाल में धर्म के स्थान पर दर्शन का प्रभाव बढ़ा। उसने राष्ट्र को चर्च से मुक्ति दिलाई, जो पूर्णतया फ्रेडरिक की प्रवृत्ति के अनुकूल थी। वह सहिष्णु तथा उदार था।"

गृह नीति :

फ्रेडरिक महान् की गृह नीति पर दार्शनिकों का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। सन् १७६३ ई० तक वह युद्धों में व्यस्त रहा, किन्तु सुधार-कार्यों के प्रति उदासीन न रहा। युद्धों से मुक्ति प्राप्त करने के पश्चात् उसने अपना पूर्ण ध्यान प्रजाहितकारी सुधारों की ओर दिया। वह प्रशा को सुव्यवस्थित एवं संगठित करना चाहता था। उसके अनुसार राजा अपने राज्य का 'प्रथम सेवक' होता है। इतिहासकार एरगॉन्ग के अनुसार उसका "शासन जनता के लिए और जनता द्वारा न था" वरन् "सब जनता के लिये और जनता द्वारा कुछ नहीं था।" वह अपने सभी उच्च अधिकारियों को अपने लिपिक की भाँति समझता था।

फ्रेडरिक ने प्रशा की आर्थिक दशा को उन्नतिशील बनाने का प्रयास किया। उसने कृषि व्यवस्था में सुधार की ओर ध्यान दिया। उसने लोगों को वैज्ञानिक पद्धति पर खेती करने के लिए प्रोत्साहित किया। उसने कृषि योग्य भूमि में विस्तार किया। सिंचाई के लिए उसने अनेक नहरों का निर्माण करवाया तथा कृषि के विकास के लिए उसने कृषकों को अनेक सुविधाएँ प्रदान की। युद्ध से क्षतिग्रस्त को बीज देने की व्यवस्था की तथा उनके भूमिकर में भी कमी कर दी। इसके अतिरिक्त उसने कृषि के लिए जानवरों की नस्लों में भी सुधार किया। उसने प्रशासन से फिजूलखर्ची को समाप्त किया और केवल सेना पर ही उसने अधिक से अधिक धन खर्च किया।

उसने प्रशा के व्यापार-वाणिज्य तथा उद्योग-धन्धों के विकास के लिए भी अनेक सुधार किये। उसके काल में रेशम के उद्योग में प्रशंसनीय प्रगति हुई। इसके

अलावा उसने ऊन तथा लिनेन के उत्पादन को भी प्रोत्साहित किया। व्यापार एवं उद्योग-धन्धों की वृद्धि के लिए उसने विदेशियों को प्रशा में बसने के लिये आमन्त्रित किया तथा उनके द्वारा प्रशा के लोगों को प्रशिक्षित करवाया। इससे उद्योग-धन्धों में काफी वृद्धि हुई।

फ्रेडरिक महान् ने प्रशा की न्याय व्यवस्था में भी अनेक सुधार किये। उसने सम्पूर्ण प्रशा में प्रचलित कानूनों को संग्रहीत करवाया। न्याय में जो देर होती थी उसे दूर करने के लिए उसने सरल और आसान व्यवस्था की। अपराध को स्वीकार कराने के लिए जो कठोर यातनाएँ दी जाती थीं उनका अन्त कर दिया। उसने प्रशा की सम्पूर्ण प्रजा के लिये एक निष्पक्ष एवं शीघ्र न्याय-व्यवस्था प्रदान की। उसने पक्षपाती एवं अन्यायपूर्ण न्यायाधीश को दण्ड देने की भी व्यवस्था की। इस प्रकार उसने प्रशा में कानून की प्रधानता स्थापित कर उसे एक 'न्यायिक राज्य' बनाने का प्रयास किया।

वह स्वयं शिक्षित होने के कारण प्रजा को भी शिक्षित बनाना चाहता था। इस उद्देश्य से उसने प्रशा में अनेक प्रारम्भिक स्कूल खुलवाये। जर्मन साहित्य से उसे प्रेम न था, किन्तु फ्रांसीसी साहित्य के प्रति उसका अगाध प्रेम था। उसने अनेक फ्रांसीसी साहित्यकारों को बर्लिन आने के लिये आमन्त्रित किया। प्रसिद्ध दार्शनिक वाल्तेयर उसके निमन्त्रण पर बर्लिन आया था। उसने बर्लिन की विज्ञान अकादमी को नवजीवन प्रदान किया और उसे सुदृढ़ बनाया। उसने अपनी प्रजा के बौद्धिक विकास के लिये उन्हें लेखन, भाषण एव प्रकाशन की कुछ स्वतन्त्रता भी प्रदान की। उसके अनुसार युवक-शिक्षा प्रशासन के अनेक महत्वपूर्ण कार्यों में एक था।

फ्रेडरिक ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति का अनुसरण किया। वह बौद्धिक क्रान्ति से प्रभावित होने के कारण उदार था। उसने प्रशा में सभी धर्मों के लोगों को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की। यद्यपि वह प्रोटेस्टेण्ट था किन्तु उसने जेसुइटों को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की। उसका यह कथन था कि "यदि तुर्क भी मेरे देश में बसने के लिये आयें तो मैं उनके लिये मस्जिदों का निर्माण करा दूँगा। प्रत्येक व्यक्ति को अपने ढंग से स्वर्ग जाने का अधिकार प्राप्त होना चाहिये।" किन्तु वह यहूदियों के प्रति उदार नीति का अनुसरण न कर सका। यहूदियों को अनेक नागरिक अधिकारों से वंचित रखा गया तथा उन्हें प्रशा में निवास करने के लिये उसकी अनुमति लेनी पड़ती थी।

वैदेशिक नीति :

फ्रेडरिक महान् की वैदेशिक नीति का उद्देश्य जर्मनी में प्रशा को प्रधानता स्थापित करना तथा आस्ट्रिया के हैप्सवर्ग परिवार के शासक को पराजित कर यूरोप

से प्रशा को एक प्रतिष्ठित स्थान दिलवाना था। फ्रेडरिक महान् के सिंहासनारोहण के कुछ माह पश्चात् आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग सम्राट् चार्ल्स षष्ठ की मृत्यु हो गई। उसके कोई पुत्र नहीं था। अतः आस्ट्रिया के उत्तराधिकार का प्रश्न उत्पन्न हुआ। सम्राट् चार्ल्स षष्ठ ने अपनी मृत्यु से पूर्व ही अपनी ज्येष्ठ पुत्री मेरिया थेरेसा को आस्ट्रिया के उत्तराधिकारिणी के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। उसने 'उत्तराधिकार स्वीकृति पत्र' अथवा 'प्रैग्मेटिक सैंक्शन' (Pragmatic Sanction) नामक एक अध्यादेश जारी किया, जिसके अनुसार यह घोषित किया गया कि हैप्सबर्ग साम्राज्य अविभाज्य है तथा इस साम्राज्य का पुरुष उत्तराधिकारी न होने पर प्रचलित परम्परा के विपरीत स्त्री साम्राज्य की उत्तराधिकारिणी होगी। सम्राट् चार्ल्स षष्ठ ने इस स्वीकृति पत्र को आस्ट्रिया के विभिन्न संसदों एवं यूरोप के अनेक देशों से मान्यता प्रदान कराने का प्रयास किया। परिणामस्वरूप बवेरिया को छोड़कर प्रशा, रूस, इंग्लैण्ड, हालैण्ड, पोलैण्ड, फ्रांस, स्पेन आदि सभी देशों ने इस 'उत्तराधिकार स्वीकृति पत्र' को मान्यता दे दी। तत्पश्चात् सन् १७४० ई० में चार्ल्स षष्ठ की मृत्यु हो गई और उस 'उत्तराधिकार स्वीकृति पत्र' के अनुसार उसकी ज्येष्ठ पुत्री मेरिया थेरेसा आस्ट्रिया के सिंहासन पर आरूढ़ हुई। प्रशा के फ्रेडरिक महान् ने उसके गद्दी पर बैठते ही आस्ट्रिया के आधीनस्थ प्रान्त साइलेशिया पर आक्रमण कर दिया। इतना ही नहीं उसने प्रशा, स्पेन, फ्रांस, बबेरिया, सेवाय तथा सैक्सनी के सहयोग से एक गुट का निर्माण किया और मेरिया के उत्तराधिकार को अमान्य घोषित कर दिया। परिणामस्वरूप सन् १७४० ई० में आस्ट्रिया के उत्तराधिकार का युद्ध प्रारम्भ हो गया। इस युद्ध का अन्त सन् १७४८ ई० में एला-शैपल की सन्धि द्वारा हुआ। इस सन्धि के द्वारा मेरिया थेरेसा ने साइलेशिया पर फ्रेडरिक महान् के अधिकार को स्वीकार कर लिया तथा फ्रेडरिक महान् ने मेरिया थेरेसा को आस्ट्रिया की उत्तराधिकारिणी के रूप में स्वीकार कर लिया। इस प्रकार प्रशा की सीमा में काफी विस्तार हुआ तथा यूरोप में फ्रेडरिक महान् की प्रतिष्ठा की भी वृद्धि हुई। अब प्रशा एक प्रभावशाली एवं शक्तिशाली राज्य हो गया।

परन्तु एला-शैपल की सन्धि का एक दूसरा पहलू भी है। इस सन्धि के साथ ही प्रशा व आस्ट्रिया के मध्य एक ऐसे संघर्ष का आरम्भ हुआ जिसके मूल में यह प्रश्न निहित था कि जर्मनी का नेतृत्व किसके द्वारा किया जायेगा। इस प्रश्न पर आस्ट्रिया की शासिका मेरिया थेरेसा और प्रशा के शासक फ्रेडरिक महान् के मध्य जो मतभेद आरम्भ हुआ उसके फलस्वरूप यूरोप दो वर्गों में विभाजित हो गया। एक वर्ग में इंग्लैण्ड तथा प्रशा तथा दूसरे वर्ग में आस्ट्रिया, फ्रांस, स्वीडेन, रूस, स्पेन, नेपल्स, सार्डीनिया तथा पारमा के राज्य थे। इन दोनों वर्गों के मध्य सन् १७५६ ई० में युद्ध प्रारम्भ हुआ, जो अगले सात वर्षों अर्थात् सन् १७६३ ई० तक चलते रहने के

कारण 'सप्त वर्षीय युद्ध' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस युद्ध के प्रारम्भ में ही फ्रेडरिक विभिन्न आपत्तियों से घिर गया। किन्तु अपने कुशल नेतृत्व तथा व्यूह रचना और सैनिक संचालन के कारण उसने आस्ट्रिया की सेना को पराजित करने में अन्ततोगत्वा सफलता प्राप्त की। इसके पश्चात् उसके समक्ष दूसरी, विपत्ति रूस द्वारा पूर्वी प्रशा पर अधिकार करने के रूप में आई। किन्तु यह विपत्ति भी शीघ्र ही टल गई। क्योंकि जारिना एलिजाबेथ की मृत्यु हो जाने के कारण पीटर तृतीय जार बना और उसने फ्रेडरिक से सन्धि कर ली। शीघ्र ही पीटर तृतीय की मृत्यु हो जाने के फलस्वरूप सन् १७६२ ई० में ही कैथरीन द्वितीय गद्दी पर बैठीं जिसने तटस्थता की नीति अपनाई। रूस के युद्ध से अलग हो जाने के कारण फ्रेडरिक को केवल आस्ट्रिया का ही सामना करना था। आस्ट्रिया ने प्रशा से पराजित होकर उसके साथ ह्यूबर्टस-वर्ग (Hubertsberg) की सन्धि कर ली। इस सन्धि के द्वारा आस्ट्रिया ने साइलेशिया पर प्रशा का अन्तिम रूप से अधिकार स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार 'सप्त वर्षीय युद्ध' तथा 'ह्यूबर्टसबर्ग की सन्धि' के द्वारा यूरोप में प्रशा की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई और जर्मनी में उसकी प्रधानता स्थापित हुई। फ्रेडरिक की वैदेशिक नीति का प्रमुख उद्देश्य प्रशा के हितों में वृद्धि करना था। इसके लिये वह राजनीतिक नैतिकता एवं सन्धियों की पवित्रता पर कोई ध्यान नहीं देता था। सन् १७७३ ई० में उसने रूस के साथ मिलकर पोलैण्ड का प्रथम विभाजन किया। जिसके अनुसार डेन्जिग तथा थार्न के प्रदेशों को छोड़कर उसे समस्त पश्चिमी पोलैण्ड का प्रदेश प्रदान किया गया था।

फ्रेडरिक महान् प्रबुद्ध निरंकुश के रूप में :

१८वी शताब्दी के बौद्धिक आन्दोलन ने जनसाधारण के साथ-साथ शासकों को भी प्रभावित किया। इस काल के शासकों ने निरंकुश शासन के साथ-साथ प्रजा एवं समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भी समझा। इनके अनुसार शासन "प्रजा के लिए होना चाहिये, प्रजा द्वारा नहीं" (For the people but not by the people) होना चाहिये। निरंकुश शासकों की विचारधारा में यह परिवर्तन दार्शनिकों एवं विचारकों के विचार एवं सिद्धान्तों के कारण हुआ। क्योंकि तत्कालीन दार्शनिकों एवं विचारकों ने राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक सुधारों की आवश्यकता पर बल दिया था।

प्रशा के फ्रेडरिक महान् ने भी इन दार्शनिको की विचारधारा से प्रभावित होकर अनेक सुधार किये। उसके शासन का उद्देश्य 'जनता के हित के लिये था, जनता द्वारा नहीं'। वह अपने को प्रजा का 'प्रथम सेवक' कहता था। उसने प्रजा के हित के लिए अनेक सुधार किये, क्योंकि उसने प्रबुद्ध निरंकुशकी विचारधारा को उसके वास्तविक अर्थ में ग्रहण किया। यूरोप के प्रबुद्ध निरंकुश शासकों में उसका स्थान सर्वोच्च है।

अध्याय १४

आस्ट्रिया

(AUSTRIA)

आधुनिक जर्मनी के दक्षिण-पूर्व में डैन्यूब नदी के दोनों किनारों पर स्थित भू-प्रदेश आस्ट्रिया के नाम से जाना जाता है। मध्य युग के प्रारम्भ तक यह प्रदेश राजनीतिक दृष्टि से महत्वहीन था, परन्तु मध्य युग में आस्ट्रिया के शासकों (जिनकी उपाधि आर्चड्यूक Archduke थी) द्वारा दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम के भागों पर अधिकार कर लेने के कारण आस्ट्रिया का राजनीतिक प्रभाव बढ़ने लगा।

आस्ट्रिया के आधुनिक इतिहास की ओर आने के पूर्व इस प्रश्न को संक्षिप्त समीक्षा आवश्यक है कि मध्य युग का शक्तिशाली 'पवित्र रोमन साम्राज्य' १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक आते-आते केवल नाममात्र का ही साम्राज्य क्यों रह गया। आठवीं शताब्दी में शार्ल मेन (Charlesmagne) ने आधुनिक जर्मनी, फ्रांस, इटली, हालैण्ड और बेल्जियम के प्रदेशों को पोप की आज्ञा से एक सूत्र में बाँध कर 'पवित्र रोमन साम्राज्य' (Holy Roman Empire) की स्थापना की और स्वयं को उसका पहला सम्राट घोषित किया। ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग ओटो (Otto) नामक एक जर्मन राजकुमार ने इस साम्राज्य को एक नया रूप दिया। यह साम्राज्य भी पवित्र रोमन साम्राज्य के नाम से जाना गया और ओटो उसका सम्राट बन गया। अपने इसी रूप में यह साम्राज्य अगली तीन शताब्दियों तक चलता रहा। यह अवश्य है कि धीरे-धीरे इस साम्राज्य का महत्व कम होता गया और १५वीं शताब्दी के अन्त तक यह केवल बोहेमिया की चेक जाति और जर्मन भाषा-भाषी निवासियों तक ही सीमित रह गया।

वस्तुतः सन् १५०० ई० तक आते-आते पवित्र रोमन साम्राज्य एक केन्द्रीकृत संस्था के स्थान पर लगभग ३०० छोटे और बड़े राज्यों का समूह मात्र रह गया था। यह राज्य अपने आन्तरिक मामलों तथा विदेशी सम्बन्धों में स्वतन्त्र हो गये थे तथा उन पर साम्राज्य और सम्राट् का नियन्त्रण नाममात्र का ही था। तथापि साम्राज्य की प्रतिष्ठा पहले की ही भाँति थी एवं सम्राट् यूरोपीय राजनीति में उच्च स्थान रखता था।

१४वीं शताब्दी में आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग राजवंश को सम्राट् का पद प्राप्त हो गया। यद्यपि सम्राट का निर्वाचन होता था, लेकिन इस निर्वाचन में सदैव

हैप्सबर्ग परिवार के व्यक्ति को ही सम्राट् चुना जाता था। सम्राट् का पद प्राप्त कर लेने से आस्ट्रिया के राजवंश को अपने वंशानुगत क्षेत्रों के विस्तार तथा अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने में सहायता मिली। सम्राट मैक्सिमीलियन प्रथम (Maximilian I, 1493-1516) के शासन काल मे आस्ट्रिया जर्मनी का प्रमुख राज्य हो गया, क्योंकि मैक्सीमिलियन ने अपने शासन काल में किए गए विभिन्न कार्यों और सुधार योजनाओं के द्वारा जर्मनी और यूरोप में अपनी विशिष्ट छाप छोड़ी। आस्ट्रिया की शक्ति तथा प्रभाव बढ़ाने के लिए उसने राज्य की सीमा का विस्तार किया, स्पेन के शासक फर्डिनेंड के पुत्र फिलिप के साथ अपनी पुत्री जोअना का विवाह किया तथा अपनी पौत्री मेरी का विवाह फ्रांस के अल्पवयस्क नौ वर्षीय लुई के साथ किया। शासन क्षेत्र में भी मैक्सीमिलियन ने अनेक सुधार योजनाओं को कार्यान्वित करने की कोशिश की जिसमें उसका मुख्य उद्देश्य साम्राज्य का सुदृढ़ीकरण नहीं, अपितु सैनिक कारणों से जर्मनी का एकीकरण करना और जर्मन साम्राज्य को विघटित होने से बचाना था। यद्यपि वह सभी सुधार योजनाओं को कार्यान्वित करने मे पूरी सफलता नहीं प्राप्त कर सका, परन्तु उसकी आंशिक सफलता ने ही हैप्सबर्ग परिवार की प्रतिष्ठा को और आगे बढ़ाया। उसके उत्तराधिकारी चार्ल्स पंचम (सन् १५१३-१५५८ ई०) के शासन काल में यह राजवंश यूरोप का सर्वशक्तिमान एवं सबसे प्रतिष्ठित राजवंश हो गया। इसी समय से एक प्रकार से पवित्र रोमन सम्राट का पद वंशानुगत हो गया और अगली दो शताब्दियों तक आस्ट्रिया के आर्चड्यूक ही इस पद पर चुने गये।

सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में तीस वर्षीय युद्ध ने आस्ट्रिया की शक्ति को और आगे बढ़ाया क्योंकि अब आस्ट्रिया के शासकों ने पवित्र रोमन साम्राज्य के संगठन और उनकी रक्षा का विचार छोड़कर आस्ट्रिया के विस्तार और संगठन की ओर विशेष ध्यान दिया। इसमें उन्हें बहुत सफलता मिली क्योंकि उनकी उदासीनता के कारण जहाँ एक ओर पवित्र रोमन साम्राज्य विघटित होने लगा वहीं दूसरी ओर एक नये साम्राज्य का उदय हुआ, जो १८वीं शताब्दी में विकसित होकर १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक यूरोप का एक महत्वपूर्ण साम्राज्य हो गया। उसकी गणना बड़ी शक्तियों में की जाने लगी। यह नया साम्राज्य 'आस्ट्रिया का साम्राज्य' था। इसके प्रसिद्ध शासकों में मेरिया थेरेसा (Maria Theresa) और जोसेफ द्वितीय (Joseph II) मुख्य थे।

सन् १५२६ ई० के लगभग आस्ट्रिया के साम्राज्य के शासक फर्डिनेंड के अधिकार क्षेत्र में आस्ट्रिया, बोहेमिया और हंगरी के राज्य थे। यद्यपि राजनीतिक दृष्टिकोण से साम्राज्य एक सूत्र में बँधा हुआ था लेकिन विभिन्न जातियों एवं

भाषा-भाषी निवासियों के कारण वह पृथक् भी था। वैचित्र्यता के बावजूद भी आस्ट्रिया की शक्ति का विस्तार होता रहा। १७वीं शताब्दी के तुर्क-आस्ट्रिया संघर्ष के कारण शताब्दी के अन्त तक आते-आते आस्ट्रिया साम्राज्य और भी शक्तिशाली हो गया। सन् १७०२ ई० में आरम्भ होने वाले स्पेन के उत्तराधिकार के युद्ध में फ्रांस के साथ-साथ आस्ट्रिया ने भी अपना अधिकार सामने रखा और युद्ध में कूद पड़ा। लुई चतुर्दश के साथ होने वाले इस युद्ध का अन्त सन् १७१३ ई० में यूट्रेक्ट की सन्धि के द्वारा हुआ तथा चार्ल्स षष्ठ को स्पेनी नीदरलैण्ड्स तथा इटली के मिलान, नेप्ल्स एवं सिसली के महत्वपूर्ण प्रदेश प्राप्त हुये।

चार्ल्स षष्ठ

(Charles VI, 1711—1740)

आस्ट्रिया के इस नये साम्राज्य के शासक चार्ल्स षष्ठ (१७११ ई०-१७४० ई०) की सबसे बड़ी कठिनाई इस बिखरे हुये विस्तृत साम्राज्य को एकसूत्र में बाँधने की थी। इस कार्य में चार्ल्स को सफलता न मिल सकी। उसकी विफलता के मुख्य कारण साम्राज्य का अनेक जातियों एवं भाषा-भाषी निवासियों में विभक्त होना, आर्थिक हितों की विषमता और एक सुदृढ़ केन्द्रीय शासन का अभाव था। इनके साथ ही चार्ल्स अपनी वाह्य समस्याओं के निराकरण में भी सफल न हो सका, जो मुख्य रूप से साम्राज्य के दक्षिण-पूर्व में तुर्कों का विस्तार, हालैण्ड, इंग्लैण्ड तथा फ्रांस के व्यापारियों की प्रतिद्वन्दिता एवं स्पेन के साथ शत्रुता आदि थी।

इसी प्रकार उत्तराधिकार का प्रश्न भी एक जटिल समस्या के रूप में चार्ल्स के सामने आ उपस्थित हुआ। चार्ल्स षष्ठ के न तो कोई पुत्र था और न कोई भाई। उसके केवल एक पुत्री मेरिया थेरेसा थी। साथ ही उसने उत्तराधिकार के प्रश्न पर यूरोप के विभिन्न देशों मे होने वाले भीषण संघर्ष और उसके परिणामस्वरूप होने वाले विघटन को भी देखा था। वह आस्ट्रिया के साम्राज्य को इस प्रश्न पर विघटित नहीं होने देना चाहता था। अतः उत्तराधिकार की समस्या को हल करने के लिए तथा आस्ट्रियन साम्राज्य को विघटित होने से बचाने के लिए चार्ल्स ने अपनी पुत्री मेरिया थरेसा को उत्तराधिकारी बनाने का निश्चय किया। इस सम्बन्ध में चार्ल्स ने जो अध्यादेश जारी किया वह 'उत्तराधिकार स्वीकृति-पत्र' अथवा 'प्रैग्मेटिक सैंक्शन' (Pragmatic Sanction) के नाम से प्रसिद्ध है। इस अध्यादेश के द्वारा यह घोषित किया गया कि हैप्सबर्ग साम्राज्य अविभाज्य है और इस साम्राज्य का पुरुष उत्तराधिकारी न होने पर प्रचलित परम्परा के प्रतिकूल साम्राज्य की उत्तराधिकारिणी स्त्री होगी। चार्ल्स ने इस 'उत्तराधिकार स्वीकृति पत्र' को अपने प्रयत्नों के द्वारा आस्ट्रियन

साम्राज्य के अन्तर्गत विभिन्न संसदों से इसे मान्यता दिलवाई तथा यूरोप के विभिन्न देशों के सम्बन्ध में भी इस प्रकार की नीति अपनायी कि वे मेरिया थेरेसा के उत्तराधिकार को स्वीकृति प्रदान कर दें। चार्ल्स की सुविधाएँ प्रदान करने की इस नीति का परिणाम यह हुआ कि केवल बवेरिया को छोड़कर प्रशा, रूस, इंग्लैण्ड, हालैण्ड, पोलैण्ड, फ्रांस, स्पेन आदि देशों ने एक-एक कर इस 'उत्तराधिकार स्वीकृति-पत्र' को स्वीकृति प्रदान कर दी। सन् १७४० ई० में चार्ल्स की मृत्यु हो गयी। 'प्रैग्मैटिक सैंक्शन' के अनुसार मेरिया थेरेसा आस्ट्रिया की गद्दी पर बैठी और उत्तराधिकार के रूप में उसे चार्ल्स के द्वारा छोड़ा गया एक विस्तृत एवं अव्यवस्थित साम्राज्य तथा रिक्त राजकोष प्राप्त हुआ।

मेरिया थेरेसा
(Maria Theresa, 1740-1780)

उत्तराधिकार का युद्ध (सन् १७४०—४८ ई०)

सन् १७४० ई० में मेरिया थेरेसा (Maria Theresa) के गद्दी पर बैठते ही प्रशा के शासक फ्रेडरिक महान् ने 'उत्तराधिकार स्वीकृति-पत्र' के सम्बन्ध में किये गये वादे को ठुकरा कर एक पुराने दावे के आधार पर साइलेशिया पर आक्रमण करने की योजना बनाई। प्रशा की अपेक्षा आस्ट्रिया के कमजोर होने के कारण यूरोप के अन्य देश भी मेरिया थेरेसा की इस परिस्थिति का लाभ उठकार आस्ट्रिया पर अधिकार करना चाहते थे। अत फ्रांस, स्पेन, बवेरिया, सैक्सनी तथा सेवॉय के राज्यों ने प्रशा के साथ एक गुट बना आस्ट्रिया पर मेरिया थेरेसा के उत्तराधिकार को नहीं माना और उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। अब प्रशा ने साइलेशिया पर आक्रमण कर दिया। इस गुट के विरुद्ध आस्ट्रिया को अकेला देखकर इंग्लैण्ड और हालैण्ड ने उसका पक्ष ग्रहण कर लिया। इंग्लैण्ड के आस्ट्रिया की ओर आने का प्रमुख कारण फ्रांस और स्पेन के साथ इंग्लैण्ड की व्यापारिक प्रतिद्वन्दिता थी। केवल रूस ही अब यूरोप का एक ऐसा देश बचा जिसने किसी भी पक्ष का साथ नहीं दिया और तटस्थ रहा।

आठ वर्षों तक चलने वाले उत्तराधिकार के इस युद्ध की प्रमुख घटनाओं में प्रशा का साइलेशिया पर अधिकार; फ्रांस और बवेरिया की सम्मिलित सेनाओं का आस्ट्रिया की ओर प्रस्थान; भयभीत मेरिया थेरेसा का हंगरी जाकर वहाँ की मग्यार जाति की जनता से सहायता की याचना; प्रारम्भिक युद्धों में आस्ट्रिया की पराजय; सन् १७४२ ई० में प्रशा के साथ ब्रसेलाड की सन्धि तथा उसके परिणामस्वरूप साइलेशिया का प्रशा में विलीनीकरण; सन् १७४४ ई० में प्रशा के फ्रेडरिक महान् द्वारा पुनः आक्रमण और सन् १७४५ ई० में पुनः सन्धि; फ्रेडरिक महान् का युद्ध से

अलग हो जाना; इटली और स्पेन के विरुद्ध आस्ट्रिया की विजय; इंग्लैण्ड की फ्रांस के विरुद्ध विजय तथा सन् १७४८ ई० में होने वाली ए-ला-शैपल (Aix-La-Chappel) की सन्धि का नाम लिया जा सकता है ।

सन् १७४८ ई० में होने वाली ए-ला-शैपल (Aix-La-Chappel) की सन्धि के द्वारा उत्तराधिकार के युद्ध का अन्त हुआ । इस सन्धि के अनुसार साइलेशिया पर प्रशा का और आस्ट्रिया पर मेरिया-थेरेसा का अधिकार स्वीकृत किया गया तथा अन्य-सभी क्षेत्रों में युद्ध-पूर्व की स्थिति स्वीकार की गयी ।

सप्तवर्षीय युद्ध (सन् १७५६-१७६३ ई०) :

लेकिन मेरिया थेरेसा के भाग्य में अभी शान्तिपूर्वक बैठना नहीं लिखा था । फ्रांस और इंग्लैण्ड के मध्य मई सन् १७५६ ई० में आरम्भ होने वाले सप्तवर्षीय युद्ध में उसे भाग लेना पड़ा । इस युद्ध के विभिन्न कारण थे :—

सर्वप्रथम कारण मेरिया थेरेसा का साइलेशिया पर पुनः विजय प्राप्त करने, यूरोपीय राजनीति में आस्ट्रिया के साम्राज्य की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित करने एवं प्रशा के पराभव के लिए कृतसंकल्प होना था । दूसरी ओर प्रशा का शासक फ्रेडरिक महान् भी साइलेशिया पर अपना आधिपत्य बनाये रखने और हैप्सबर्ग वंश के प्रभाव को बढ़ने न देने के लिए कृतसंकल्प था । अतः आस्ट्रिया और प्रशा के मध्य शत्रुता हो गई ।

इस युद्ध का एक दूसरा कारण फ्रांस एवं इंग्लैण्ड के बीच परम्परागत व्यापारिक प्रतिद्वन्दिता और शत्रुता थी जिसके फलस्वरूप पहले से इन दोनों देशों के मध्य औपनिवेशिक युद्ध आरम्भ हो गये थे ।

इस युद्ध का एक अन्य कारण मेरिया थेरेसा का फ्रांस एवं रूस के साथ 'वर्साय की सन्धि' थी, जिसके प्रत्युत्तर में इंग्लैण्ड ने हैनोवर प्रदेश के रक्षार्थ प्रशा के साथ 'वेस्टमिस्टर की सन्धि' कर ली ।

इस युद्ध का अन्तिम कारण प्रशा द्वारा अगस्त सन् १७५७ ई० में सैक्सनी प्रान्त पर आक्रमण था, जिससे अपने-अपने राज्यों की सुरक्षा के प्रति आशंकित होकर रूस एवं स्वीडेन आस्ट्रिया के साथ मिल गये और युद्ध आरम्भ हो गया ।

मुख्य रूप से विभिन्न युद्धों और विविध घटनाक्रमों के उपरान्त १५ फरवरी सन् १७६३ ई० को आस्ट्रिया और प्रशा के मध्य होने वाली ह्यूबर्ट्सबर्ग (Huburtsburg) की सन्धि के साथ इस युद्ध का अन्त हुआ । इस सन्धि के द्वारा सबसे अधिक लाभ प्रशा को हुआ । साइलेशिया पर प्रशा का अन्तिम रूप से अधिकार स्वीकार कर लिया गया और फ्रेडरिक महान् ने आस्ट्रिया के शासक के पद पर आर्चड्यूक जोसेफ के निर्वाचन के अवसर पर सहयोग का आश्वासन दिया । लेकिन आस्ट्रिया के लिए यह सन्धि अपमानजनक थी, क्योंकि इसके द्वारा आस्ट्रिया के

साथ-साथ प्रशा भी प्रथम श्रेणी का राष्ट्र हो गया और आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग वंश के साथ अब प्रशा के होहेनजोलर्न वंश का प्रभाव भी बढ़ने लगा।

परन्तु इस सन्धि के द्वारा आस्ट्रिया और प्रशा की शत्रुता का अन्त न हो सका। आस्ट्रिया अपने अपमान को न भूल सका और कालान्तर में बवेरिया के उत्तराधिकार के प्रश्न पर यह शत्रुता पुनः भड़क उठी।

मेरिया थेरेसा के शासन सुधार :

मेरिया थेरेसा एक उदारमना, उदात्त और प्रजाहितैषी शासिका थी। कैथोलिक धर्म में असीम आस्था रखने के कारण यद्यपि वह नवीन विचारधारा और उसके परिणामस्वरूप होने वाले परिवर्तनों के प्रति आशंकित थी फिर भी आस्ट्रिया के उत्थान और प्रजा की भलाई को मेरिया थेरेसा ने अपना प्रमुख लक्ष्य बनाया।

प्रशासकीय सिद्धान्तों में निरंकुश राजतन्त्र की समर्थक होने के कारण मेरिया थेरेसा ने केन्द्रीयकरण की नीति अपनायी। इसके अनुसार दैनिक प्रशासकीय कार्यों के लिए आस्ट्रिया एवं बोहेमिया में राज्य-परिषदों की स्थापना की गयी जिनका मुख्य कार्य इन प्रदेशों के शासकीय कार्यों का निरीक्षण और परामर्श देना था। अन्य प्रान्तों की स्थानीय पार्लियामेण्टों को भंग कर राजधानी वियना में केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल का गठन किया गया।

मेरिया थेरेसा ने न्याय सम्बन्धी सुधार-कार्यों की ओर भी ध्यान दिया। कानूनों के संकलन के लिए एक आयोग की स्थापना की गई और देश के अन्दर एक सर्वोच्च न्यायालय बनाया गया। लेकिन इन सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण सुधार फौजदारी कानूनों में संशोधन था जिसके द्वारा शारीरिक यातना देना कम से कम कर दिया गया।

सेना के क्षेत्र में भी सुधार किये गये। सेना का पुनः संगठन कर उसे केन्द्र के अधीन रखा गया और यह सेना 'आस्ट्रियन साम्राज्य की सेना' के नाम से प्रसिद्ध हुयी। सेना पर स्थनीय परिषदों (पार्लियामेन्टो) का प्रभाव खत्म कर दिया गया। सैनिक अनुशासन एवं एकरूपता पर जोर दिया जाने लगा तथा सैन्य प्रशिक्षण के लिए प्रशिक्षण-केन्द्रों की स्थापना की गयी।

शिक्षा के विषय को केन्द्र के आधीन कर शिक्षा सम्बन्धी अनेक सुधार किये गये। शिक्षा का प्रधान उद्देश्य अच्छे नागरिकों का निर्माण स्वीकार कर देश के सभी प्राथमिक, माध्यमिक एवं विश्वविद्यालयों का फिर से संगठन किया गया।

मेरिया थेरेसा ने धार्मिक क्षेत्र में कट्टर कैथोलिक मतावलम्बी होने के कारण जेसुइटों का दमन किया और धार्मिक मठों के अधिकारों को कम कर उनकी वृद्धि पर रोक लगायी।

इसके अतिरिक्त मेरिया थेरेसा कृषकों की अवस्था में सुधार करने के लिए अनेक योजनाओं को कार्य में लाना चाहती थी, परन्तु सामन्तों के विरोध के कारण वह इसमें सफल न हो सकी।

जोसेफ द्वितीय

(Joseph II, 1780-90)

सन् १७८० ई० में मेरिया थेरेसा की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र जोसेफ द्वितीय आस्ट्रिया का शासक हुआ। वह पिछले पन्द्रह वर्षों अर्थात् १७६५ ई० से ही अपनी माँ मेरिया थेरेसा के साथ संयुक्त रूप से शासन कर रहा था, किन्तु १७८० ई० में उसकी मृत्यु सर्वसत्ताधारी सम्राट् हो गया।

जोसेफ द्वितीय प्रबुद्ध निरंकुशता का प्रबल समर्थक और पोषक था। उसका कहना था कि "मैंने दार्शनिकता को अपने साम्राज्य का नियामक बनाया है। उसके तर्कपूर्ण सिद्धान्त आस्ट्रिया का नव-निर्माण करेंगे।" वह अपने सुधारों द्वारा शीघ्र-से शीघ्र 'सम्पूर्ण राज्य का एक इकाई के रूप में संगठन, समस्त विशेषाधिकारों की समाप्ति, साम्राज्य के सभी भागों में विभिन्न राष्ट्रों की सीमाओं के स्थान पर प्रशासकीय विभागों की स्थापना, एक राष्ट्रीयता, पूरे साम्राज्य के लिए समान विधि-संहिता समाज के सभी वर्गों के लिए समानता और स्वेच्छाचारी के साथ-साथ ही प्रजातान्त्रिक ढंग के शासन की स्थापना करना चाहता था। लेकिन वह रूसो के जनतान्त्रिक प्रमुखता के सिद्धान्त को उचित नहीं समझता था। जोसेफ द्वितीय के शासन सम्बन्धी विचार निस्सदेह बहुत ऊँचे थे और इस विचारधारा के कारण अपने समय के अन्य शासकों से वह बहुत आगे था, लेकिन अपनी सुधार योजनाओं में वह असफल रहा। इस असफलता के मुख्य कारण थे—सिद्धान्तों की व्यावहारिकता के सम्बन्ध में जोसेफ द्वितीय का अटल विश्वास, उसकी परम्परा, विरोध और राजनीतिक औचित्य की ओर ध्यान न देना तथा इन सुधारों को शीघ्र लागू करने के लिए अधीर होना।

धार्मिक नीति :

धार्मिक क्षेत्र में जोसेफ द्वितीय राज्य की प्रधानता स्थापित करना चाहता था। साथ ही वह पोप के हस्तक्षेप एवं धार्मिक रुढ़िवादिता को भी समाप्त करना चाहता था। वस्तुतः वह धर्म को राज्य का एक विभाग बनाना चाहता था और इस विषय में जब पोप ने उसे विचारों में परिवर्तन करने को कहा तो उसका कथन था कि "राज्य का प्रत्येक व्यक्ति अपनी जीविका का उपार्जन करना चाहता है। आप चर्च के अधिकारों की रक्षा करना चाहते हैं और मैं राज्य के अधिकारों की रक्षा का समर्थक एवं पोषक हूँ।" इस नीति को अपनाने के कारण जोसेफ द्वितीय ने धार्मिक क्षेत्र

में व्यापक परिवर्तन किये। बिशपों की नियुक्ति राज्य के द्वारा होने लगी, चर्च की सम्पत्ति जब्त कर ली गयी, पूजापाठ की विधियों में परिवर्तन किया गया और अनेक धार्मिक मठ बन्द कर दिये गये। इसके साथ ही परम्परागत चली आ रही धार्मिक शिक्षण संस्थाओं को बन्द कर राज्य के द्वारा खोली जाने वाली शिक्षा संस्थाओं में व्यक्तियों को धर्म की शिक्षा दी जाने लगी।

किन्तु इस सम्बन्ध में जोसेफ द्वितीय का सबसे महत्वपूर्ण सुधार विभिन्न धर्मों के मानने वालों को समान रूप से धार्मिक तथा राजनीतिक अधिकार प्रदान करना था। लेकिन जोसेफ द्वितीय इन सुधारों को करने में सफल न हो सका, क्योंकि साधारण जनता इस प्रकार के सुधारों से सशंकित हो उठी। साथ ही कैथोलिक धर्म की प्रधानता समाप्त होने से साम्राज्य भी कमजोर हो गया।

गृह नीति :

साम्राज्य के अन्दर किये जाने वाले सुधारों में जोसेफ द्वितीय के मुख्य उद्देश्य थे—पूर्व में काले सागर तथा दक्षिण में एड्रियाटिक सागर की तरफ राज्य की सीमाओं का विस्तार करना; सभी प्रान्तीय पार्लियामेण्टों एवं स्थानीय संस्थाओं के अधिकारों को समाप्त कर एक केन्द्रीय निरंकुश शासन की स्थापना करना और सामन्तों के विशेषाधिकारों को समाप्त कर समाज के सभी वर्गों में समानता स्थापित करना था। परन्तु इन नीतियों के परिपालन में जोसेफ सफल न हो सका। निरंकुश शासन की स्थापना और प्रान्तीय परिषदों के अधिकारों को कम करने में वह अक्षम रहा; सीमा विस्तार की नीति में भी उसे असफलता ही हाथ लगी और सामन्तों के विशेषाधिकारों को समाप्त करने के प्रयत्न भी असफल रहे, क्योंकि विभिन्न प्रान्तों में उसकी नीतियों का विरोध आरम्भ हो गया तथा सामन्तों के अधिकार कम होने एवं अर्धदासों के स्वतन्त्र हो जाने से सामाजिक विषमता आरम्भ हो गयी। इसके अतिरिक्त अपनी माँ मेरिया थेरेसा की विवेकपूर्ण नीति का परित्याग कर देने तथा अपने समय की परिस्थितियों की उपेक्षा करने के कारण भी जोसेफ द्वितीय गृह नीति सम्बन्धी अपनी योजनाओं के परिपालन में असफल रहा।

वाह्य नीति :

जोसेफ द्वितीय आक्रामक वाह्य नीति का पोषक था। इस सम्बन्ध में उसका मुख्य उद्देश्य आस्ट्रिया के बिखरे हुये साम्राज्य को एक राजनीतिक सूत्र में बाँधना और तुर्की के प्रदेशों पर अधिकार कर आस्ट्रियन साम्राज्य की सीमा का विस्तार करना था।

इस आक्रामक नीति का पहला लक्ष्य बवेरिया था। प्रारम्भ से ही जोसेफ

द्वितीय आस्ट्रिया के पश्चिमी सीमा पर स्थिति बवेरिया के प्रदेश पर अधिकार करने का इच्छुक था, क्योंकि एक तो बवेरिया के हस्तगत कर लेने से उसका आस्ट्रिया के दक्षिण प्रदेशों के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित हो जाता और दूसरे आस्ट्रिया और टाइरोल (Tyrol) के राज्य एक दूसरे से सम्बद्ध हो जाते। ऐसा अवसर उसे सन् १७७७ ई० में मिल गया। उस वर्ष बवेरिया के शासक मैक्सोमिलियन की मृत्यु हो गयी और उत्तराधिकार का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। जोसेफ द्वितीय ने भी बवेरिया की गद्दी पर अपना दावा प्रस्तुत किया तथा आस्ट्रिया की सेना ने आगे बढ़कर बवेरिया के कुछ प्रदेश भी अपने अधिकार में कर लिये। प्रशा के शासक फ्रेडरिक महान् ने इसका विरोध किया, क्योंकि बवेरिया पर आस्ट्रिया का अधिकार हो जाने से प्रशा तथा अन्य जर्मन प्रदेशों की सुरक्षात्मक स्थिति खतरे में पड़ सकती थी। फलतः इस प्रश्न पर आस्ट्रिया और प्रशा के बीच युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गयी। मेरिया थेरेसा ने इस युद्ध को रोकने और स्थिति को सम्भालने की चेष्टा की, किन्तु वह सफल न हो सकी और प्रशा ने बोहेमिया पर आक्रमण कर दिया। क्योंकि इस समय जोसेफ द्वितीय को रूस तथा फ्रांस से उनके अपनी समस्याओं में व्यस्त रहने के कारण किसी प्रकार की सहायता नहीं मिल सकती थी, अतः सन् १७७९ ई० में उसने प्रशा के साथ टेशेन (Teschen) की सन्धि कर ली जिसके अनुसार बवेरिया के एक छोटे से भू-भाग को छोड़कर अन्य सभी नवविजित प्रदेश प्रशा को वापस कर दिये गये। जोसेफ द्वितीय बवेरिया पर अधिकार करने की इच्छा को दबा नहीं सका और सन् १७८५ ई० में उसने बवेरिया पर फिर आक्रमण किया। इस बार भी वह असफल रहा क्योंकि प्रशा, बवेरिया एवं बेल्जियम ने संयुक्त रूप से उसका विरोध किया। अन्ततः बवेरिया पर जोसेफ द्वितीय की अधिकार करने की इच्छा सफल न हो सकी एवं उसे बारम्बार अपने प्रयत्नों में विफलता ही हाथ लगी।

बवेरिया के पश्चात् जोसेफ द्वितीय का दूसरा उद्देश्य तुर्की साम्राज्य के सीमावर्ती प्रदेशों पर अधिकार कर आस्ट्रिया साम्राज्य की सीमा का पूर्व की ओर विस्तार करना था। परन्तु इस क्षेत्र में भी वह असफल रहा। अन्त में यह कहा जा सकता है कि जोसेफ द्वितीय अपनी आक्रामक वाह्य नीति के परिपालन में सफल नहीं हो सका।

मृत्यु :

सन् १७९० ई० में जोसेफ की मृत्यु हो गयी। प्रबुद्ध निरंकुशता के विचारों का कट्टर समर्थक होते हुये भी वह विफल रहा और उसके सुधारों और वाह्य नीति की असफलता उसकी समाधि पर अंकित इन शब्दों से स्पष्ट हो जाती है—"यह एक

ऐसे मनुष्य की समाधि है, जो अपने सुन्दरतम् उद्देश्यों के होते हुये भी सभी क्षेत्रों में विफल रहा।"

मेरिया थेरेसा एवं जोसेफ द्वितीय प्रबुद्ध निरंकुश शासक के रूप में :

आस्ट्रिया के इस अध्ययन को समाप्त करने से पहले अत्यन्त संक्षेप में यह जानना भी आवश्यक है कि अठारहवीं शताब्दी में आरम्भ होने वाली प्रबुद्ध निरंकुश विचारधारा क्या थी और क्या मेरिया थेरेसा तथा जोसेफ द्वितीय प्रबुद्ध निरंकुश शासक कहे जा सकते हैं।

सन् १७०० ई० के पश्चात् यूरोप में आरम्भ होने वाले 'बौद्धिक आन्दोलन' (Intellectual Revolution) ने जनसाधारण के साथ-साथ शासकों की विचार-धारा को प्रभावित किया। १६वीं तथा १७वीं शताब्दी के निरंकुश शासन सम्बन्धी विचारों के स्थान पर १८वीं शताब्दी के शासक साम्राज्य के अन्तर्गत एकछत्र और निरंकुश शासन के साथ-साथ प्रजा एवं समाज के प्रति अपने दायित्व को भी समझने लगे। ये शासक अब इस विचारधारा के समर्थक हो गये कि वे 'प्रजा के लिए किन्तु प्रजा द्वारा नहीं' (For the People but not by the people) शासन करते हैं। शासकों की विचारधारा में यह परिवर्तन उस युग के दार्शनिको एवं विचारकों के विचार एवं सिद्धान्तों के कारण आया क्योंकि ये दार्शनिक एवं विचारक राजनीतिक, सामाजिक आर्थिक और धार्मिक इन सभी क्षेत्रों में सुधारों की आवश्यकता पर बल दे रहे थे और साधारण जनता उनके विचारों की समर्थक हो गयी थी।

आस्ट्रिया की शासिका मेरिया थेरेसा और जोसेफ द्वितीय भी इस प्रबुद्ध निरं-कुश विचारधारा से प्रभावित हुये। मेरिया थेरेसा और जोसेफ प्रजा और समाज के प्रति अपने दायित्व को समझने वाली एक उदारमना और बुद्धिमती शासिका थी तथा राज्य के विकास और प्रजा की उन्नति को अपना पवित्र कर्तव्य समझती थी, लेकिन विभिन्न कारणों से वह अपनी सुधार योजनाओं के कार्यान्वयन में सफल न हो सकी।

इसके विपरीत जोसेफ द्वितीय अपनी सुधार योजनाओं के कार्यान्वयन में काफी हद तक सफल रहा। अपने शासन काल के प्रारम्भ में तत्कालीन दर्शन एवं प्रजापालन के सिद्धान्तों के अनुसार साम्राज्य की व्यवस्था की स्थापना कर साम्राज्य के स्वरूप में आमूल परिवर्तन की जोसेफ द्वितीय ने घोषणा की। परन्तु प्रजा की भलाई को ध्यान में रखते हुए भी वह राजतन्त्र का समर्थक बना रहा। यही कारण था कि समाज और प्रजा की भलाई के लिये किये जाने वाले सुधार कार्यों में उसे सफलता मिली और इसीलिए जोसेफ द्वितीय को प्रबुद्ध निरंकुश शासक कहा जाता है।

अध्याय १५

तुर्की साम्राज्य

(TURKISH EMPIRE)

१५वीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर १६वीं शताब्दी के अन्त तक पूर्वी यूरोप के राज्यों पर उस्मान (ऑटोमन-Ottoman) तुर्कों द्वारा बारम्बार आक्रमण, विजय एवं साम्राज्य विस्तार के कारण यूरोप के राज्यों को इन तुर्कों से खतरा उत्पन्न हो गया। विशेषकर सन् १४५३ ई० में तुर्क नेता महमूद द्वितीय द्वारा कुस्तुनतुनियाँ पर आक्रमण तथा उसको विजित कर लेने से यूरोप के राज्यों की सुरक्षा एवं प्रादेशिक अखण्डता को बहुत बड़ा भय उपस्थित हो गया। क्योंकि महमूद द्वितीय ने न केवल कुस्तुनतुनियाँ को ही जीता वरन् उसने सम्पूर्ण एशिया माइनर, बाल्कन प्रायद्वीप, डेन्यूब नदी तथा काले सागर के तटीय प्रदेशों पर भी अपना अधिकार कर लिया। महमूद द्वितीय के उत्तराधिकारियों ने फिलिस्तीन, मिस्र, ईरान (फारस), त्रिपोली, ट्यूनिस तथा अल्जीरिया को जीत कर तुर्क साम्राज्य की सीमा को बढ़ाने के साथ-साथ साम्राज्य की शक्ति में भी वृद्धि की।

लेकिन तुर्की साम्राज्य की शक्ति का सर्वाधिक विकास सुलेमान द्वितीय (सन् १५२०-१५६६ ई०) के शासनकाल में हुआ। सुलेमान द्वितीय को सुलेमान महान् भी कहा जाता है। वह स्पेन के शासक चार्ल्स पंचम का समकालीन था। सन् १५२१ ई० सुलेमान ने हंगरी पर आक्रमण कर राजधानी बेलग्रेड पर अधिकार कर लिया और पाँच वर्षों के पश्चात् सन् १५२६ ई० में हंगरी पर तुर्क शासक का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया। हंगरी स्पेन के विशाल साम्राज्य का एक अंग था। अतः इस प्रश्न पर हैप्सबर्ग परिवार एवं तुर्कों के मध्य युद्ध आरम्भ हो गया। सन् १५२६ ई० में सुलेमान ने आस्ट्रिया की राजधानी वियना घेरा डाल दिया और लगभग अगले १८ वर्षों तक स्पेन और आस्ट्रिया के मध्य युद्ध चलता रहा। सन् १५४७ ई० में प्रतिकूल परिस्थितियों ने चार्ल्स पंचम एवं फर्डिनेण्ड को सुलेमान महान् के साथ सन्धि करने को विवश कर दिया जिसके फलस्वरूप हंगरी पर तुर्की सत्ता स्थापित हो गई। साथ ही फर्डिनेण्ड ने सुलेमान को वार्षिक कर देना भी स्वीकार किया। हंगरी पर अधिकार करना सुलेमान महान् की प्रभावशाली विजय थी। क्योंकि यूरोप के राजाओं को तुर्क शासन से सदैव खतरा बना रहा और दूसरी ओर तुर्कों के हाथों पराजित हो जाने के कारण हैप्सबर्ग वंश के प्रभाव को भी धक्का पहुँचा। इस

प्रकार स्पेन के साम्राज्य की सुरक्षा खतरे में पड़ी रही । तुर्क साम्राज्य शक्ति के उच्चतम शिखर पर पहुँच गया । एक इतिहासकार के मतानुसार सुलेमान महान् के शासनकाल में उस्मान तुर्की साम्राज्य की महानता केवल राज्य विस्तार तक ही सीमित नहीं थी, अपितु साम्राज्य की नैतिक शक्ति भी बहुत बढ़ गई थी । कई बातों में उसका साम्राज्य उस समय के अनेक ईसाई राज्यों के शासकों के शासन से कहीं अच्छा था ।

सन् १५६६ ई० में सुलेमान द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् सलीम द्वितीय सुल्तान हुआ और उसने सन् १५६६ ई० से सन् १५७४ ई० तक तुर्क साम्राज्य पर शासन किया । उसके शासनकाल की प्रमुख विशेषतायें थी—हंगरी पर तुर्की आधिपत्य पूर्ववत् स्थापित रहना, भूमध्य सागरीय प्रदेशों पर निरन्तर आक्रमण एवं सन् १५७० ई० में साइप्रस पर अधिकार । इस प्रकार १५७० ई० तक तुर्क साम्राज्य का मिस्र से लेकर अल्जीरिया तक के समस्त उत्तर अफ्रीकी तट पर अधिकार हो गया और भूमध्य सागर में केवल माल्टा एवं क्रीट के प्रदेश ही ईसाइयों के अधिकार में रह गये । तुर्कों के इस संकट का सामना करने एवं साइप्रस पर पुर्नविजय प्राप्त करने के लिए स्पेन, रोम, जिनेवा तथा वेनिस ने एक संघ बना कर स्पेन के शासक फिलिप द्वितीय के सौतेले भाई डॉन जॉन के नेतृत्व में तुर्कों के विरुद्ध एक बहुत बड़ी नौ-सेना भेजी जिसमें २६४ नावें, २,६०० सैनिक एवं ५,००० नाविक थे । इस सेना ने १५७१ ई० में लेपांटो (Lapanto) खाड़ी के युद्ध में तुर्क सेना को बहुत बुरी तरह हराया । यह विजय अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुई । क्योंकि इसने तुर्कों की प्रगति पर रोक लगाने के साथ-साथ पश्चिमी यूरोप को तुर्कों के खतरे से मुक्त कर दिया । लेकिन तुर्क शासक सलीम द्वितीय ने शीघ्र ही १५७३ ई० में क्रीट तथा १५७४ ई० में ट्यूनिस पर पुनः अधिकार कर अपनी अपमानजनक पराजय का बदला ले लिया ।

सन् १५७५ ई० में सलीम द्वितीय की मृत्यु हो गई और उसकी मृत्यु के पश्चात् जिस अशान्ति काल का आरम्भ हुआ वह सन् १६४८ ई० तक चलता रहा । सन् १५७४ ई० से १६४८ ई० के मध्य मुराद तृतीय, मुहम्मद तृतीय, अहमद प्रथम, इब्राहीम और मुराद चतुर्थ आदि गद्दी पर बैठे । इस पूरे युग में अधिकार एवं सत्ता के लिए जो युद्ध चलता रहा था उसका अन्त सन् १६५६ ई० में अल्प-वयस्क सुल्तान मुराद चतुर्थ के समय में मुहम्मद कियूप्रिली के प्रधानमन्त्री नियुद्ध होने के पश्चात् ही हो सका । सन् १६५६ ई० में मुहम्मद कियूप्रिली से प्रधानमन्त्री नियुक्त होने के साथ ही तुर्की के इतिहास में परिवर्तन हुये । क्योंकि मुहम्मद कियूप्रिली और उसके पुत्र अहमद कियूप्रिली के प्रयत्नों से तुर्की साम्राज्य एक बार फिर अपने खोये हुए गौरव को प्राप्त कर सका । मुहम्मद कियूप्रिली अपने प्रधानमन्त्रित्व काल में कठोर अनुशासन

की स्थापना और शान्ति व्यवस्था बनाये रखने के कार्य में संलग्न रहा। उसने राज्य के अन्दर फैले हुए भ्रष्टाचार को दूर करने के उपाय किए गए। राजकोष की वृद्धि के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की गई। इन सबका परिणाम यह हुआ कि १६६१ ई० में मुहम्मद कियूप्रिली की मृत्यु के समय तुर्की (Turkey) एक बार फिर एक प्रमुख एवं महत्वपूर्ण राज्य हो गया।

अहमद कियूप्रिली ने सन् १६६१ ई० से सन् १६७६ ई० तक प्रधानमन्त्रित्व सम्भाला। उसके शासन-काल की विशेषता तुर्की साम्राज्य का अधिकतम विस्तार था। अहमद कियूप्रिली के पश्चात् उसका बहनोई करा मुस्तफा सन् १६७६ ई० में प्रधानमन्त्री चुना गया और उसने सन् १६८३ ई० तक कार्य किया। इसके शासन काल में सन् १६८३ ई० में वियना के घेरे में तुर्कों की पराजय के पश्चात् उस्मान तुर्कों की शक्ति क्षीण होनी आरम्भ हो गयी। तदुपरान्त टोकोली और कियूप्रिली चतुर्थ सन् १६९१ ई० से सन् १६९६ ई० के मध्य प्रधानमन्त्री हुए, परन्तु ये भी तुर्की साम्राज्य की शक्ति को कम होने से न रोक सके और सन् १६९७ ई० में जेन्टा (Zenta) के युद्ध में सेवाय के विरुद्ध तुर्की की पराजय तथा सन् १६९९ ई० में आस्ट्रिया के साथ की जाने वाली कार्लोविट्ज (Carlowitz) की सन्धि के साथ तुर्की साम्राज्य का पतन आरम्भ हो गया।

तुर्की साम्राज्य का पतन

तुर्की साम्राज्य के इतिहास के लिए सन् १६९९ ई० की आस्ट्रिया के साथ की जाने वाली कार्लोविट्ज की इस सन्धि का विशेष महत्व है, क्योंकि एक ओर तो इसी समय से यूरोप में तुर्की साम्राज्य के प्रभाव को आगे बढ़ने देने में सैनिक रोक लग गयी जिसके फलस्वरूप प्रथम श्रेणी के राष्ट्र के रूप में उसका पतन आरम्भ हो गया तथा दूसरी ओर तुर्की साम्राज्य की सीमा के अन्तर्गत विशेषकर बाल्कन प्रायद्वीप में रहने वाले ईसाइयों के मध्य राष्ट्रीयता की भावना का उदय हुआ। सन् १८७८ ई० तक बाल्कन प्रायद्वीप के ग्रीस, सर्बिया, रूमानिया, बल्गारिया और मान्टीनीग्रो (Greece, Serbia, Rumania, Bulgaria and Montenegro) ये पाँच राज्य स्वतन्त्र हो गये। इन राज्यों ने इस प्रकार पूर्वी प्रश्न की समस्या को आरम्भ किया जिसने १९वीं शताब्दी के यूरोपीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक महत्वपूर्ण रूप धारण कर लिया।

१८वीं शताब्दी में आरम्भ होने वाले इस पूर्वी प्रश्न ने तुर्की साम्राज्य को और भी निर्बल कर दिया जिसके कारण १९वीं शताब्दी में तुर्की साम्राज्य का अन्त हो गया। तुर्की साम्राज्य के इस विघटन का अध्ययन तीन भागों में किया जा सकता

है तथा १८ वीं शताब्दी में रूस तथा आस्ट्रिया यह दो ऐसे देश थे जिन्होने तुर्की साम्राज्य के विघटन का पूरा लाभ उठाया।

(i) सन् १६९९ ई० से १७३९ ई० तक :

सन् १६९९ ई० में रूस पर पीटर महान् (Peter the Great) का शासन था। पीटर महान् ने यूरोपीय राजनीति में रूस को महत्वपूर्ण स्थान दिलाने के लिए, यूरोपीय राज्यो के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए और यूरोप के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बनाने के लिए प्रारम्भ से ही अपनी वैदेशिक नीति के अन्तर्गत समुद्रतटीय प्रदेशों पर अधिकार करना अपना लक्ष्य बनाया और इसको वह 'खिड़की खोलने' की नीति के नाम से पुकारता था। पश्चिम और दक्षिण की ओर और बाल्टिक तथा काले सागर स्वीडेन और तुर्की साम्राज्य के अधिकार में थे। रूस के पास ऐसा कोई बन्दरगाह नही था, जो वर्ष भर यातायात के लिए खुला रहे। केवल दक्षिण में स्थित काले सागर का आजोव (Azov) एक ऐसा बन्दरगाह था जो यातायात के लिए खुला रहता था। अजोव तुर्की सुल्तान के नियन्त्रण में था। अतः काले सागर पर प्रभुत्व स्थापन करने और अजोव बन्दरगाह पर अधिकार करने के लिए पीटर ने सन् १६९६ ई० में एक विशाल सेना के साथ अजोव पर आक्रमण कर उसे जीत लिया। रूस और तुर्की के मध्य इस प्रश्न पर युद्ध का अन्त सन् १६९९ ई० की कार्लोविट्ज की सन्धि के साथ हुआ जब तुर्की ने अजोव पर रूसी प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। लगभग ग्यारह वर्षों की शान्ति के पश्चात रूस और तुर्की के मध्य सन् १७१० ई० मे पुनः युद्ध आरम्भ हुआ। जुलाई सन् १७०९ ई० में पीटर ने स्वीडेन के शासक चार्ल्स द्वादश को पॉल्टावा (Poltava) के युद्ध मे पराजित किया तो वह तुर्की सुल्तान की शरण में भाग गया। पीटर ने तुर्की सुल्तान से चार्ल्स को वापस भेजने की माँग की जिसे उसने अस्वीकार कर दिया। अतः नवम्बर सन् १७१० ई० में रूस और तुर्की के बीच युद्ध आरम्भ हो गया। प्रूथ (Pruth) नामक स्थान पर तुर्की सेनाओं ने पीटर को घेर कर उसे बुरी तरह हराया और विवश होकर पीटर को जुलाई सन् १७११ ई० में तुर्की के सुल्तान के साथ प्रूथ की अपमानजनक सन्धि करनी पड़ी। अजोव तुर्कों के अधिकार में चला गया और पीटर को यह वह वादा करना पड़ा कि वह अजोव के निकट के प्रदेश में तुर्कों के विरुद्ध किलेबन्दी नहीं करेगा। इसके साथ ही पीटर को यह आश्वासन भी देना पड़ा कि पौलैण्ड और यूक्रेन (Ukraine) के मामलों में भी हस्तक्षेप नहीं करेगा। यद्यपि इस सन्धि से अस्थायी शान्ति स्थापित हो गयी किन्तु रूस प्रूथ के इस अपमान को नहीं भूला।

रूसी सफलता से प्रभावित होकर तुर्की ने वेनिस पर सन् १७१५ ई० में आक्रमण कर दिया परन्तु आस्ट्रिया ने वेनिस की सहायता कर तुर्कों को पराजित

किया और बेलग्रेड पर विजय प्राप्त की। इंग्लैण्ड और हालैण्ड की मध्यस्थता से सन् १७१८ ई० में तुर्क सुल्तान ने आस्ट्रिया से पसारोविट्ज (Passarovitz) की सन्धि की जिसके अनुसार आर्चीपेलागो प्रदेश तुर्की के अधिकार में चले गये और वैलेशिया (Wallechia) पर आस्ट्रिया का अधिकार हो गया। वैलेशिया पर अधिकार हो जाने से अब आस्ट्रिया पूर्व की ओर साम्राज्य-विस्तार कर सकता था।

इसी बीच रूस ने आस्ट्रिया के साथ सन् १७२६ ई० में सन्धि कर ली और निकट पूर्व में अपना प्रभाव स्थापित करना चाहा। इस आस्ट्रो-रूसी सन्धि का तुर्की साम्राज्य पर विशेष प्रभाव पड़ा क्योंकि उसका रुका हुआ विघटन फिर आरम्भ हो गया। सन् १७३३ ई० तक विभिन्न युद्धों (यथा पोलैण्ड और फारस) में भाग लेने के कारण तुर्की साम्राज्य की सैनिक शक्ति और भी कम हो गयी, जिसका लाभ उठाकर आस्ट्रिया और रूस ने सन् १७३६ ई० में तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस युद्ध में भी आस्ट्रिया और रूस को अन्त में असफल होना पड़ा और आस्ट्रिया तथा रूस ने सन् १७३९ ई० में क्रमशः बेलग्रेड (Belgrade) और कुस्तुनतुनियाँ (Constantinople) की सन्धियाँ कर लीं। बेलग्रेड की सन्धि के अनुसार आस्ट्रिया को तुर्की को बेलग्रेड, अरसोवा, सर्बिया, वैलेशिया तथा अन्य प्रदेश वापस करने पड़े और कुस्तुनतुनियाँ की सन्धि के अनुसार रूस को आजोव के अतिरिक्त अन्य सभी जीते हुये प्रदेश वापस करने पड़े और अजोव की किलेबन्दी को समाप्त करना पड़ा। ये उपर्युक्त सन्धियाँ फ्रांस के प्रयत्नों से हुई थीं जिसका फ्रांस को आगे चल कर बहुत लाभ हुआ। दूसरे शब्दों में फ्रांस के द्वारा ही सन् १७३९ ई० में पतनशील तुर्की साम्राज्य को नवजीवन प्रदान किया गया और इस सहायता के लिए तुर्की सुल्तान द्वारा फ्रांस को विभिन्न व्यापारिक सुविधाएँ प्रदान की गयीं।

(ii) सन् १७३९ ई० से १७७४ ई० तक :

तुर्की साम्राज्य के विघटन के इतिहास के इस द्वितीय युग की मुख्य विशेषता सन् १७६८ ई० से आरम्भ होने वाला रूस-तुर्की युद्ध है। तुर्की सुल्तान तथा रूस के बीच इस युद्ध का कारण रूस द्वारा पोलैण्ड के कुछ नेताओं का तुर्की साम्राज्य की सीमा के भीतर पीछा किया जाना था। यद्यपि सीमा के इस अतिक्रमण के लिए आस्ट्रिया ने तुर्की सुल्तान से क्षमा याचना कर ली थी, परन्तु फ्रांस के कहने पर उसने सन् १७६८ ई० में रूस के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। यह युद्ध सन् १७७४ ई० तक चलता रहा और इसके द्वारा तुर्की साम्राज्य की विपन्नता और दुर्बलता स्पष्ट हो गयी। तुर्कों को रूस के साथ होने वाले प्रत्येक युद्ध में पराजित होना पड़ा और अजोव, माल्डेविया (Maldavia), वैलेशिया (Wallechia) तथा बुखारेस्ट (Bucharest) रूस के प्रभाव में चले गये। दूसरी ओर रूस की शासिका कैथरीन द्वितीय के उकसाने पर

यूनान ने भी तुर्की के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। तुर्की सुल्तान की इस विपन्न अवस्था को देख आट्रिया ने उसकी सहायता करनी चाही लेकिन प्रशा के फ्रेडरिक महान् के कहने पर वह पीछे हट गया। इस युद्ध का अन्त सन् १७७४ ई० में कुचुक—कैनार्जी (Kutchuk-Kainardji) की सन्धि के द्वारा हुआ जिसके अनुसार अजोव बन्दरगाह तथा काले सागर के उत्तर के सभी प्रदेश रूस का मिले; बसरेबिया, वैलेशिया, माल्डेविया और आर्चीपेलागो तुर्की अधिकार मे वापस चले गये; रूस को कृष्ण सागर में जहाजरानी के पूरे अधिकारों के साथ तुर्की के अधीन बन्दरगाहों को इस्तेमाल करने की सुविधा मिली और रूस को कुस्तुन्तुनियाँ के ईसाई चर्च के संरक्षण के अतिरिक्त रूसी ईसाइयों को जेरूसलम जाने की सुविधा प्राप्त हुई।

(iii) **सन् १७७४ ई० से १७९२ ई० तक :**

इस युग की विशेषता सन् १७८१ ई० में और रूस एवं आस्ट्रिया के साथ पुनः मैत्री सन्धि और तुर्की साम्राज्य के महत्व का अन्त है। आस्ट्रिया के शासक जोसेफ द्वितीय ने जर्मनी के प्रति अपनी नीति में असफल होकर रूसी शासिका कैथरीन के साथ मिलकर तुर्की-साम्राज्य पर आक्रमण करना चाहा। रूस और आस्ट्रिया के बीच सन् १७८१ ई० में एक सन्धि के द्वारा यह निश्चय किया गया कि कैथरीन के द्वारा डैन्यूब नदी के तटवर्ती बाल्कन प्रदेशों तक एक यूनानी साम्राज्य की स्थापना की जायेगी और पश्चिम बाल्कन प्रदेश जोसेफ द्वितीय के अधिकार में चले जायेंगे। सन् १७८८ ई० में क्रीमिया के खेरसन नामक स्थान पर जोसेफ द्वितीय और कैथरीन की भेंट होने पर तुर्की सुल्तान बहुत भयभीत हुआ और उसने रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। रूस का साथ देते हुए जोसेफ द्वितीय ने बेलग्रेड पर अपना अधिकार कर लिया और इसके पहले कि वह कोई नये आक्रमण की योजना बनाता उसे आस्ट्रिया के भीतरी भागों में उठती हुई समस्याओं के कारण अपनी सेना वापस बुला लेनी पड़ी। दूसरी ओर रूस भी आगे बढ़ता गया और इसके पहले कि रूस तुर्की साम्राज्य को विनष्ट करता इंग्लैण्ड, हालैण्ड और प्रशा के हस्तक्षेप से सन् १७९२ ई० में रूस के साथ सन्धि हो गयी और उस्मान तुर्कों का साम्राज्य नष्ट होने से बच गया। इस सन्धि के द्वारा नीस्टर नदी (Dneister) को रूस तथा तुर्की के बीच की सीमा माना गया और दक्षिण की ओर प्राकृतिक सीमा प्राप्त हो जाने से रूस काले सागर के क्षेत्र का एक महान् राज्य समझा जाने लगा। रूस को चर्च का संरक्षक होने के कारण तुर्की के आन्तरिक मामलों में दखल देने का अधिकार भी प्राप्त हो गया जिसके फलस्वरूप तुर्की साम्राज्य विनाश की ओर तेजा के साथ बढ चला।

तुर्की साम्राज्य के पतन के कारण :

तुर्की साम्राज्य के पतन के निम्नलिखित मुख्य कारण बताये जा सकते हैं :

मुख्य रूप से तुर्की सुल्तान यूरोप के देशों के लिए एक विजेता थे और यूरोप के विभिन्न भागों को अधिकृत करने के पश्चात् भी जनता के बीच में उनको लोकप्रियता न मिल सकी। फलतः यूरोप के निवासियों ने एक विदेशी की दृष्टि से ही इन तुर्कों को देखा।

तुर्की साम्राज्य के पतन का एक कारण तुर्की सैनिकों का धार्मिक उद्देश्य (जिहाद) का नारा लगाकर युद्ध करना भी था। तुर्क सैनिक यद्यपि 'जिहाद' का नारा लगाकर या धार्मिक भावनाओं को उभाड़कर युद्ध किया करते थे, परन्तु उसके पश्चात् फिर वे अपने प्रदेशों की तरफ ध्यान नहीं देते थे।

तुर्की साम्राज्य के पतन का एक अन्य कारण ईसाई व्यक्तियों के प्रति तुर्क शासकों का निम्न व्यवहार था जिससे यूरोप के लगभग सभी ईसाई तुर्कों के विरुद्ध हो गये।

तुर्की साम्राज्य के पतन का चौथा कारण १८वीं शताब्दी के शासकों का विलासप्रिय होना था। साम्राज्य के पतन का अन्तिम एवं महत्वपूर्ण कारण सेना की बढ़ती हुई अनुशासनहीनता थी जो शासन के भ्रष्टाचार का परिणाम था।

तुर्क साम्राज्य की शासन व्यवस्था :

उस्मान तुर्कों की शासन व्यवस्था सैनिक शासन-तन्त्र पर आधारित थी। साम्राज्य के अन्दर सुल्तान सर्वोच्च होने के साथ-साथ साम्राज्य की विभिन्न जातियों की प्रजा की एकता का प्रतीक भी था। साम्राज्य में ईसाइयों की दशा अच्छी नहीं थी और उनसे निम्न व्यवहार किया जाता था। इन ईसाइयों को समाज में कोई अधिकार नहीं प्राप्त थे। इन्हें राज्य को अधिक कर भी देना पड़ता था। तुर्क अपने को उच्चवर्ग के रूप में समझते थे और सभी अधिकारों से युक्त थे। शासन के क्षेत्र में सुल्तान को ही युद्ध एवं सन्धि का अधिकार था और समय-समय पर उसके द्वारा दिए जाने वाले आदेश ही कानून का रूप धारण करते थे। एक अंगरक्षक-सेना का निर्माण भी किया गया था जिसे जैनिसरी कहा जाता था। बहुत दिनों तक यह सेना शासक (सुल्तान) की शक्ति का प्रमुख आधार थी लेकिन आगे चलकर यह तुर्क साम्राज्य के पतन में भी एक सहयोगी कारण सिद्ध हुयी।

अध्याय १६

इंग्लैण्ड

(ENGLAND)

ट्यूडर राजवंश :

(Tudors, 1485—1603) :

१५ वीं शताब्दी से आरम्भ होने वाले इग्लैण्ड के इतिहास का आधुनिक यूरोप के इतिहास में एक विशेष महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इस समय तक इंग्लैण्ड मे निम्न विचारधाराएँ स्पष्ट रूप से दिखाई दे रही थीं। इग्लैण्ड की साधारण जनता के मध्य राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की भावना गहरी जड़ पकड़ चुकी थी। देश की पार्लियामेण्ट (Parliament) अपनी शक्ति को उत्तरोत्तर वढ़ाने के लिए प्रयत्नशील थी तथा राज्य के सामन्त (Nobles) अपने परम्परागत अधिकारों को अक्षुण्ण बनाये रहने के लिये प्रयत्नशील थे। इन परिस्थितियों में सन् १४८५ ई० में ट्यूडर राजवंश का सत्ता अधिग्रहण इंग्लैण्ड के इतिहास में एक परिवर्तन-बिन्दु सिद्ध हुआ। राबर्ट रेनर के अनुसार ट्यूडर राजवंश इंग्लैण्ड के इतिहास के मध्य युग के अन्त एवं आधुनिक युग के इतिहास के आरम्भ होने का सूचक है।

हेनरी सप्तम (Henry VII, 1485–1509) :

ट्यूडर वंश का संस्थापक हेनरी सप्तम, यॉर्क (York) एवं लंकास्टर (Lancaster) घरानों के मध्य सत्ता के प्रश्न पर आरम्भ होने वाले 'गुलाबों के युद्ध' (War of Roses) में विजयी होने के पश्चात् ३० अक्तूबर सन् १४८५ ई० को इंग्लैण्ड की राजगद्दी पर बैठा। हेनरी सप्तम को इंग्लैण्ड के नवयुग का प्रतिनिधि कहा जाता है। अन्तर्राजवंशीय वैवाहिक सम्बन्ध तथा सामाजिक चेतना के फलस्वरूप नवीन ज्ञान, जनशक्ति की वृद्धि, स्थायी सरकार की स्थापना एवं वैधानिक विकास इसके काल की प्रमुख विशेषतायें थीं।

गृह नीति ;

हेनरी सप्तम के शासनकाल की मुख्य समस्यायें इस प्रकार थीं। सर्वप्रथम समस्या यॉर्क एवं लंकास्टर घराने के बीच चली आ रही संघर्ष एवं प्रतिद्वन्दिता की भावना को समाप्त करने की थी। राज्य के अन्दर होने वाले विद्रोह और उसके फलस्वरूप फैलने वाली अशान्ति तथा अव्यवस्था भी एक समस्या थी। इसी प्रकार

इंग्लैण्ड पर ट्यूडर राजवंश का सुदृढ़ अधिकार और निरंकुश राजतंत्र की स्थापना एक अन्य समस्या थी। अन्तिम समस्या राज्य का रिक्त-कोष था। इन समस्याओं को दूर करने के लिए हेनरी सप्तम ने अनेक उपायों को अपनाया। सन् १४८६ ई० में यॉर्कवंश के एडवर्ड चतुर्थ की पुत्री एलिजाबेथ से विवाह कर हेनरी ने दोनो घरानों के बीच चली आ रही संघर्ष एवं प्रतिद्वन्दिता की भावना को समाप्त कर दिया। राजवंश का अधिकार सुदृढ़ करने तथा देश के अन्दर फैली हुई अशान्ति और अव्यवस्था को दूर करने के लिए अनेक विद्रोहों का दमन किया गया। इसके अतिरिक्त सामन्तों के परम्परागत अधिकारों को कम करने के लिए सन् १४८७ ई० में एक कानून बनाया गया और अपराधी सामन्तों को दण्ड देने के लिए 'कोर्ट ऑव स्टार चैम्बर' की स्थापना की गयी। निरंकुश राजतन्त्र को स्थापित करने के लिए हेनरी ने सामन्तो के स्थान पर समाज के मध्यवर्ग को प्रोत्साहन देना आरम्भ किया तथा दरबार मे सामन्तों के स्थान पर इस वर्ग के प्रतिनिधि अधिक संख्या में नियुक्त किये जाने लगे। इस प्रकार यह मध्यवर्ग राजा का समर्थक हो गया।

राज्य के रिक्त कोष की पूर्ति के उपाय किये गये। साहूकारों से लम्बे समय के लिये ऋण लिया गया। शासक को प्राप्त होने वाले सामायिक भेंट, उपहार और निस्सन्तान मरने वाले सामन्त अथवा धनी व्यक्ति की जमीन-जायदाद की जब्ती राज्यकोष की पूर्ति का एक अन्य साधन था। लेकिन राज्य की आय का सबसे बड़ा साधन हेनरी सप्तम द्वारा साम्राज्य के वाणिज्य और विकास की ओर ध्यान दिया जाना था क्योंकि वह इस तथ्य को जानता था कि व्यापार और वाणिज्य की उन्नति पर ही राज्य की समृद्धि निर्भर करती है। इंग्लैण्ड में बनी वस्तुओं के निर्यात तथा नई व्यापारिक मण्डियों की खोज के लिए हेनरी सप्तम ने अनेक देशो के साथ व्यापारिक सन्धियाँ की। जहाजरानी उद्योग को प्रोत्साहन दिया गया जिसके फलस्वरूप बड़े-बड़े जहाजों का निर्माण आरम्भ हुआ। इस प्रकार व्यापारिक वृद्धि के साथ-साथ इंग्लैण्ड की सामुद्रिक शक्ति भी बढ़ने लगी।

वाह्य नीति :

इस सम्बन्ध में हेनरी सप्तम का मुख्य उद्देश्य इंग्लैण्ड को यूरोप में एक महत्वपूर्ण स्थान दिलाना और इंग्लैण्ड की प्रतिष्ठा बढ़ाना था। एक व्यवहार कुशल शासक होने के कारण महाद्वीपीय स्थिति का अध्ययन कर हेनरी ने आक्रामक एवं अन्तर्राष्ट्रीय तथा अर्न्तवन्शीय विवाह दोनों ही प्रकार की नीतियाँ अपनायीं। आक्रामक नीति के अन्तर्गत फ्रांस और इटली पर इंग्लैण्ड द्वारा आक्रमण किया गया। वैवाहिक सम्बन्धों में स्पेन की राजकुमारी कैथरीन के साथ ज्येष्ठ पुत्र आर्थर का विवाह कर देने से हैप्सबर्ग वंश के साथ हेनरी के सम्बन्ध दृढ़ हो गये। इसी प्रकार स्काटलैण्ड के

जेम्स चतुर्थ के साथ पुत्री मार्गरेट का विवाह भी स्काटलैण्ड और इंग्लैण्ड के सम्बन्धों को दृढ़ बनाने में सहायक हुआ। रोम के पोप के साथ भी हेनरी ने सौजन्यपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखा।

चौबीस वर्षों के शासन के उपरान्त २१ अप्रैल, सन् १५०६ ई० को हेनरी सप्तम की मृत्यु हो गयी। हेनरी द्वारा किये गये विविध उपायों के कारण उसकी मृत्यु के समय तक इंग्लैण्ड न केवल आन्तरिक दृष्टि से मजबूत हो गया था, अपितु यूरोप के राष्ट्रों के मध्य भी उसका एक महत्वपूर्ण स्थान था।

हेनरी अष्टम (Henry VIII, 1509—1547) :

हेनरी अष्टम सन् १५०६ ई० में इंग्लैण्ड की गद्दी पर बैठा। वह हेनरी सप्तम का अठारह वर्षीय पुत्र था। हेनरी अष्टम एक कुशल, साहसी, चतुर एवं प्रबल इच्छा-शक्ति रखने वाला शासक था। 'एडवांस्ड हिस्ट्री ऑव् ग्रेट ब्रिटेन (भाग ३)' के अनुसार "हेनरी अष्टम दूसरों के व्यक्तित्व का कुशल पारखी था तथा अत्यन्त बुद्धिमानी के साथ अपने मन्त्रियों का चयन कर उनसे अधिकाधिक लाभ उठाया था। साथ ही वह स्वार्थी, हृदयहीन तथा लालची भी था। दयालुता और कोमलता उसमें नाम-मात्र को भी नहीं थी। उसका स्वभाव रूखा था एवं अपने जीवन के अन्तिम काल में वह क्रूर एवं अत्याचारी हो गया था। इतना होने पर भी उसने अपनी प्रजा के प्रेम को कभी नहीं खोया तथा अन्तिम समय में भी उसमें जैसी कार्य-शक्ति एवं उद्देश्य प्राप्ति की भावना विद्यमान थी।"

हेनरी अष्टम के शासन-काल को विदेश नीति से सम्बन्धित प्रथम बीस वर्ष (सन् १५०६—१५२८ ई०) और धर्म-सुधार आन्दोलन से सम्बद्ध शासन के अन्तिम वर्ष (सन् १५२६—१५४७ ई०) इन दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।

वाह्य-नीति :

हेनरी अष्टम ने अपने पिता की नीति का परित्याग कर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इंग्लैण्ड का सम्मान एवं गौरव और भी अधिक बढ़ाने के लिए यूरोपीय महादेशों के मामलों में सक्रिय रूप से भाग लेने की नीति अपनायी। उसके सुयोग्य मन्त्री कार्डिनल वूल्जे ने भी हेनरी की नीति को सफल बनाने में अपना पूरा सहयोग दिया। यह नीति 'शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त' (Balance of Power) की थी। इसके अनुसार यूरोप में एक सी स्थिति बनाये रखने के लिये तथा इंग्लैण्ड की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न न होने देने के लिए शक्तिशाली राज्यों के विरुद्ध दुर्बल राज्यों को इंग्लैण्ड के द्वारा सहायता देने की नीति अपनायी गयी।

'शक्ति-सन्तुलन' की इस नीति के अन्तर्गत स्पेन और फ्रांस के मध्य होने वाले संघर्ष में पहले तो फ्रांस के विरुद्ध स्पेन की इंग्लैण्ड ने सहायता की किन्तु सन् १५१३ ई० में कैले के युद्ध में पराजित होने और स्काटलैण्ड के प्रश्न पर इंग्लैण्ड के साथ सन्धि कर लेने के पश्चात् फ्रांस के शासक और हेनरी मित्र हो गये और अब हेनरी ने स्पेन का विरोध आरम्भ किया। आयरलैण्ड में भी इसी समय हेनरी के विरुद्ध विद्रोह हो गया। हेनरी ने अत्यन्त कठोरतापूर्वक इस विद्रोह का दमन का आयरलैण्ड की पार्लियामेन्ट को इसके लिए बाध्य किया कि वह उसे इंग्लैण्ड के साथ-साथ आयरलैण्ड का शासक मान ले।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि फ्रांस और स्पेन के प्रति शक्ति-सन्तुलन और आयरलैण्ड के प्रति कठोरता की नीति अपना कर हेनरी अष्टम अपनी पर-राष्ट्र नीति में सफल रहा और सन् १५२८ ई० तक इंग्लैण्ड यूरोप का एक प्रमुख राष्ट्र बन गया।

धार्मिक नीति :

हेनरी अष्टम की धार्मिक नीति का आरम्भ मुख्य रूप से रानी कैथरीन को तलाक देने के प्रश्न पर हुआ। कैथरीन स्पेन की हैप्सबर्गीय राजकुमारी थी जिसका विवाह हेनरी अष्टम के बड़े भाई आर्थर के साथ हुआ था। आर्थर की मृत्यु के उपरान्त उसका विवाह हेनरी अष्टम के साथ हुआ। कैथरीन के निस्सन्तान होने के कारण कुछ तो इंग्लैण्ड के राजवंश को आगे चलाने के कारण और कुछ एक अन्य स्त्री एनीबोलेन से प्रेम करने के कारण हेनरी उसे तलाक देना चाहता था। इस प्रकार राजनीतिक एवं व्यक्तिगत दोनों ही कारण तलाक के लिए उपस्थित हो गये थे। इंग्लैण्ड के कानून के अनुसार शासक एक स्त्री के रहते दूसरा विवाह नहीं कर सकता था और तलाक की अनुमति केवल पोप के द्वारा ही प्रदान की जा सकती थी। इस आधार पर सन् १५२८ ई० में हेनरी ने पोप से कैथरीन को तलाक देने की आज्ञा चाही। पोप तलाक की अनुमति देने में काफी लम्बे समय तक हिचकिचाता रहा क्योंकि कैथरीन के स्पेन के शासक चार्ल्स पंचम के निकट सम्बन्धी होने और चार्ल्स पंचम के पवित्र रोमन सम्राट् होने के कारण एवं हेनरी अष्टम के 'धर्मरक्षक' (Defender of Faith) की उपाधि के कारण वह दोनों में किसी को भी असन्तुष्ट नहीं करना चाहता था। अतः १५३२ ई० में हेनरी अष्टम ने पोप के साथ सम्बन्ध विच्छेद कर 'इंग्लैण्ड के चर्च' के नाम से नया चर्च स्थापित किया और राजनीति के साथ-साथ धार्मिक अधिकार भी ग्रहण कर लिया। अब 'इंग्लैण्ड के अन्दर धर्म एक नये रूप में विकसित होने लगा और यहीं से इंग्लैण्ड के चर्च' (Church of England or Anglican Church) का इतिहास आरम्भ होता है।

सन् १५४७ ई० में हेनरी अष्टम की मृत्यु हो गयी। वह निरंकुश शासक होते हुए भी दृढ़ संकल्प रहने वाला और प्रजा स्नेही व्यक्ति था। इस कारण उसे पूरे शासन काल में प्रजा का स्नेह मिला और वह अपने सुधार कार्यों को पूरा कर सका। समीक्षा के रूप में कहा जा सकता है कि उसका शासनकाल रक्त रंजित होते हुए भी शान्ति और समृद्धि का काल था।

एडवर्ड षष्ठ (Edward VI, 1547-1553) **और**

मेरी ट्यूडर (Mary Tudor, 1553-1558) :

हेनरी अष्टम की मृत्यु के पश्चात् क्रमशः एडवर्ड षष्ठ (सन् १५४७-१५५३ ई०) तथा मेरी ट्यूडर (सन् १५५३ ई० – १५५८ ई०) ने इंग्लैण्ड पर शासन किया। इन दोनों के शासनकाल में आन्तरिक उथल-पुथल के कारण इंग्लैण्ड का अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में गौरव कम हो गया। यदि एडवर्ड के शासनकाल में इंग्लैण्ड का झुकाव प्रोटेस्टेण्ट राज्यों की ओर रहा तो उसके उत्तराधिकारी मेरी ट्यूडर के शासन युग में स्थिति विपरीत हो गयी। मेरी ने एक बार पुनः कैथोलिक धर्म के पुनरुत्थान का प्रयत्न किया।

एलिजाबेथ (Elizabeth, 1558—1603) :—

मेरी ट्यूडर की मृत्यु के उपरान्त १६ नवम्बर, सन् १५५८ ई० को हेनरी अष्टम् और एनी बोलेने की पुत्री एलिजाबेथ प्रथम (Elizabeth I) के नाम से इंग्लैण्ड की राजगद्दी पर बैठी। उसका राज्यारोहण अत्यन्त विषम परिस्थितियों में हुआ। इग्लैण्ड पतनोन्मुखी अवस्था में था। पूर्ववर्ती शासक एडवर्ड षष्ठ और मेरी ट्यूडर के शासनकाल में होने वाले आन्तरिक उथल-पुथल के कारण देश अव्यवस्थित था, व्यापारिक विकास अवरुद्ध हो गया था, देश की आर्थिक अवस्था डाँवाडोल थी, सैनिक शक्ति का ह्रास हो गया था एवं शासक को अच्छे सलाहकार भी उपलब्ध नहीं थे। एलिजाबेथ ने अपने ४५ वर्षों के लम्बे शासनकाल में उपर्युक्त समस्याओं और कठिनाइयों का अत्यन्त चतुरता एवं सफलतापूर्वक समाधान किया और इसीलिए उसे १६वीं शताब्दी का एक श्रेष्ठ शासक कहा जाता है। एक विवेकशील और साहसी रानी होने के कारण उसने एक अत्यन्त सुसंगठित और सुव्यवस्थित शासन की व्यवस्था करके इंग्लैण्ड से अराजकता का अन्त किया एवं देश को विकास और उन्नति के पथ पर आगे बढ़ाया। उसके चरित्र का वर्णन करते हुए एक इतिहासकार ने लिखा है, "वह स्पष्ट विचारवाली, दूरदर्शी, योग्य तथा शक्तिशालिनी थी। अधिकारों के प्रयोग में उसको अत्यन्त आनन्द मिलता था। वह शासन करने के लिए इतनी आतुर थी कि इस दिशा में वह अपने पति के हस्तक्षेप को भी सहन करने के लिए तैयार नहीं

थी। जहाँ एक ओर उसमें अपने पिता का साहस और कूटनीतिज्ञता भरी हुई थी वहाँ दूसरी ओर उसमें उसकी माता का चंचल स्वभाव भी विद्यमान था।"

गृह नीति एवं सुधार कार्य :

धर्म के सम्बन्ध में एलिजाबेथ ने उदार धार्मिक व्यवस्था एवं उदार चर्च-व्यवस्था का सिद्धान्त अपनाया। व्यक्तियों को अपना धर्म चुनने का अधिकार था। यद्यपि एलिजाबेथ का झुकाव प्रोटेस्टेण्ट मत की ओर अधिक था, परन्तु इस कारण कैथोलिक मतावलम्बियों को राज्य की ओर से धर्मपालन की मनाही नहीं थी। कैथोलिक मत का व्यक्ति राज्य को कुछ धन कर के रूप में देकर अपने धर्म का पालन कर सकता था। धार्मिक-समझौते की इस नीति ने चर्च-व्यवस्था को मजबूत करने में सहायता प्रदान की। इसके अतिरिक्त धार्मिक-समझौते की इस नीति के कारण ही इंगलैण्ड में अन्य यूरोपीय देशों की भाँति धार्मिक युद्ध नहीं हुये और देश में शान्ति एवं व्यवस्था बनी रही। इस प्रकार एलिजाबेथ अपनी नीति के पालन में सफल रही यद्यपि आगे चलकर स्टुअर्ट काल में यह शान्ति स्थापित नहीं रह सकी।

आर्थिक नीति :

आर्थिक क्षेत्र में एलिजाबेथ ने इंग्लैण्ड को आर्थिक दृष्टिकोण से सम्पन्न बनाने का प्रयत्न किया। क्योंकि एलिजाबेथ ने यह समझ लिया था कि देश के आर्थिक विकास को बढ़ा कर ही इंग्लैण्ड को यूरोप में महत्वपूर्ण स्थान दिलाया जा सकता है। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए औपनिवेशिक विस्तार की ओर ध्यान दिया गया। व्यवसाय और वाणिज्य की वृद्धि की ओर भी ध्यान दिया गया। देश में नये-नये उद्योग-धन्धे स्थापित किये गये और सन् १६०० ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की गई जिसका मुख्य कार्य पूर्वीय देशों तथा भारतवर्ष के साथ व्यापार करना था।

देश के कृषकों की व्यवस्था में सुधार करने तथा कृषि को बढ़ाने के उपाय भी किये गये। इन सब सुधारों के परिणामस्वरूप एलिजाबेथ के शासनकाल में इंग्लैण्ड आर्थिक क्षेत्र में समृद्धिशाली हो गया। सन् १५८८ ई० में स्पेनी जल-बेड़े (Spanish Armada) में को पराजित करने के पश्चात् इंग्लैण्ड की सामुद्रिक शक्ति बहुत बढ़ गई और जहाजरानी (Shipping) का विकास हुआ। इसका परिणाम भी इंग्लैण्ड के व्यापारिक विकास में हितकर सिद्ध हुआ।

विदेश नीति :

इस सम्बन्ध में एलिजाबेथ का मुख्य उद्देश्य फ्रांस और स्पेन की समक्ष इंग्लैण्ड की स्वतन्त्रता को बनाये रख कर यूरोप में उसे महत्वपूर्ण और सम्मानित पद का

अधिकारी बनाना था । इसके लिये उसने इस प्रकार की नीति को अपनाया जिससे स्पेन और फ्रांस एक दूसरे के विरोधी बने रहे और उनकी इस प्रतिद्वन्दिता का पूरा लाभ इंग्लैण्ड उठा सके । यह नीति 'शक्ति सन्तुलन' (Balance of Power) की नीति थी । इस नीति को अपनाते हुये स्काटलैण्ड, फ्रांस तथा स्पेन के साथ एलिजाबेथ ने समय-समय पर अपने सम्बन्धों में परिवर्तन किये । स्काटलैण्ड की शासिका मेरी को उसके द्वारा एलिजाबेथ के विरुद्ध किये जाने वाले षडयन्त्रों के कारण १५८७ ई० में फांसी दे दी गई । अब स्काटलैण्ड इंग्लैण्ड के नियन्त्रण में आ गया । स्पेन के प्रति इंग्लैण्ड ने व्यापारिक तथा अन्य कारणों से पहले तो युद्ध नहीं करना चाहा लेकिन जब स्पेन के शासक फिलिप ने इंग्लैण्ड पर आक्रमण की योजना बनाई तो युद्ध अनिवार्य हो गया । सन् १५८८ ई० में फिलिप ने १३० जहाजों, १६ हजार सैनिकों तथा आठ हजार नाविकों की एक विशाल जल सेना इंग्लैण्ड को हराने के उद्देश्य से इंगलिश चैनल की ओर रवाना की । इस सेना को 'आरमेडा' (Armada) नाम दिया गया । २६ जुलाई, सन् १५८८ में इंग्लैण्ड की जल सेना ने 'इंगलिश चैनल के युद्ध' में स्पेनिश 'आरमेडा' को बुरी तरह हराया । वापस लौटते समय प्राकृतिक कोप से स्पेन के जहाजों को और भी नुकसान पहुँचा । 'आरमेडा' की पराजय से स्पेन के नौ सैनिक प्रभुत्व की समाप्ति हो गई, इंग्लैण्ड सामुद्रिक क्षेत्र में सर्वोपरि हो गया तथा यूरोपीय राजनीति का इंग्लैण्ड अब प्रमुख केन्द्र बन गया । फ्रांस के साथ इंग्लैण्ड ने बराबर अच्छा सम्बन्ध बनाए रखा । इसमें उसे फ्रांसीसी जनता की सहायता भी मिली जो स्पेन के विरुद्ध रहा करती थी । अन्ततः यह कहा जा सकता है कि एलिजाबेथ अपनी वैदेशिक नीति के परिपालन में सफल रही ।

मृत्यु :

पैंतालीस वर्ष के दीर्घ शासन के उपरान्त मार्च सन् १६०३ ई० में एलिजाबेथ की मृत्यु हो गई और ट्यूडर राजवंश का अन्त हो गया ।

एलिजाबेथ के युग की सांस्कृतिक प्रगति :

एलिजाबेथ के शासन काल में साहित्य एवं कला के क्षेत्र में अत्यधिक विकास हुआ । प्राचीन बन्धनों को तोड़ कर नये संसार में प्रवेश पाने के लिए इस युग के इंग्लैण्ड के साहित्य में जिस नयी प्रवृत्ति का जन्म हुआ उसे 'एलिजाबेथ युग का साहित्य' (Elizabethan Literature) कहा जाता है । इस युग के साहित्य की विशेषताएँ मस्तिष्क की जागरूकता, आनन्दमय दृष्टिकोण, प्राचीन बन्धनों का त्याग और देश-भक्ति आदि थी ।

इस युग का सर्वप्रसिद्ध साहित्यकार विलियम शेक्सपियर (William Shakespeare) एक कवि, नाटककार एवं उपन्यासकार तीनों ही था । उसने लगभग चालीस

नाटक एक सौ पचास 'सोनेट' (Sonnet) और दो लम्बी कविताओं की रचना की। लेकिन उसकी प्रसिद्धि का मुख्य आधार उसके द्वारा लिखे गये नाटक हैं जिनको कथानक के आधार पर तीन भागों में बाँटा जा सकता है। पहले वर्ग में प्रचलित साहित्यिक परम्परा के अनुसार लिखे गये नाटकों को रखा जा सकता है यथा 'मिड समर नाइट्स ड्रीम' (Mid Summer Night's Dream)। द्वितीय वर्ग में 'जूलियस सीजर' (Julius Caesar) आदि आते हैं जिनकी रचना ऐतिहासिक कथानक के आधार पर की गयी। अन्तिम वर्ग उन नाटकों का है जो प्रेम-कथानक के आधार पर लिखे गये यथा रोमियो और जूलियट (Romeo and Juliet)। शेक्सपियर ने अपनी कविताओं में भी मुख्य रूप से प्रेम-कथानकों को आधार बनाया। शेक्सपियर ने जिन पात्रों का सृजन किया वे जीती-जागती तस्वीरों की तरह हमारे ऊपर प्रभाव डालते हैं। उसकी रचनाओं से देश-प्रेम और देश-भक्ति का परिचय भी मिलता है। मानवीय भावों की अभिव्यक्ति उसने अत्यन्त सरल भाषा में की। वस्तुतः इन्हीं सब काव्यगत विशेषताओं के कारण शेक्सपियर को किसी एक काल में सीमित नहीं, अपितु सार्वभौमिक साहित्यकार कहा जाता है।

शेक्सपियर के अतिरिक्त इस युग के अन्य साहित्यकारों में नाटककार वेबस्टर, फोर्ड, चेपमेन, तथा गद्यकार बेन जॉनसन, एडमण्ड स्पेंसर, जॉन लिली, सर फिलिप सिडनी और हूकर आदि के नाम लिए जा सकते हैं जिन्होंने इंग्लैण्ड के गद्य-साहित्य को समृद्धिशाली बनाया। गद्य के अतिरिक्त इस युग मे गीति-काव्य का भी विकास हुआ। कैंपियन, लॉज तथा हेपवुड इस युग के प्रसिद्ध गीतिकार थे।

साहित्य के अतिरिक्त संगीत के क्षेत्र में भी उन्नति हुई। टामस बायर्ड इस युग का प्रसिद्ध संगीतकार था। इस साहित्यिक प्रगति का प्रभाव कला-कौशल पर भी पड़ा। वास्तुकला एवं चित्रकला का विकास हुआ। नये-नये भवनों के निर्माण होने के कारण लन्दन इंग्लैण्ड का आकर्षक शहर बन गया।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि सभी क्षेत्रों में बहुमुखी विकास होने के कारण एलिजाबेथ को सोलहवीं शती की श्रेष्ठ शासिका एवं उसके शासन काल को इंग्लैण्ड के इतिहास का स्वर्णयुग कहा जाता है। इसी युग में इंग्लैण्ड की भावी महत्ता की नींव पड़ी, अतः एलिजाबेथ का यह शासन-युग इंग्लैण्ड के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है।

सम्पूर्ण ट्यूडर वंश की समीक्षा के तौर पर संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सन् १४८५ ई० से सन् १६०३ ई० के मध्य ट्यूडर-वंशी शासकों ने वाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा तथा यूरोपीय राजनीति में सक्रिय भाग लेकर इंग्लैण्ड के गौरव

तथा आन्तरिक क्षेत्र में शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना कर देश को आर्थिक समृद्धि के मार्ग पर आगे बढ़ाया।

स्टुअर्ट वंश

(Stuarts, 1603—1714)

सन् १६०३ ई० में एलिजाबेथ की मृत्यु के पश्चात् स्काटलैण्ड का शासक जेम्स षष्ठ इंग्लैण्ड के राजसिंहासन पर जेम्स प्रथम के नाम से आसीन हुआ। जेम्स प्रथम के सिंहासनारोहण से इंग्लैण्ड के इतिहास में स्टुअर्ट वंश के शासन के साथ-साथ एक नये युग का आरम्भ होता है। यह नया युग सत्रहवीं शताब्दी में चलने वाला शासक और पार्लियामेण्ट के मध्य संघर्ष का था। रैम्जे म्योर (Ramsay Muir) के अनुसार, "स्टुअर्ट युग में पार्लियामेण्ट को नये अधिकार प्राप्त करने की कोई इच्छा नहीं थी और न वह किसी नये अधिकार की माँग ही कर रही थी।" वस्तुतः सत्रहवीं शताब्दी के इस संघर्ष का मुख्य उद्देश्य पार्लियामेण्ट द्वारा अपने परम्परागत अधिकारों की रक्षा करना था। संसद सदस्य संविधान में बिना कोई परिवर्तन किये अपने पुराने अधिकारों को वापस लेना चाहते थे। १५वीं और १६वीं शताब्दी के ट्यूडर शासकों ने जनसाधारण को अपने पक्ष में कर उसके सहयोग से एक शक्तिशाली और निरंकुश राजतान्त्रिक व्यवस्था का आरम्भ किया था। इस व्यवस्था को पार्लियामेन्ट का सहयोग भी प्राप्त था क्योंकि निरंकुश राजतन्त्र की स्थापना के पूर्व इन शासकों ने इंग्लैण्ड की वाह्य आक्रमणों से रक्षा करने के साथ साथ देश के अन्दर शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना की थी। इस प्रकार की अवस्था में सम्प्रभुता (Sovereignty) का प्रश्न सामने नहीं आया था।

परन्तु सत्रहवीं शताब्दी तक परिस्थितियाँ परिवर्तित हो चुकी थीं। पार्लियामेण्ट अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो गई थी, जनता के दृष्टिकोण में परिवर्तन आ गया था और इंग्लैण्ड के समाज में मध्य वर्ग नामक एक नये वर्ग का उदय हो चुका था। इन परिस्थितियों में स्टुअर्ट काल के शासकों ने जिस निरंकुश व्यवस्था का उपहार वसीयत के रूप में पाया उसकी रक्षा करने में वे असफल रहे और पार्लियामेण्ट के साथ उनका विरोध आरम्भ हो गया। इस संघर्ष के मूल प्रश्न इस प्रकार थे :—(१) राजा अपने पैतृक दैवी सिद्धान्त के अनुसार शासन करता है अथवा पार्लियामेण्ट द्वारा निर्मित कानूनों के अनुसार; (२) राज्य की सम्प्रभुता (Sovereignty) राजा में निहित है या पार्लियामेण्ट में अथवा दोनों में; (३) देश में शासक सर्वोच्च है अथवा विधि (कानून), (४) पार्लियामेण्ट की स्वीकृति के बिना शासक कर वसूल कर सकता है अथवा नहीं, (५) क्या शासक किसी निरपराध व्यक्ति को दण्डित या कैद कर सकता है, तथा (६) राज्य का मन्त्रिमण्डल किसके प्रति उत्तरदायी है

शासक के प्रति अथवा पार्लियामेण्ट के प्रति और राज्य के मन्त्री जनसेवक हैं अथवा शासक के व्यक्तिगत सेवक ।

इन उपर्युक्त प्रश्नों के साथ ही इस संघर्ष के मूल में धार्मिक और आर्थिक प्रश्न भी थे । उस युग में धर्म और राजनीति एक दूसरे से इस प्रकार गुथे हुये थे कि धार्मिक अथवा राजनीतिक प्रश्नों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता था । ऐसी अवस्था में धार्मिक विवाद उठा कर स्टुअर्ट शासकों ने स्वयं अपने राजनीतिक अस्तित्व के लिए खतरा पैदा कर लिया । जेम्स प्रथम के द्वारा 'प्यूरिटन' (Puritans) दल का विरोध इस प्रकार पार्लियामेण्ट और शासक के मध्य संघर्ष का एक कारण बन गया ।

इसी प्रकार १७वीं शताब्दी के प्रारम्भिक शासकों द्वारा अपव्यय एवं मुद्रा के क्षेत्र में होने वाली मुद्रा-स्फीति (Inflation) के कारण इंग्लैण्ड की आर्थिक व्यवस्था डांवाडोल हो गई थी । देश में आर्थिक संकट उपस्थित हो गया था न तो जनता और न स्वयं शासक कोई इसके मूल कारण को जानता था । अत: इस परिस्थिति में शासन का व्यय पूरा करने के लिए जब शासकों ने नये-नये कर लगाने आरम्भ किये तो पार्लियामेण्ट एवं जनता दोनों ने इसका विरोध किया और पार्लियामेण्ट तथा शासक के मध्य संघर्ष आरम्भ हो गया ।

पार्लियामेण्ट और शासक के मध्य के इस संघर्ष की एक अन्यतम विशेषता यह थी कि इस पूरे संघर्ष काल में पार्लियामेण्ट के द्वारा शासक से किसी प्रकार की कोई नयी माँग नहीं की गई । पार्लियामेण्ट अपनी स्वतन्त्रता तथा अपने अधिकारों और सुविधाओं की रक्षा करते हुये जनता के सहयोग से सरकार चलाना चाहती थी । दूसरी ओर स्टुअर्ट शासक दैवी शक्ति सिद्धान्तो को आधार बना कर निरंकुश रूप से शासन करना चाहते थे जिसे सहन करने को पार्लियामेण्ट तैयार नहीं थी । पार्लियामेण्ट और शासक दोनों ही अपने-अपने पक्ष में रूढ़ि और परम्परा का सहारा लेकर उसकी व्याख्या अपने ढंग से करते थे । यह सही है कि कानूनी और ऐतिहासिक दृष्टि से पार्लियामेण्ट की अपेक्षा राजा का पक्ष अधिक सबल था और ये शासक दैवी अधिकार के सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर निरंकुश राजतन्त्र को अधिक मजबूत और शक्तिशाली बनाना चाहते थे । दूसरी ओर परम्परा पार्लियामेण्ट के पक्ष में थी और इन्हीं परम्पराओं का सहारा लेकर पार्लियामेण्ट देश में संसदीय शासन प्रबन्ध की स्थापना करना चाहती थी । अतः पार्लियामेण्ट और शासक के बीच संघर्ष आरम्भ हो गया, जो एक लम्बे समय तक चलता रहा । इस काल में एक शासक को फाँसी पर चढ़ना पड़ा और एक को राजसिंहासन त्याग कर देश से पलायन कर जाना पड़ा । इस संघर्ष का अन्त सन् १६८८ ई० की 'गौरवमयी क्रान्ति' से हुआ जिसने राजतन्त्र का

अन्त करते हुए और देश को पार्लियामेन्ट को सर्वोच्च घोषित करते हुए संसदीय शासन-प्रणाली की स्थापना की।

जेम्स प्रथम (James I, 1603—1625) :

जेम्स प्रथम एक सफल शासक के सभी गुणों से युक्त होते हुए भी इंग्लैण्ड की बदली हुई परिस्थितियों में असफल शासक सिद्ध हुआ। जेम्स के द्वारा प्रशासन के क्षेत्र में दैवी शक्ति के सिद्धान्त पर बल, भ्रष्ट एवं अयोग्य सलाहकारों का सहयोग, धार्मिक प्रश्नों पर विरोध, आर्थिक क्षेत्र में गलत नीतियों का प्रयोग एवं विदेशों के प्रति समय के प्रतिकूल नीतियों का संचालन आदि अनेक ऐसे कारण है जिन्होंने उसे असफल शासक घोषित करने के साथ-साथ जनता के मध्य उसकी लोकप्रियता कम कर दी। पार्लियामेण्ट के प्यूरिटन एवं अन्य सदस्यों ने भी उसके सुधारों के प्रति अशंकित होने के कारण उसका विरोध करना आरम्भ कर दिया। दूसरी ओर सम्प्रभुता एवं निरंकुश राजतन्त्र की स्थापना के प्रश्न को लेकर जेम्स और पार्लियामेंट के बीच जो खींचातानी चलती रही उसके कारण जेम्स की कठिनाइयाँ घटने के स्थान पर बढ़ती गयीं। साथ ही सन् १६२५ ई० में जेम्स की मृत्यु के समय तक पार्लियामेंट के साथ खुला संघर्ष प्रारम्भ हो गया, जो उसके उत्तराधिकारी चार्ल्स प्रथम के शासन काल में और भी अधिक प्रखर हो गया।

चार्ल्स प्रथम (Charles I, 1625—1649) :

चार्ल्स प्रथम अपने पिता जेम्स प्रथम की अपेक्षा अधिक कर्मठ, साहसी एवं सन्तुलित विचारों का व्यक्ति था परन्तु उसमें परिस्थितियों को अपने अनुकूल मोड़ने की क्षमता नहीं थी। इसीलिये उसके शासतकाल में पार्लियामेण्ट एवं शासक का संघर्ष और भी अधिक तीव्र हो उठा। उसकी नीतियों के फलस्वरूप गृह युद्ध का आरम्भ हुआ और उसे सन् १६४६ ई० में फाँसी के फन्दे में झूलना पड़ा। चार्ल्स प्रथम ने भी अपनी पिता की भाँति निरंकुश सत्ता की स्थापना को अपना लक्ष्य बनाया था, जिसका प्रतिफल उसे पदच्युति एवं मृत्यु के रूप में प्राप्त हुआ। उसके शासनकाल को मुख्य रूप से तीन भागों में बाँटा जा सकता है—पार्लियामेण्ट की सहायता से शासन (१६२५-१६२६ ई०), पार्लियामेन्ट के सहयोग के बिना निरंकुश शासन (१६२६ –१६४० ई०); एवं गृह युद्ध का युग तथा अन्त (१६४० — १६४६ ई०)।

सन् १६२५ ई० से सन् १६२६ ई० के मध्य चार्ल्स के द्वारा पार्लियामेण्ट तीन बार आमन्त्रित की गयी। पार्लियामेण्ट ने अपनी प्रथम दो बैठकों में शासक की इच्छानुसार धन व्यय करने की अनुमति दी। पार्लियामेण्ट की बैठक तीसरी बार सन् १६२८ ई० में बुलाई गयी, परन्तु इस बार शासक को धन व्यय करने की स्वीकृति

देने के पूर्व शासक के समक्ष एक 'अधिकार याचना-पत्र' (Petition of Rights) प्रस्तुत किया जिसकी प्रमुख धाराएँ इस प्रकार थी :— शासक पार्लियामेन्ट की स्वीकृति के बिना कर नहीं लगा सकेगा; व्यक्तिगत स्थानों पर सैनिक नही ठहराये जा सकेंगे, निर्दोष व्यक्तियों को कारागार में बन्द नही किया जा सकेगा एवं शांतिकाल में शासक देश में सैनिक कानून (मार्शल लॉ) नहीं घोषित कर सकेगा। पार्लियामेण्ट ने यह अधिकार-पत्र शासक के अधिकारों को कम करने एवं उसकी निरंकुशता पर रोक लगाने के लिये प्रस्तुत किया था। चार्ल्स के सामने केवल दो विकल्प थे—या तो इस अधिकार-पत्र पर हस्ताक्षर कर वह अपने अधिकारों पर कुठाराघात कर ले अथवा पार्लियामेण्ट भङ्ग कर दे। परिस्थितियों के प्रतिकूल होने के कारण विवश होकर उसे इस अधिकार-पत्र पर हस्ताक्षर करने पड़े। परन्तु शीघ्र ही १६२६ ई० में पार्लियामेण्ट भङ्ग कर सारी शासन सत्ता अपने हाथों में ले ली और अपने ग्यारह वर्षों तक वह निरंकुश शासक के रूप में इंग्लैण्ड पर शासन करता रहा।

इस बीच स्काटलैंड के साथ इङ्गलैड का युद्ध आरम्भ हो गया जिसमें इंग्लैण्ड को धन एवं जन की अपार हानि उठानी पड़ी। कुछ तो इस कारण से और कुछ अन्य आन्तरिक समस्याओं के उठ खड़े होने से विवश होकर चार्ल्स प्रथम को सन् १६४० ई० में पार्लियामेण्ट की बैठक बुलानी पड़ी। सन् १६४० ई० में आरम्भ होने वाली यह पार्लियामेण्ट लगभग अगले २० वर्षों तक समय-समय पर बिना भङ्ग हुए अपनी बैठकें करती रही, इसीलिये इतिहास में यह 'लांग पार्लियामेन्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। इसी वर्ष पार्लियामेन्ट कुछ प्रश्नों पर दो दलो में विभक्त हो गयी। एक दल शासक के विशेषाधिकारों को समाप्त करने के पक्ष में था जो **'राउण्ड हेड'** (Round Head) कहा गया। कैवेलियर (Cavalier) अथवा 'राजतन्त्रवादी' (Royalist) नामक दूसरा दल शासक के अधिकारों को बनाये रखना चाहता था। चार्ल्स ने अपने समर्थकों के सहयोग से विरोधी दल के ऑलिवर क्रामवेल तथा अन्य सदस्यों को गिरफ्तार करने का निष्फल प्रयास किया जिससे संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया।

गृह-युद्ध अथवा प्यूरिटन विद्रोह (Civil war or Puritan Revolt, 1642—1648) :

इस गृह-युद्ध अथवा प्यूरिटन विद्रोह को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : सन् १६४२ ई० से सन् १६४६ ई० तक और सन् १६४८ ई० से १६४६ ई० के प्रारम्भ तक। मूलरूप से यह गृह-युद्ध एक राजनीतिक और धार्मिक संघर्ष था। इसका मूल प्रश्न यह था कि सम्प्रभुशक्ति (Sovereignty) किसमें निवास करती है — जनता अथवा शासक में और इनमें कौन सर्वशक्तिशाली तथा सर्वोच्च है।

इसके अतिरिक्त इस गृह-युद्ध के आरम्भ होने के कुछ अन्य कारण इस प्रकार थे — सामाजिक विक्षोभ, शासक के विशेषाधिकारों के प्रश्न पर राजा एवं पार्लियामेन्ट के मध्य तनाव, चार्ल्स प्रथम की हानिप्रद आर्थिक नीति, शासक की धर्म के प्रति गलत नीति, चार्ल्स प्रथम का चरित्र एवं आयरलैंड में आरम्भ होने वाला विद्रोह। इस गृह-युद्ध की विशेषता यह थी कि यह किसी वर्ग विशेष का नहीं अपितु विचारों का संघर्ष था जिसमें चार्ल्स प्रथम को पराजय स्वीकार करनी पड़ी। सन् १६४८ ई० के अन्तिम महीनों में पार्लियामेन्ट ने चार्ल्स प्रथम को देश-द्रोही ठहराते हुए फाँसी की सजा सुनाई और जनवरी सन् १६४६ ई० के अन्तिम सप्ताह में उसे फाँसी दे दी गयी।

इस गृह-युद्ध के इंग्लैण्ड के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण परिणाम निकले। पार्लियामेन्ट की विजय एवं चार्ल्स के मृत्यु दण्ड से यह स्पष्ट हो गया कि प्रजा को राजा की निरंकुशता एवं स्वेच्छाचारिता का विरोध करने का पूरा-पूरा अधिकार है। मैरियट के अनुसार इस गृह युद्ध ने यह स्पष्ट कर दिया कि शासक ईश्वर का नहीं अपितु प्रजा का प्रतिनिधि है और यदि वह प्रजा की इच्छानुसार कार्य नहीं करता तो जनता को पूरा अधिकार है कि वह उसे गद्दी से उतार दे।

गणतन्त्र-युग (Republican Era, 1649—1660) :

सन् १६४६ ई० में गृहयुद्ध के अन्त होने के पश्चात् क्रामवेल के नेतृत्व में इङ्गलैण्ड में गणतन्त्र की स्थापना की गयी जो अगले ग्यारह वर्षों तक चलता रहा। इस युग में अनेक संवैधानिक प्रयोग किये गये जो परम्परागत और ऐतिहासिक तो नहीं थे परन्तु जिनके इंग्लैण्ड के इतिहास पर दूरगामी प्रभाव पड़े।

क्रामवेल ने अपने प्रथम प्रयोग 'हेड्स ऑव प्रोपोजल्स' (Heads of Proposals) द्वारा पार्लियामेण्ट को जनता के नियन्त्रण में लाने, प्रतिवर्ष पार्लियामेण्ट की बैठक करने, पार्लियामेण्ट में समानता के अनुपातिक आधार पर स्थान का बँटवारा करने एवं धर्म के सम्बन्ध में सहिष्णु नीति अपनाने आदि के प्रस्ताव सामने रखे। परन्तु जनमत पक्ष में न होने के कारण यह प्रस्ताव रद्द कर दिया गया।

तत्पश्चात् सन् १६४६ ई० में ही एक अन्य प्रस्ताव 'एग्रीमेण्ट ऑव दि पीपुल' (Agreement of the people) द्वारा क्रामवेल ने एक स्थायी सरकार की स्थापना का प्रस्ताव रखा परन्तु यह भी सम्भव न हो सका।

तब तीसरा प्रयोग 'रम्प पार्लियामेण्ट' (Rump Parliament) के रूप में किया गया जिसके द्वारा ४१ सदस्यों की एक 'स्टेट कौंसिल' बनाकर शासन-सम्बन्धी सारे अधिकार उसे दे दिये गये। परन्तु यह व्यवस्था भी केवल चार वर्षों तक ही चल सकी।

अन्तिम प्रयोग सन् १६५३ ई० में 'इन्स्ट्रूमेण्ट ऑव गवर्नमेण्ट' (Instrument of Government) के रूप में सामने आया। इस 'इन्स्ट्रूमेण्ट ऑव गवर्नमेंट' को ग्रेट-ब्रिटेन का पहला लिखित संविधान भी कहा जाता है, जिसे १६ दिसम्बर सन् १६५३ ई० को कार्यान्वित किया गया। इसमें 'नियन्त्रण और संतुलन' (Checks and Balances) का सिद्धान्त अपनाया गया। परन्तु इसे भी जनता का समर्थन नहीं मिल सका क्योंकि इसके निर्माण में राष्ट्रीय सहयोग और परम्पराओं का आधार नहीं लिया गया था। इस 'इन्स्ट्रूमेण्ट' के द्वारा क्रामवेल को संरक्षक (Protector) नियुक्त कर सभी शासकीय अधिकार उसे सौंप दिये गये।

३ सितम्बर, सन् १६५८ ई० को ऑलिवर क्रामवेल की मृत्यु हो गयी। अब उसका पुत्र रिचर्ड क्रामवेल संरक्षक या प्रशासक बना। उसने दो वर्ष तक शासन अवश्य किया किन्तु जनता के बीच बढ़ते हुए असन्तोष को रोकने में वह असफल रहा और सन् १६६० ई० में पुनः राजतन्त्र की स्थापना हुई।

राजतंत्र का पुर्नस्थापन (Restoration of Monarchy)—सन् १६६० ई० के स्टुअर्ट वंश के शासन के पुनः स्थापना का केवल यही महत्व नहीं है कि इसके द्वारा राजतन्त्र पुनः स्थापित हुआ अपितु यह भी है कि इसके द्वारा राजा के साथ-साथ पार्लियामेण्ट भी पुनः स्थापित की गई। रांके (Ranke) के अनुसार "सन् १६६० ई० का अंग्रेजी पुनःस्थापन मूलतः एक संसदीय क्रांति थी। राजा के बिना संसदीय सरकार की स्थापना सम्भव नहीं थी। इसलिए चार्ल्स द्वितीय को पुनः बुला लिया गया।" राजा के अधिकारों में कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ परन्तु राजस्व ने अपने पूर्व महत्व और गौरव को खो दिया। वस्तुतः यह पुनःस्थापन एक अद्वितीय ढङ्ग का समझौता था। एडम्स् के अनुसार, "स्वरूप और विधान में राजा अभी भी सर्वोच्च एवं सम्प्रभु था। परन्तु यथार्थ में पार्लियामेण्ट ही सर्वेसर्वा थी। सिद्धांत में राजा की सम्प्रभुता को केवल पार्लियामेन्ट के अन्दर ही व्यावहारिक रूप दिया जा सकता था। स्वविवेक के अनुसार राजा अब राजकीय नीति का निर्धारण नहीं कर सकता था।"

चार्ल्स द्वितीय ने गद्दी पर बैठने के पूर्व 'ब्रेडा के घोषणापत्र' (Declaration of Breda) द्वारा यह प्रतिज्ञा की कि सभी अपराधी क्षमा कर दिये जायेंगे, सैनिकों का बकाया वेतन चुका दिया जायेगा, जनता को धार्मिक स्वतन्त्रता मिलेगी और पार्लियामेण्ट की इच्छानुसार देश का शासन चलाया जायेगा। इस घोषणा के साथ २९ मई, सन् १६६० ई० को चार्ल्स-द्वितीय के इंग्लैण्ड की गद्दी पर बैठने से स्टुअर्ट वंश फिर से प्रभावशाली हो गया। अगले २५ वर्षों (सन् १६८५ ई०) तक वह सफलतापूर्वक इंग्लैण्ड पर शासन करता रहा।

जेम्स द्वितीय (James II, 1685—1688)– सन् १६८५ ई० में चार्ल्स

द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् उसका छोटा भाई जेम्स द्वितीय हालैण्ड का गद्दी पर बैठा। उसके गद्दी पर बैठने के समय देश में शान्ति थी परन्तु दैवी शक्ति के सिद्धान्त पर विश्वास रखने; उसके द्वारा निरंकुश शासन स्थापित करने तथा धार्मिक क्षेत्र में संकीर्ण नीति (कैथोलिक धर्म को प्रश्रय और प्रसार) को अपनाने के फलस्वरूप शीघ्र ही उसका विरोध आरम्भ हो गया और केवल तीन वर्षों के पश्चात् सन् १६८८ ई० में उसे राजगद्दी एवं देश छोड़ने पर विवश होना पड़ा।

'गौरवपूर्ण राज्यक्रान्ति' अथवा 'गौरवमयी राज्यक्रान्ति' अथवा 'रक्तहीन राज्यक्रान्ति' (Glorious Revolution, 1688)

इंग्लैण्ड के इतिहास में सन् १६८८ ई० की 'गौरवपूर्ण राज्यक्रान्ति' का एक विशिष्ट स्थान है। इस क्रान्ति का सर्वाधिक महत्व यह है कि बिना किसी रक्तपात के इंग्लैण्ड के इतिहास की प्रगति एक विशिष्ट दिशा में मुड़ गई। इस क्रान्ति के लिए किसी प्रकार का कोई युद्ध नहीं हुआ।

कारण—

इस क्रान्ति का सर्वप्रथम कारण तत्कालीन शासक जेम्स द्वितीय का चरित्र एवं उसके राज्य-सम्बन्धी सिद्धान्त थे। वह एक अहंकारी, अधीर और हठी व्यक्ति था। वह भविष्यद्रष्टा अथवा दूरदर्शी भी नहीं था। साथ ही उसमें यह भी एक कमी थी कि वह राज्य में किये जाने वाले किसी भी कार्य की प्रतिक्रिया को जानने की क्षमता नहीं रखता था। इसी प्रकार निरंकुश शासनतन्त्र की पुर्नस्थापना एवं दैवी अधिकार के सिद्धान्तों पर विश्वास भी उसका एक अवगुण था। सन् १६८८ ई० तक इंग्लैण्ड की स्थितियों में परिवर्तन हो चुका था और ऐसे समय जेम्स का पुरानी परम्परा लाने का प्रयत्न उसकी भूल थी।

जेम्स की धार्मिक भावना भी इस क्रान्ति का एक कारण बनी। जेम्स द्वितीय कट्टर कैथोलिक था और इंग्लैण्ड के चर्च पर उसकी आस्था नहीं थी। वह कैथोलिक होने के कारण प्रोटेस्टेन्ट धर्म को दबाने की इच्छा भी रखता था। अतः जेम्स ने रोमन कैथोलिक के प्रति पक्षपातपूर्ण नीति अपनायी। प्रोटेस्टेन्टों ने जब इसका विरोध प्रारम्भ किया तो उसको दण्ड देने के लिए जेम्स ने एक ऐसा न्यायालय (हाई कमीशन) बनाया जिसके सभी न्यायाधीश कैथोलिक मतावलम्बी थे। अब कैथोलिक धर्म की आलोचना नहीं की जा सकती थी। लन्दन के एक पादरी के द्वारा इसका विरोध किये जाने पर जब उसे दण्ड दिया गया तो इंग्लैण्ड के प्रोटेस्टेन्ट बहुत असन्तुष्ट हो गये। अतः धर्म-सम्बन्धी उसके ये सिद्धान्त भी गौरवमयी क्रान्ति का एक कारण बन गये।

उसके द्वारा देश में एक नई स्थायी सेना का गठन भी इस क्रान्ति का एक

कारण बना। इंग्लैण्ड की जनता धर्म में गहरी आस्था रखती थी और प्रोटेस्टेन्ट धर्म को श्रद्धा की दृष्टि से देखने के कारण कैथोलिक धर्म के प्रति सन्देहशील रहती थी। दूसरी ओर जेम्स कैथोलिक धर्म के प्रसार का इच्छुक था। ऐसी परिस्थिति में नई सेना के गठन में जब कैथोलिक सैनिकों को प्रमुख स्थान दिया गया तो जनता शंकालु हो उठी तथा उसमें शासक के प्रति असन्तोष फैलने लगा।

जेम्स ने शिक्षा के क्षेत्र में भी हस्तक्षेप किया। उसके द्वारा ऑक्सफर्ड विश्वविद्यालय के (मैग्डेलन कालेज) में एक रोमन कैथोलिक को बलपूर्वक नियुक्त करने तथा विरोधी सदस्यों को धार्मिक न्यायालय की आज्ञा से निकाल देने के कारण भी जनता में रोष उत्पन्न हो गया।

जेम्स ने पार्लियामेण्ट के कार्यों में भी हस्तक्षेप आरम्भ किया। पार्लियामेण्ट के चुनावों में अपना अधिकार, सीमा का अतिक्रमण कर हस्तक्षेप करने के कारण उसकी लोकप्रियता कम हो गई। साथ ही सदस्य नामजद कर अपने समर्थकों की संख्या पार्लियामेण्ट में बढ़ाने के उसके प्रयत्न के कारण भी सदस्य आतंकित हो उठे और जेम्स के विरुद्ध हो गये।

सन् १६८७ ई० में जेम्स ने एक और ऐसा काम किया जिससे इंग्लैण्ड की जनता उससे असन्तुष्ट हो गई। वह था 'विवेक की स्वतन्त्रता' (Liberty of Conscience) की घोषणा। उसके द्वारा कैथोलिकों और डिजर्टरों पर से सारे प्रतिबन्ध हटा लिये गये। लेकिन इसमें जेम्स को सफलता नहीं मिल सकी तथा जनता में और भी अधिक रोष फैल गया।

परन्तु जेम्स ने इन सबसे शिक्षा लेने की कोशिश नहीं की और सन् १६८८ ई० में उसने पुनः धार्मिक स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। राज्य के सभी पादरियों को आदेश दिया गया कि वे यह घोषित करें कि कैथोलिकों के विरुद्ध बनाये गये सभी नियम समाप्त कर दिये गये हैं और सभी पादरी घोषित नियमों के अनुसार पूजा-पाठ करेंगे। यह भी कहा गया कि विरोध करने वाले पादरी दण्डित किये जायेंगे। राजा की इस घोषणा का विरोध कैन्टरबरी के आर्चबिशप और अन्य ६ पादरियों ने किया। इन ७ पादरियों ने जेम्स के सामने यह प्रार्थनापत्र रखा कि वह धर्म और राजनीति को एक में न मिलाए और इन नियमों को वापस ले ले। जेम्स ने क्रुद्ध होकर इन पादरियों पर राज्यद्रोह का मुकदमा चलाया परन्तु न्यायालय ने इन्हें निर्दोष घोषित कर मुक्त कर दिया। इस घटना से देश की जनता क्रुद्ध हो गई और जेम्स की लोकप्रियता कम हो गयी।

अभी तक देश की जनता जेम्स के कोई पुत्र न होने के कारण उसके अत्याचारों को यह समझ कर सहन कर रही थी कि उसके मरने के पश्चात् इंग्लैण्ड की गद्दी

के उत्तराधिकारी प्रोटेस्टेन्ट धर्मावलम्बी उसकी पुत्री मेरी और दामाद विलियम ऑव आरेंज होंगे जो प्रोटेस्टेन्ट थे। परन्तु १० जून, सन् १६८८ ई० को जेम्स के पुत्र उत्पन्न होने से जनता निराश हो गई और उसकी आशाओं पर पानी फिर गया। क्योंकि कैथोलिक पिता का पुत्र भी कैथोलिक होता और अपने पिता के पद-चिन्हों पर ही चलता। इस आशंका से जनता का रहा-सहा धैर्य भी समाप्त हो गया। उसके सामने क्रान्ति के अतिरिक्त और कोई अन्य मार्ग नहीं था। अतः वे क्रान्ति की तैयारी करने लगे।

क्रान्ति का आरम्भ और घटना-चक्र—जनता ने अब सक्रिय नीति अपनाई। उसने कट्टर प्रोटेस्टेन्ट धर्मावलम्बी और जेम्स के दामाद विलियम को इंग्लैण्ड के राज्य सिंहासन पर बैठने के लिए आमन्त्रित किया क्योंकि जनता तथा पार्लियामेंट का यह दृढ़ विश्वास था कि वह देश में पार्लियामेण्ट के अधिकारों तथा प्रोटेस्टेन्ट धर्म की रक्षा करने में सफल हो सकेगा। दूसरी ओर विलियम ने भी दूरदर्शी होने के कारण यह समझ लिया था कि इंग्लैण्ड का शासक होने के पश्चात् एक ओर तो वह प्रोटेस्टेन्ट धर्म की रक्षा कर सकेगा तथा दूसरी ओर फ्रांस के (Louis XIV) की महत्वाकांक्षाओं को नियन्त्रित कर सकेगा। अतः विलियम ने इंग्लैण्ड की जनता का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और एक विशाल सेना के साथ नवम्बर, सन् १६८८ ई० में इंग्लैण्ड जा पहुँचा। इंग्लैण्ड में जेम्स की सेना ने विद्रोह कर दिया और वह भयभीत होकर फ्रांस भाग गया। जब पार्लियामेण्ट ने विलियम तथा उसकी पत्नी मेरी को संयुक्त रूप से इंग्लैण्ड का शासक घोषित किया और 'विलियम तृतीय' (William III) के नाम से वह गद्दी पर बैठा।

क्रान्ति का महत्व और परिणाम—इस क्रान्ति के परिणाम अत्यन्त दूरगामी सिद्ध हुए। इसके द्वारा ही पार्लियामेण्ट का प्रभुत्व स्थापन तथा निरंकुश राजतन्त्र का अस्त हो सका। अब इंग्लैण्ड का शासक केवल शोभा की वस्तु मात्र रह गया और सभी वास्तविक अधिकार पार्लियामेण्ट के हाथों में चले गये। इस क्रान्ति के विशेष महत्वपूर्ण तथ्य निम्न प्रकार हैं :

इस क्रान्ति की महत्ता इस बात में है कि बिना किसी रक्तपात के इंग्लैण्ड के इतिहास की प्रगति एक विशिष्ट दिशा की ओर हुई। शासक के विरुद्ध होने वाली इस क्रान्ति में सभी वर्गों ने अपना योगदान दिया। इस क्रान्ति के फलस्वरूप जिस रचनात्मक कार्यक्रम को अपनाया गया उससे इंग्लैण्ड की संवैधानिक विकास की धारा को एक नई दिशा प्राप्त हुई। ट्रेवेलियन के अनुसार, "इस क्रान्ति की महत्ता गर्जन-तर्जन में नहीं अपितु उसके उद्देश्यों को बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता में थी।"

इस क्रान्ति का दूसरा महत्व यह है कि इसके द्वारा वाह्य परिवर्तन बिल्कुल नहीं के बराबर हुए और कानूनी दृष्टि से किसी नई पद्धति की स्थापना नहीं की गई। इस

क्रान्ति का उद्देश्य कानून को न तोड़कर कानून के विरुद्ध जाने वाले शासक के खिलाफ कानून की रक्षा करना था। यह क्रान्ति जनता को बलपूर्वक एक प्रकार के राजतन्त्र तथा धार्मिक भावनाओं में न जकड़ कर उन्हें कानून द्वारा कानून के अन्दर स्वतन्त्रता प्रदान करना चाहती थी।

इस क्रान्ति का महत्व इसमें भी है कि सन् १७८६ ई० में पार्लियामेण्ट द्वारा पारित सहिष्णुता नियम (Law of Toleration) के द्वारा राज्य तथा चर्च के सम्बन्ध सहिष्णु एवं सामान्य हो गये और प्रोटेस्टेन्ट अपने नियमों के अनुसार पूजा-पाठ करने के लिए स्वतन्त्र हो गये।

इस क्रान्ति का अत्यन्त महत्वपूर्ण परिणाम यह था कि इसने सदैव के लिए राजतन्त्र और पार्लियामेण्ट के बीच सम्प्रभुता के प्रश्न पर सन् १६०३ ई० से चलने वाले संघर्ष का अन्त कर दिया। इस क्रान्ति के पश्चात् जिस राजतन्त्र की स्थापना की गई वह पूर्ण रूप से संवैधानिक और पार्लियामेण्ट के आधीन था। इस क्रान्ति ने यह सिद्ध कर दिया कि सिंहासन पर राजा का वंशानुगत और दैवी अधिकार नहीं है बल्कि उसका उत्तराधिकार जनता और पार्लियामेण्ट की स्वीकृति पर आधारित है।

इस क्रान्ति का एक महत्व यह भी है कि सन् १६८८ ई० के पश्चात् ही इंग्लैण्ड में प्रजातन्त्र का विकास सम्भव हो सका।

अन्त में रैम्जे म्योर के शब्दों में इस क्रान्ति की समीक्षा इस प्रकार की जा सकती है, "इस महत्वपूर्ण एवं युगान्तरकारी (युग प्रवर्तक) घटना से इंग्लैण्ड में लोकप्रिय सरकार का युग आरम्भ हुआ एवं प्रभुसत्ता निरंकुश शासकों के हाथ से निकलकर संसद के हाथों में चली गई।"

विलियम और मेरी (William & Mary, 1689—1702)

विलियम और मेरी को संयुक्त शासक स्वीकार करने से पूर्व इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट ने एक कानून पारित किया जो 'सन् १६८६ ई० के अधिकार पत्र' (Bill of Rights of 1689) के नाम से प्रसिद्ध है। इसके द्वारा यह घोषित किया गया कि जेम्स द्वितीय ने अपने प्रयास द्वारा प्रोटेस्टन्ट धर्म को जड़मूल से नष्ट करने तथा देश के कानून तथा अधिकारों की स्वतन्त्रता का अपहरण करके स्वयं सरकार और गद्दी खाली कर पलायन कर गया है। इसलिए विलियम और मेरी को संयुक्त रूप से इंग्लैण्ड का शासक घोषित किया जाता है।

लेकिन दोनों को राजगद्दी पर बिठाने के पूर्व उनसे यह स्वीकृति ले ली गई की वे संविधान के अनुसार शासन करेंगे। विलियम ने पार्लियामेंट द्वारा पारित उस अधिकार पत्र को मान लिया जिसकी मुख्य धारायें इस प्रकार थीं:

१—शासक को देश के नियमो को भंग करने अथवा कुछ काल के लिए स्थगित करने का कोई अधिकार नहीं है।

२—शासक पार्लियामेंट के सदस्यों के चुनाव में न तो किसी प्रकार का हस्तक्षेप करेगा और न किसी प्रकार का दबाव डालेगा।

३—संसद की बैठक नियमित रूप से होगी।

४—शासक पार्लियामेंट की स्वीकृति के बगैर कोई कर नहीं लगा सकेगा।

५—यह व्यवस्था की गई कि भविष्य में कोई भी कैथोलिक धर्मावलम्बी इंग्लैण्ड की राजगद्दी पर नही बैठ सकेगा और इंग्लैण्ड के शासक को आंग्ल-चर्च के सिद्धान्तों पर विश्वास रखना पड़ेगा।

६—इसकी अन्तिम धारा के अनुसार यह निश्चय किया गया कि विलियम के निस्संतान मरने की अवस्था में इंग्लैण्ड की राजगद्दी राजकुमारी एन और उसकी सन्तान को मिलेगी।

इस प्रकार यह अधिकार पत्र (सन् १६८९ ई०) इंग्लैण्ड के संवैधानिक विकास के इतिहास का एक महत्वपूर्ण प्रलेख है। इसके द्वारा राजा तथा पार्लियामेण्ट के बीच सम्प्रभुता के प्रश्न पर चलने वाले दुःखद संघर्ष का अन्त हो गया। अब राजा सिद्धान्त में भले ही सम्प्रभु रहे परन्तु व्यावहारिक रूप से पार्लियामेण्ट ही सर्वोच्च हो गयी।

सन् १६८९ ई० से सन् १७०२ ई० तक का विलियम और मेरी का शासन-काल अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इंग्लैण्ड में ससदीय सम्प्रभुता के नये अध्याय का प्रारम्भ हुआ। वित्त एवं सेना पर पार्लियामेण्ट का पूर्ण नियन्त्रण हो गया। प्रेस की स्वतन्त्रता घोषित कर उसे सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया किन्तु इस युग की अन्यतम विशेषता इंग्लैण्ड में टोरी (Tory) एवं ह्विग (Whig) दलों का विकास एवं तदनुसार मंत्रिमंडलीय व्यवस्था का उद्‌भव था। इसी प्रकार वैदेशिक नीति के क्षेत्र में 'शक्ति-सन्तुलन की नीति' इन दोनों के द्वारा अपनायी गयी जिसका प्रतिफल इंग्लैण्ड के प्रभाव के बढ़ने के रूप में सामने आया। देश का आर्थिक विकास आरम्भ हुआ और इस क्षेत्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना 'बैंक ऑव इंग्लैण्ड' का विकास था।

इस प्रकार विलियम और मेरी के शासनकाल में देश विकास की ओर बढ़ता रहा। विलियम के निस्संतान होने के कारण सन् १७०१ ई० में एक बार फिर राजगद्दी की समस्या खड़ी हो गयी। यद्यपि पहले ही सन् १६८९ ई० के अधिकार-पत्र में यह व्यवस्था कर दी गयी थी कि विलियम के संतान न होने की दशा में राज्याधिकार कुमारी एन के हाथों में चला जायेगा, लेकिन सन् १७०१ ई० में इस सम्बन्ध में पार्लियामेण्ट ने एक कानून पारित किया जो 'उत्तराधिकार निर्णायक कानून' अथवा

'ऐक्ट ऑव सेटिलमेण्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके द्वारा उत्तराधिकार का प्रश्न स्थायी रूप से निश्चित कर दिया गया। यह घोषित किया गया कि विलियम के पश्चात् सम्राज्ञी राजकुमारी एन होगी और अगर वह भी निस्संतान रहेगी तो इंग्लैण्ड की राजगद्दी हैनोवर की निर्वाचिका सोफिया (Sophia) को प्राप्त होगी जो प्रोटेस्टेण्ट होने के साथ-साथ जेम्स प्रथम की नतिनी (पुत्री की पुत्री) थी। इस उत्तराधिकार कानून का भी अत्यन्त महत्व है क्योंकि इसने यह निश्चित किया कि भविष्य में कोई भी कैथोलिक इंग्लैण्ड की राजगद्दी पर नहीं बैठ सकेगा।

रानी एन (Anne, 1702-1714) :

सन् १७०२ ई० में विलियम की मृत्यु के पश्चात् एन इंग्लैण्ड की गद्दी पर बैठी। वस्तुतः उसका शासनकाल क्रान्तिकालीन व्यवस्था की पुनरावृत्ति थी। उसके शासनकाल में ह्विग दल के स्थान पर टोरी दल प्रभावशाली हो गया। स्वयं रानी एन इस दल से सहानुभूति रखती थी। इसी युग में स्पेन के उत्तराधिकार का युद्ध आरम्भ हुआ जिससे इंग्लैण्ड की क्षति हुई।

सन् १७१४ ई० में एन की मृत्यु हो गई और उसके निस्संतान मरने के फलस्वरूप इग्लैण्ड की राजगद्दी हैनोवर के शासकों के पास चली गई और इग्लैण्ड में सन् १७१४ ई० से हैनोवरियन (Hanovarion) राजवंश का शासनकाल आरम्भ हुआ।

हैनोवर राजवंश
(Hanovarions, 1714-1760)

जार्ज प्रथम (George I, 1714-1727):—सन् १७१४ ई० में सोफिया का पुत्र जार्ज प्रथम (George I) उत्तराधिकार-कानून के आधार पर इंग्लैण्ड की राजगद्दी पर बैठा। उसका राज्यारोहरण निर्विरोध नहीं था। टोरी नेता जेम्स द्वितीय के पुत्र को गद्दी पर बिठाना चाहते थे परन्तु उनके आपसी संघर्ष तथा नेता बोलिंग ब्रोक के युद्ध के लिए तैयार न होने के कारण 'ऐक्ट ऑव सेटिलमेंट' की रक्षा हो गई और जार्ज प्रथम इंग्लैण्ड की गद्दी पर बैठा। उसने अगले १३ वर्षों अर्थात् १७२७ ई० तक देश पर शासन किया। उसके सिंहासनारोहण से ही हैनोवर वंश के इतिहास का आरम्भ होता है।

जार्ज प्रथम के तेरह वर्षों का शासनकाल १८वीं शताब्दी के इंग्लैण्ड के इतिहास में एक विशेष एवं महत्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि उसके शासनकाल में वैधानिक दृष्टिकोण से जो परिवर्तन किये गये उसके फलस्वरूप इंग्लैण्ड के सरकार की रूपरेखा ही बदल गयी। सम्राट का राजनीतिक नेतृत्व और भी कम हो गया, मन्त्रि-मण्डलीय सरकार की स्थापना हुई, कैबिनेट व्यवस्था अंग्रेजी संविधान का एक अंग बन गयी तथा प्रधानमन्त्री के पद के विकास तथा प्रभाव की स्थापना हुई। जार्ज प्रथम

के वृद्ध होने, अंग्रेजी राजनीति से अनभिज्ञ होने और अंग्रेजी भाषा न जानने के कारण सर्वप्रमुख प्रशासन की समस्या उपस्थित हो गयी। अभी तक राजा ही मन्त्रि-मण्डल का गठन और मन्त्रियों की नियुक्ति करता था। वह मन्त्रिमण्डल का सभापतित्व करता था और शासन-क्षेत्र मे सर्वोपरि प्रभाव रखता था परन्तु जार्ज प्रथम की उपर्युक्त कठिनाइयों (भाषा एवं उम्र) के कारण अब यह प्रश्न उठा कि देश का प्रशासन कैसे चले। इसके अतिरिक्त शासक के विचारों का स्थिर होना भी एक प्रशासकीय कठिनाई थी। इन कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए जार्ज प्रथम ने मन्त्रि-मण्डल के एक वरिष्ठ सदस्य के हाथों में प्रशासन और मन्त्रिमण्डल के सभापतित्व का भार सौंप दिया। उस समय ह्विग दल के प्रभाव में रहने के कारण ह्विग नेता राबर्ट वालपोल (Robert Walpole) को मन्त्रिमण्डल प्रशासन-सम्बन्धी ये अधिकार प्राप्त हो गये। राबर्ट वालपोल इंग्लैण्ड का सर्वप्रथम प्रधानमन्त्री हुआ और उसी समय से कैबिनेट (मन्त्रिमण्डल) प्रथा का विकास आरम्भ होता है। राबर्ट वालपोल ने अपने अधिकारों का व्यापक इस्तेमाल कर एक नवीन संवैधानिक परम्परा का आरम्भ किया।

जार्ज द्वितीय (George II, 1727—1760) :

सन् १७२७ ई० में जार्ज द्वितीय इंग्लैण्ड की राजगद्दी पर बैठा और उसने एक लम्बे समय लगभग ३३ वर्षों तक शासन किया। उसके शासन-काल की प्रमुख विशेषताएँ थीं—वालपाल का दीर्घकालीन मत्रिमण्डल, सन् १७४५ ई० का जैकोबाइट विद्रोह, सन् १७४० ई० में आरम्भ होने वाला आस्ट्रिया के उत्तराधिकार का युद्ध एवं सन् १७५६ ई० में आरम्भ होने वाला सप्तवर्षीय युद्ध। इस कारण जार्ज प्रथम की अपेक्षा जार्ज द्वितीय का शासन-काल अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है।

वालपोल का प्रधानमन्त्रित्व काल—वालपोल ने लगभग अगले दो दशकों तक इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्रित्व पद को कुशलतापूर्वक सम्भाले रखा। इस काल में उसके दो ही प्रमुख उद्देश्य थे—देश को आन्तरिक सुरक्षा प्रदान कर विकास के मार्ग पर आगे बढ़ाना और विदेशों के प्रति शान्तिपूर्ण नीति अपनाने का प्रयत्न करना। वस्तुतः वालपोल इंग्लैण्ड की नीतियों का संचालन व्यापारिक ढग से करना चाहता था। लेकिन सन् १७४० ई० में प्रारम्भ होने वाले आस्ट्रियन उत्तराधिकार के युद्ध में उसने अपनी नीति की विफलता देखी और सन् १७४२ ई० में उसने त्यागपत्र दे दिया।

आस्ट्रिया के उत्तराधिकार का युद्ध :

आस्ट्रिया के शासक चार्ल्स द्वितीय ने अपनी पुत्री मेरिया थेरेसा को उत्तराधिकारी बनाने के लिए जिस 'प्रैग्मेटिक सैंक्शन' की घोषणा की थी उसको यूरोप के विभिन्न देशों द्वारा स्वीकृति दिलाने के लिए उसने इन देशों को अनेकों सुविधाएँ भी

दी थीं। ऐसी एक सुविधा इंग्लैण्ड को अपने पक्ष में करने के लिए स्पेन की व्यापारिक सुविधाओं को कम करना था। अतः सन् १७४० ई० में मेरिया थेरेसा के गद्दी पर बैठने के बाद प्रशा के फ्रेडरिक महान् ने जब साइलेशिया पर अधिकार करने के लिए युद्ध आरम्भ किया किया तो इस युद्ध में इंग्लैण्ड को आस्ट्रिया का साथ देना पड़ा। इस युद्ध द्वारा इंग्लैण्ड को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। शासक जार्ज द्वितीय की लोकप्रियता अवश्य कम हो गयी।

जैकोबाइट विद्रोह (सन् १७४५) :

ह्विग दल के प्रभाव में रहने के कारण टोरी दल के व्यक्तियों ने ह्विग शासन एवं जार्ज द्वितीय के प्रति षडयन्त्र आरम्भ किया। इस षडयन्त्र में उन्हें स्काटलैण्ड के उन व्यक्तियों की सहायता मिली जो हैनोवर वंश के विरोधी थे और पुनः स्टुअर्ट वंश के व्यक्तियों को इंग्लैण्ड की गद्दी पर देखना चाहते थे। इनकी सहायता से सन् १७४५ ई० में स्काटलैण्ड में जार्ज द्वितीय के विरुद्ध एक विद्रोह आरम्भ हो गया। यह जैकोबाइट विद्रोह था। यह विद्रोह दो बार हुआ लेकिन असफल रहा क्योंकि जार्ज द्वितीय ने अत्यन्त कठोरतापूर्वक इनका दमन किया।

सप्तवर्षीय युद्ध [1] (सन् १७५६ ई०—सन् १७६३ ई०) :

यूरोप का सप्तवर्षीय युद्ध मुख्य रूप से साइलेशिया एवं इंग्लैण्ड और फ्रांस की व्यापारिक प्रतिद्वन्दिता के कारणों से आरम्भ हुआ। यह सन् १७५६ ई० से प्रारम्भ होकर अगले सात वर्षों तक चलता रहा और सन् १७६३ इ० की पेरिस की सन्धि के द्वारा इस युद्ध का अन्त हो सका। इस युद्ध में एक ओर तो इंग्लैण्ड और प्रशा थे तथा विपक्ष में फ्रांस आस्ट्रिया, रूस तथा सैक्सनी थे। यह युद्ध अलग-अलग स्थानों यथा भारत, स्पेन, अमेरिका तथा यूरोप में लड़ा गया जिसमें अन्तिम विजय इंग्लैण्ड की हुई तथा फ्रांस को पराजय स्वीकार करनी पड़ी।

इस सप्तवर्षीय युद्ध के मध्य ही सन् १७६० ई० में जार्ज द्वितीय की मृत्यु हो गयी।

जार्ज तृतीय (सन् १७६० ई०—सन् १८१५ ई०) :

जार्ज द्वितीय की मृत्यु के पश्चात उसका पौत्र जार्ज तृतीय के नाम से इंग्लैण्ड की गद्दी पर बैठा। उसके राज्यारोहण का जनता द्वारा अपूर्व स्वागत हुआ क्योंकि जैकोबाइट विद्रोह को कुचल देने के कारण स्टुअर्ट परम्परा के समर्थक अब नहीं रह गये थे और हैनोवर वंश १७६० ई० तक आते-आते सुदृढ़ हो गया था। अब हैनोवर शासक विदेशी नहीं समझे जाते थे। स्वयं जार्ज तृतीय इंग्लैण्ड पर गर्व करता था।

1. विस्तार के लिये देखिये, पृ० १७६।

जार्ज तृतीय के राजनीति के सम्बन्ध में अपने कुछ विचार थे। वह देश में दलगत राजनीति से अलग और शासक की अधीनता में रहने वाले शासन-प्रबन्ध की स्थापना करना चाहता था। अर्थात् वह शासक के वास्तविक अधिकारों को पुनः प्राप्त करना चाहता था, इसके अतिरिक्त वह वस्तुतः एक कठपुतली शासक के रूप में नहीं अपितु सर्वसत्ताधारी शासक के रूप में शासन करना चाहता था। उसकी माँ और अन्य सलाहकार भी बराबर उसको यह सलाह देते थे कि वास्तविक अर्थों में राजा बनो। वह व्यक्तिगत शासन स्थापित करना चाहता था। इसके अतिरिक्त अपने उत्तम चरित्र और नैतिकता के कारण वह बहुत लोकप्रिय था और इसलिए जब सन् १७६० ई० में वह गद्दी पर बैठा तो सम्पूर्ण देश ने उसका स्वागत किया।

उसके शासन के आरम्भिक वर्षों की मुख्य घटना अमेरिकी स्वातन्त्र्य युद्ध था जिसका पूरा दायित्व उस पर था। इस सम्बन्ध में उसके द्वारा अपनाई जाने वाली नीति असफल रही और अमेरिका स्वतन्त्र हो गया तथा उस पर से इंग्लैण्ड का आधिपत्य समाप्त हो गया।

कृषि-क्रान्ति
(Agrarian Revolution)

कारण :

कृषि-क्रान्ति के पूर्व इंग्लैण्ड की कृषि पद्धति में अनेक दोष थे जिनसे समय एवं भूमि दोनों का ही अपव्यय होता था। एक व्यक्ति के पास कई टुकड़ों में भूमि होने के कारण वह भली-भाँति उनकी देख-रेख न कर पाता था क्योंकि एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचने में काफी समय नष्ट हो जाता था। प्रति वर्ष एक तिहाई भूमि को परती रखी जाती थी जिससे उसकी उर्वरा शक्ति बढ़ जाये। खेतों में फसलों को पशुओं से भी बचाने की कोई व्यवस्था न थी क्योंकि खेत खुले होते थे। इस प्रकार खेतों से उपज बहुत कम होती थी जिससे लोगों का जीवन-स्तर भी निम्न था। किन्तु सोलहवीं शताब्दी से अंग्रेज व्यापारी विदेशों से व्यापार कर उत्तरोत्तर धनी होने लगे तथा इन्होंने उच्च सामाजिक एवं राजनीतिक स्तर की प्राप्ति हेतु भूमि खरीदना आरम्भ किया क्योंकि संसद की सदस्यता के लिये भू-सम्पत्ति का होना आवश्यक था। १६८९ ई० में संसद द्वारा एक अध्यादेश के अनुसार इंग्लैण्ड से अनाज निर्यात करने वालों को आर्थिक सहायता देने का प्रोत्साहन दिया गया जिससे जमींदारों में उत्सुकता बढ़ी कि वे अपनी भूमि से उत्पादन बढ़ाकर अधिकाधिक लाभ कमायें।

क्रान्ति का विकास :

कृषि-क्रान्ति के अन्तर्गत सर्वप्रथम कृषि पद्धति को उन्नतिशील बनाने का प्रयास

आरम्भ किया गया। रावर्ट वेस्टर्न ने १६४५ ई० में इस दिशा में प्रथम प्रयास किया। उसने लौंग तथा शलजम जैसी जड़ों वाली फसलों की कृषि द्वारा भूमि की उत्पादन शक्ति को बढ़ाने का सुझाव दिया तथा उसने कहा कि इन वस्तुओं की कृषि के लिये भूमि के एक तिहाई भाग को परती रखने की भी कोई आवश्यकता नहीं होगी। इन जड़ों वाली फसलों से शरद ऋतु में पशुओं के लिये आवश्यक चारा भी उपलब्ध हो सकेगा। दूसरा व्यक्ति जेथरों टुल था जिसने कृषि पद्धति को परिवर्तित करने की चेष्टा की। उसने १७०१ ई० में कृषि के लिये 'ड्रिल' नामक एक यंत्र का आविष्कार किया। उसने खेतों में खाद डालने के विभिन्न ढंगों के परीक्षण द्वारा उपज को बढ़ाने का प्रयास किया। लार्ड टाउनशेण्ड ने भी कृषि के क्षेत्र में अनेक प्रयोग किये। उसने तीन फसलों के स्थानों पर विभिन्न प्रकार की चार फसलों की कृषि करने पर बल दिया जिसके अंतर्गत उसने गेहूँ, शलजम, जौ और लौंग की कृषि करने का सुझाव दिया। कृषि-क्रान्ति में राबर्ट बेकवेल का भी विशेष स्थान है जिसने पशुओं की नस्लों को सुधारने की दिशा में अनेक परीक्षण किये। उसने न्यू लीसेस्टर (New Leicester) नामक एक नई भेंड़ निकाली जिसका औसत भार साठ पाउण्ड होता था जबकि पहले की भेड़ों का भार इक्कीस पाउण्ड होता था। फलस्वरूप माँस की अधिकता के साथ-साथ ऊन के उत्पादन में भी वृद्धि हुई। टामस कुक ने खाद डालने के नवीन ढंगों का प्रयोग कर रेतीली भूमि को भी उपजाऊ भूमि में परिवर्तितत कर दिया। इनके अतिरिक्त सर आर्थर यंग ने भी कृषि को उन्नतिशील बनाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। इतिहासकार ट्रेवेलियन के अनुसार आर्थर यंग 'नवीन कृषि-प्रणाली का दूत' था। उसने कृषि-व्यवस्था में सुधार के लिये 'कृषि परिषद' (Board of Agriculture) की स्थापना में विशेष योगदान दिया। उसने वैज्ञानिक ढङ्ग से कृषि करने के लिये भूमि की चकबन्दी अर्थात् भूमि के छोटे-छोटे भागों को संगठित करने पर बल दिया। इस प्रकार १९वीं शताब्दी के आरम्भ मे इग्लैण्ड की कृषि-व्यवस्था विश्व के समक्ष एक आदर्श बन गई।

प्रभाव :

कृषि-क्रान्ति का इंग्लैण्ड की कृषि एवं आर्थिक व्यवस्था पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। सर्वप्रथम इस क्रान्ति के द्वारा कृषि का वैज्ञानीकरण एव यन्त्रीकरण हुआ जिससे फसलों की अच्छी उपज होने लगी तथा इङ्गलैंड अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ हो सका। यद्यपि आर्थिक दृष्टि से कृषि-क्रान्ति इङ्गलैण्ड के लिए एक वरदान सिद्ध हुई किन्तु सामाजिक दृष्टि से इसके परिणाम अहितकर सिद्ध हुये। वैज्ञानिक ढंग से कृषि करने की क्षमता न रखने वाले कृषकों ने भूमि को बेचना आरम्भ दिया जिससे समाज में भूमिहीन एवं बेरोजगार वर्ग का उदय

हुआ। इस वर्ग के लोगों ने जीविका-प्राप्ति के लिये गाँव छोड़कर नगरों में बसना आरम्भ किया जहाँ उन्हें श्रमिक के रूप में कारखानों में कार्य करना पड़ा। उनमें से बहुत से लोगों को जीविकोपार्जन के लिये अंग्रेजी उपनिवेशों में जाना पड़ा। एक अंग्रेज इतिहासकार का कथन है कि इस क्रान्ति के परिणामस्वरूप देश की ग्रामीण जन-संख्या में कमी आई। स्वतन्त्र कृषकों की कमी तथा समस्त भूमि पर जमींदारों का अधिकार हो जाने से देश का अहित हुआ।

औद्योगिक-क्रान्ति

(Industrial Revolution)

इंग्लैण्ड के इतिहास में औद्योगिक क्रान्ति का एक महत्वपूर्ण स्थान है। यह कोई आकस्मिक घटना न थी वरन् इसका क्रमिक विकास हुआ था तथा इसके मूल में—वैज्ञानिक एवं यांत्रिक उन्नति थी। इस क्रान्ति का आरम्भ सर्वप्रथम इंग्लैण्ड से हुआ किन्तु बाद में अन्य देशों में भी औद्योगिक क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये। इतिहासकार हेजेन के अनुसार, "औद्योगिक क्रान्ति का अर्थ घरेलू उत्पादन-प्रणाली को कारखानों की उत्पाद प्रणाली में बदल देना है।" यद्यपि फ्रास की जनसंख्या, पूंजी, आयात-निर्यात, व्यापार आदि उन्नतिशील अवस्था मे थे किन्तु औद्योगिक क्रान्ति का विकास सर्वप्रथम इंग्लैण्ड से ही हुआ जिसके लिये निम्नलिखित कारण उत्तरदायी थे।

कारण :

(1) औद्योगिक क्रान्ति का सर्वप्रथम कारण इंग्लैण्ड का औपनिवेशिक साम्राज्य था जिससे उसके औपनिवेशिक व्यापार को प्रोत्साहन मिला। इन अंग्रेजी उपनिवेशों से देश के कारखानों के लिये कम मूल्यों में कच्चा माल प्राप्त किया जा सकता था और इतना ही नहीं कारखानों में उत्पादित वस्तुओं को उन उपनिवेशों में बिकने लिये भी भेजा जा सकता था।

(2). दूसरे, सूती एवं ऊनी कपड़ों की बढ़ती हुई माँग भी औद्योगिक क्रान्ति के विकास में सहायक सिद्ध हुई। इंग्लैण्ड द्वारा अनेक उपनिवेशों की स्थापना के फल-स्वरूप वहाँ इन वस्तुओं की माँग में वृद्धि हुई। यद्यपि इंग्लैण्ड के व्यापारियों ने भारत से सूती कपड़े आयात कर माँग की पूर्ति करने का प्रयास किया किन्तु इंग्लैण्ड के वस्त्रोद्योग में लगे हुये लोग यह चाहते थे कि किसी प्रकार उनके देश में कपड़े के उत्पादन में वृद्धि हो। सन् १७११ ई० इंग्लैण्ड की सरकार ने भारतीय वस्त्रों पर आयात-कर लगा कर इस माँग को और भी बलवती बना दिया। अतः इंग्लैण्ड के

लोग ऐसे यन्त्रों के आविष्कार में प्रयत्नशील हो उठे जिससे वस्त्रों के उत्पादन को बढ़ाया जा सके।

तीसरे, इंग्लैण्ड में लोहे तथा कोयले का प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होना भी इस क्रान्ति में प्रमुख कारक था। क्योंकि इन दोनों वस्तुओं का उद्योग में एक महत्व-पूर्ण स्थान होता है। इंग्लैण्ड में लोहे एवं कोयले की खानें पास-पास होने के कारण वहाँ इस्पात बनाने का कार्य सरल हो गया तथा यन्त्रों के निर्माण में भी किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा।

चौथे, इंग्लैण्ड व्यापार एवं विनिमय के क्षेत्रों में पूर्ण स्वतन्त्र था। वहाँ के व्यापारी स्वतन्त्र रूप से वाह्य देशो से व्यापार करते आ रहे थे। जिस समय यूरोप के विभिन्न देश धार्मिक युद्धों में लीन थे उस समय इंग्लैण्ड के लोग अपने यहाँ उत्पादन के विभिन्न साधनों को विकसित एवं परिवर्तित करने की चेष्टा में लगे थे। इस कारण अन्य देशों की अपेक्षा इङ्गलैंड में उद्योग के क्षेत्र में अधिक प्रगति हुई।

पाँचवें, इंग्लैण्ड की बैंकिंग प्रणाली भी औद्योगिक क्रान्ति के विकास में महत्व-पूर्ण कारक सिद्ध हुई। इंग्लैण्ड में फ्रांस से पहले बैंकों की स्थापना हुई जिसके फल-स्वरूप व्यापारियों एवं उद्योगपतियों को पूँजी जमा करने तथा ऋण प्राप्त करने की सुविधायें उपलब्ध हो सकीं।

छठें, इंग्लैण्ड के औद्योगिक क्रान्ति के विकास में वहाँ की नाविक शक्ति ने भी विशेष सहयोग दिया। यूरोप के अन्य देशों की तुलना में वहाँ की नाविक शक्ति काफी अच्छी थी जिससे व्यापार का कार्य सरल हो गया। इंग्लैण्ड में उत्पादित वस्तुओं का सामुद्रिक मार्गों द्वारा विभिन्न देशों को निर्यात किया गया।

सातवें, इस क्रान्ति से पूर्व इंग्लैण्ड में कृषि-क्रान्ति हो चुकी थी जिसके कारण बहुत से कृषक बेरोजगार हो गये थे। अब उन्हें कारखानों में श्रमिक के रूप में लगाया जा सकता था।

अन्त में, इंग्लैण्ड की जनतन्त्रीय-प्रणाली भी औद्योगिक क्रान्ति में सहायक हुई। सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक इंग्लैण्ड में सामन्तवाद का पतन हो चुका था तथा वहाँ जनतन्त्रीय प्रणाली का विकास आरम्भ हो चुका था। अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक इंग्लैण्ड में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की स्थापना हो चुकी थी जिसके फल-स्वरूप वहाँ के उत्पादक एवं व्यापारी बिना किसी राजकीय अंकुश के उद्योगों की स्थापना में प्रयत्नशील हो उठे।

औद्योगिक आविष्कार :

औद्योगिक क्रान्ति का आरम्भ सर्वप्रथम लङ्काशायर के कपड़ा-उद्योग से आरम्भ हुआ जहाँ कताई एवं बुनाई में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। १७३३ ई०

में जॉन के (John Kay)ने 'फ्लाइङ्ग शटल' (Flying Shuttle) नामक एक यन्त्र का आविष्कार किया । १७६५ ई० में जेम्स हारग्रीब्ज (James Hargreaves) ने 'स्पिनिंग जेनी' (Spinning Jenny) का आविष्कार किया जिसमें आठ तकलियाँ होती थीं । अब इस एक यन्त्र के द्वारा एक व्यक्ति आठ व्यक्तियों का कार्य अकेले कर सकता था । १७६९ ई० में रिचर्ड आर्कराइट (Richard Arkwright) ने 'वाटर फ्रेम' (Water Frame) का अविष्कार किया जो जलशक्ति से चलता था । इससे अधिक मात्रा में सूत तैयार किया जाने लगा । १७७९ ई० में सैमुअल क्राम्पटन (Samuel Crompton) ने एक 'चरखड़ी' (Mule) का आविष्कार किया जो 'स्पिनिंग जेनी' तथा 'वाटर फ्रेम' के बीच का यन्त्र का क्योंकि इसमें दोनों विशेषतायें सम्मिलित थीं । १७८५ ई० में एडमण्ड कार्टराइट (Edmund Cartwright) ने 'पावरलूम' (Power-loom) का आविष्कार किया जिससे कपड़े की बुनाई में तेजी आ गई और कपड़े के उत्पादन में भी वृद्धि हुई । इन यन्त्रों के प्रयोग द्वारा १७७५ ई० से १७९० ई० के मध्य लंकाशायर का कपड़ा उत्पादन पहले से चार गुना अधिक हो गया जिससे इंग्लैण्ड का विदेशी व्यापार भी काफी बढ़ गया ।

कपड़ा उद्योग की भाँति लोहा उद्योग की भी प्रगति हुई । अभी तक लोहा पिघलाने का कार्य लकड़ी के कोयले द्वारा होता था किन्तु लकड़ी की कमी के कारण यह कार्य मंद पड़ रहा था । १७६० ई० में स्काटलैण्ड के एक कारखानें में पत्थर के कोयले से लोहा पिघलाने का पहला सफल प्रयोग किया गया जिससे इस्पात व्यापार को काफी प्रोत्साहन मिला तथा कोयले की महत्ता भी बढ़ी ।

औद्योगिकरण में भाप से चलने वाली मशीनों (Steam Engines) का आविष्कार भी महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ । यद्यपि इसका आविष्कार पहले न्यूकामेन (Newcomen) ने किया था किन्तु इसमें सुधार लाने का श्रेय जेम्स वाट (James Watt) को है जिसके फलस्वरूप १७६८ ई० में बार्मिन्घम में भाप से चलने वाले इंजनों का निर्माण आरम्भ हुआ । यद्यपि प्रारम्भ में इन इंजनों का प्रयोग केवल कोयले की खानों से पानी बाहर निकालने में ही होता था किन्तु बाद में इससे विभिन्न प्रकार की मशीनें चलाई जाने लगीं जिससे आधुनिक औद्योगिक प्रणाली का जन्म हुआ । इन भाप से चलने वाले इंजिनों का प्रयोग यातायात के साधनों को विकसित करने में भी किया गया जिसके फलस्वरूप रेल इंजिनों (Rail Engines) तथा जहाजों (Ships) का निर्माण किया गया । जहाजरानी के लिये जल-मार्गों को विकसित किया गया । पहले जो सामान सड़कों द्वारा ले जाने में चालीस शिलिंग में पहुँचता था वही अब जल मार्गों के द्वारा केवल ६ शिलिंग में पहुँचने लगा ।

प्रभाव :

औद्योगिक क्रान्ति का इंग्लैण्ड के समाज पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। इस क्रान्ति का सर्वप्रमुख प्रभाव यह था कि इसके द्वारा इंग्लैण्ड की राष्ट्रीय सम्पत्ति में वृद्धि हुई। इंग्लैण्ड में अनेक उद्योगों एवं कारखानों की स्थापना हुई जहाँ मशीनों द्वारा विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन आरम्भ हुआ। अब इंग्लैण्ड को इन वस्तुओं की बिक्री के लिये नये बाजारों की आवश्यकता हुई जिसके लिये भारत, चीन, जापान आदि देशों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने की दिशा में प्रयास किया गया। इस प्रकार इंग्लैण्ड के व्यापार एवं वाणिज्य का विकास हुआ। इस क्रान्ति का दूसरा महत्वपूर्ण प्रभाव घरेलू उद्योग धन्धों का पतन था। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप घरेलू उत्पादन प्रणाली का स्थान कारखानों की उत्पादन-प्रणाली ने ले लिया क्योंकि कारखानों में यांत्रिक साधनों द्वारा इतना उत्पादन बढ़ा कि साधारण कारीगर उसका मुकाबला न कर सके। विवश होकर उन्हे अपने घरेलू उद्योग धन्धों को बन्द करना पड़ा तथा जीविका के लिये कारखानों अथवा फैक्टरियों का मुँह देखना पड़ा। तीसरे, इस क्रान्ति के द्वारा जनसंख्या का नागरीकरण आरम्भ हुआ। इसका कारण यह था कि घरेलू उद्योगों के नष्ट होने पर लोग बेरोजगार हो गये। अब उन्होने जीविका प्राप्ति के उद्देश्य से नगरों में जाकर बसना आरम्भ किया जहाँ बड़े-बड़े उद्योग एवं कारखाने स्थापित थे। गाँव से आये हुये लोगों को श्रमिकों के रूप में कारखानों में रखा गया। इस प्रकार गाँव निर्जन होने लगे तथा नगरो की जनसंख्या तीव्रगति से बढ़ने लगी।

इस क्रान्ति का एक महत्वपूर्ण परिणाम औद्योगिक पूँजीवाद का विकास है। व्यापारिक पूँजीवाद का विकास औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व हो चुका था तथा लोगों को व्यापार, वाणिज्य एवं कृषि के लिये जितनी पूँजी की आवश्यकता होती थी वह उन्हें मिल जाती थी। किन्तु यांत्रिक विकास एवं कारखानों की स्थापना के लिये बड़ी पूँजी को आवश्यकता हुई जो एक पूँजीपति द्वारा नहीं दी जा सकती थी। अत: बड़े उद्योगों की स्थापना के लिये पूँजीपतियों को सम्मिलित रूप से पूँजी लगानी पड़ी जिससे उद्योगों पर नियंत्रण किसी एक पूँजीपति के हाथों से निकल कर कम्पनियों के अधिकार में जाने लगा। इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप व्यापारिक पूँजीवाद ने औद्योगिक पूँजीवाद का रूप धारण कर लिया। इस क्रान्ति का एक महत्वपूर्ण प्रभाव यह था कि इसके द्वारा उद्योगपति अधिक धनवान होने लगे तथा श्रमिक अधिक निर्धन होने लगे। उद्योगपतियों द्वारा श्रमिकों का अधिकाधिक शोषण किया जाने लगा। उद्योगपतियों को केवल लाभ की लालसा रहती थी तथा श्रमिकों के हितों के प्रति वे उदासीन थे। उनके कार्य करने के घण्टे अधिक थे किन्तु उनकी

तुलना मे उन्हे कम पारिश्रमिक मिलता था। एक इतिहासकार कारखानों मे काम करने वाले श्रमिकों की दशा का वर्णन करते हुये लिखता है, "यह कारखानें प्रायः सीले, दूषित एवं स्वास्थ्य के लिये हानिकारक स्थान होते थे जिनमें केवल मशीनों द्वारा ही काम किया जाता था। ऐसे स्थानों में मशीनों को चलाने वाले श्रमिकों का कई प्रकार की बीमारियाँ हो जाया करती थीं। इतना ही नहीं वे बड़ी लापरवाही से बनाये जाते थे जिसके कई श्रमिक घायल हो जाते थे। कुछ ही मशीनों में ढले हुये लोहे के बाड़ों का प्रबन्ध होता था। अतः इन पर कार्य करने वाले श्रमिक प्रायः पहियों की पकड़ में आकर मर जाते अथवा घायल हो जाते थे। प्रातः काल छः बजे से लेकर बिना किसी अवकाश के रात्रि के दस बजे तक श्रमिकों से कार्य लेना भी कोई असाधारण बात नहीं थी।" किन्तु इंग्लैण्ड की सरकार ने 'मुक्त व्यापार' की नीति (Laissez-faire) का अनुसरण कर इस क्षेत्र में कोई हस्तक्षेप न किया जिसके फलस्वरूप कई वर्षों तक श्रमिकों को उसी दयनीय स्थिति में जीवन व्यतीत करना पड़ा। फलस्वरूप इंग्लैण्ड में समाजवादी विचारधारा एवं श्रमिक संगठनों को विकास के लिये उपयुक्त अवसर प्राप्त हुआ।

●

अध्याय १७

अमेरिका का स्वतन्त्रता संग्राम

(WAR OF AMERICAN INDEPENDENCE)

अमेरिका, ब्रिटिश साम्राज्य का एक अधीनस्थ उपनिवेश था। प्रारम्भ से ही अमेरिकी उपनिवेशों के लोगों को काफी राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। अमेरिकावासियों के विदेशी व्यापार पर सन् १६५१ ई० के पश्चात् इंग्लैण्ड द्वारा कतिपय प्रतिबन्ध लगा दिये गये। इसके साथ ही कई नये कर भी लगाये गये जिनकी अमेरिकावासियों ने उपेक्षा कर दी। आरम्भ में इंग्लैण्ड ने भी ऐसे करों की वसूली में कोई कठोरता न दिखाई। इन उपनिवेशों के लोगो के समय-समय पर इंग्लैण्ड की ओर से अनेक युद्धों में भी भाग लिया था।

सन् १७५४ ई० में सप्तवर्षीय युद्ध के पूर्व इन १३ अमेरिकी उपनिवेशो ने एक सघ बनाने का भी प्रयास किया किन्तु उन्हे सफलता नहीं मिली। सन् १७५५ ई० से सन् १७६३ ई० तक उन्होने इंग्लैण्ड की ओर से फ्रांस के विरुद्ध युद्ध मे भी भाग लिया। इस युद्ध में फ्रास को पराजय स्वीकार करनी पड़ी। इस युद्ध के तीन महत्वपूर्ण परिणाम निकले :—पहला, कनाडा से फ्रांस के हट जाने के कारण उपनिवेशों को अब इंग्लैण्ड के ऊपर अधिक निर्भर रहने की आवश्यकता न थी जिससे उनमे एक नवीन आत्मविश्वास का भाव जागृत हुआ। दूसरे, इंग्लैण्ड को अपनी औपनिवेशिक शक्ति का ज्ञान हुआ तथा अन्त में सप्तवर्षीय युद्ध के कारण इंग्लैण्ड पर काफी ऋण हो गया। यह ऋण अधिकांशत: उपनिवेशों की रक्षा के कारण हुआ था।

अक्तूबर, सन् १७६३ ई० में इंग्लैण्ड ने अपने अमेरिकी औपनिवेशिकों के लिये पश्चिम में भूमि प्राप्त करने पर निषेधाज्ञा लागू कर दी जिसके परिणामस्वरूप वहाँ के लोगों में असन्तोष व्याप्त हो गया।

अमेरिकी उपनिवेशों के लोगों के असन्तोष का दूसरा कारण इंग्लैण्ड की आर्थिक नीति थी। इंग्लैण्ड के युद्ध-ऋण का अधिकतर भाग उपनिवेशों पर था। अत: इंग्लैण्ड की सरकार ने उपनिवेश के लोगों पर करों का भार बढ़ा दिया। सन् १७६४ ई० 'चीनी कानून' (Sugar Act) लागू किया गया जिसके अनुसार शीरे पर कर लगा दिया गया तथा चुंगी अधिकारियों को कठोरतापूर्वक कर वसूलने की

आज्ञा दी गई। उपनिवेश के लोगों को इससे बड़ी असुविधा हुई क्योंकि शीरे से शराब बनती थी जो साधारण जनता का एक मात्र पेय था। दूसरे, वैधानिक रूप से भी जनता ने इसका विरोध किया। जहाँ तक साम्राज्य के व्यापार का प्रश्न था, जनता सिद्धान्ततः इंग्लैण्ड के उस पर प्रतिबन्ध लगाने के अधिकार से सहमत थी। किन्तु राज्य की आय बढ़ाने के लिये कर लगाने की नीति से वह असन्तुष्ट थी। यह जनता के मौलिक अधिकारों के विपरीत था कि बिना उनकी इच्छा जाने उन पर कर लगा दिये जायें। अतः उपनिवेशों की जनता ने बिना प्रतिनिधित्व के कर देने से इन्कार कर दिया।

मार्च, सन् १७६५ ई० के 'स्टाम्प कानून' (Stamp Act) ने इस असन्तोष को और बढ़ा दिया। इस कानून के अनुसार छपे हुये कागजों, समाचार पत्रों, कानूनी दस्तावेजो आदि पर टिकट लगना आवश्यक था। इसका विरोध करने वालों को सैनिक न्यायालय द्वारा दण्डित करने की व्यवस्था की गई थी। यह उपनिवेशो पर पहला प्रत्यक्ष कर था। अभी तक ब्रिटिश संसद ने उन पर चुंगी आदि अप्रत्यक्ष कर ही लगाये थे और प्रत्यक्ष कर केवल उपनिवेशों की विधान सभाओं द्वारा ही लगाये जाते थे। अतः अमेरिका के निवासियों ने इसे अपने स्वशासन के अधिकार के विरुद्ध समझा। दूसरे, इस कर का भार बुद्धिजीवी वर्ग—वकील, अध्यापक आदि पर अधिक पड़ता और यह वर्ग अपने असन्तोष को भलीभाँति व्यक्त कर सकता था। अतः इस कानून का विरोध करने के लिये जनता ने 'स्वतन्त्रता के पुत्र' (Sons of Liberty) नामक एक दल का गठन किया जिसने एक भी टिकट नहीं बिकने दिया। अमेरिका के ९ उपनिवेशो ने इसके विरोध में मैसाचुसेट्स (Massachusetts) में एक सभा की जिससे प्रभावित होकर मार्च, सन् १७६६ ई० में कर हटा दिया गया।

सन् १७६७ ई० में चार्ल्स टाउनशेन्ड इंग्लैण्ड का वित्तमन्त्री बना। उसने कुछ नियम पारित कराये जिन्हें 'टाउनशेन्ड कानून' (Townshend Acts) कहा जाता है। इसके अनुसार इंग्लैण्ड से अमेरिका जाने वाले कागज, काँच तथा चाय पर कर लगाया गया। कर वसूली के लिए चुंगी अधिकारियों को अपरिमित शक्ति प्रदान की गई। इसके द्वारा न्यायालयों को बिना नाम के तलाशी के वारन्ट (अधिकार पत्र) जारी करने का अधिकार दिया गया। अन्त में इन नियमों के द्वारा उपनिवेशों की विधान सभाओं की शक्ति को कम करने का प्रयास भी किया गया। इन करों का लगाने का उद्देश्य यह था कि इसके द्वारा प्राप्त होने वाली धनराशि में से ही उपनिवेशों के गर्वनर तथा न्यायाधीशों आदि का वेतन दिया जाय। अभी तक इनके वेतन का भुगतान विधान सभाओं के अधिकार-क्षेत्र में था जिससे वे विधान सभा पर निर्भर रहते थे। किन्तु नये कानून के द्वारा यह निर्भरता समाप्त हो जाती।

अत: अमेरिका में टाउनशेन्ड कानूनों का बहुत विरोध हुआ। फरवरी सन् १७६८ ई० में सैमुअल एडम्स् ने एक पत्र द्वारा सभा उपनिवेशों का ध्यान इन नियमों की ओर आकृष्ट किया। इनके विरोध हेतु अमेरिकी व्यापारियों ने इंग्लैण्ड से निर्यात बन्द कर दिया। इस उग्र विरोध के कारण लार्ड नॉर्थ (Lord North) द्वारा ५ मार्च सन् १७७० ई० की ये नियम वापस ले लिये गये। इसी दिन अमेरिका के बॉस्टन (Bostan) नामक नगर में बॉस्टनवासियों तथा वहाँ नियुक्त ब्रिटिश सैनिकों के मध्य संघर्ष हो गया जिसमें तीन बॉस्टनवासी मारे गये। क्रान्तिकारियों ने इसे प्रचार का एक अच्छा माध्यम बना कर इसे 'बॉस्टन का कत्लेआम' (Bostan Massacre) के नाम से पुकारा और जनता को उत्तेजित करना प्रारम्भ किया।

इसके पश्चात् सन् १७७० ई० से १७७३ ई० के मध्य कोई घटना नहीं हुई और ऐसा लगने लगा कि अमेरिकावासियों का असन्तोष समाप्त हो गया है। किन्तु सैमुअल एडम्स् आदि क्रान्तिकारियों ने क्रान्ति की आग को जलाये रखने का प्रयास किया। इसके लिए उसने पैट्रिक हेनरी, टॉमस जेफरसन, रिचर्ड हेनरी ली आदि के सहयोग से एक 'पत्र-व्यवहार समिति' (Committee of Correspondence) की स्थापना की।

इसी समय मई सन् १७७३ ई० में ब्रिटिश सरकार द्वारा किये जाने वाले एक कार्य से अमेरिका के निवासी और भी अधिक क्षुब्ध हो गये। 'ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी' की क्षति की पूर्ति के लिये ब्रिटिश सरकार ने इस कम्पनी को अमेरिका में चाय-निर्यात करने और चाय बेचने का एकाधिकार प्रदान किया। इससे अमेरिकी व्यापारियों को काफी हानि होती। अत: १७ दिसम्बर, सन् १७७३ ई० को बॉस्टन में एक भीड भारतीयों का वेष बना कर जहाज पर चढ़ गई और उसने चाय की ३४२ पेटियों को समुद्र में फेंक दिया। इस घटना को 'बॉस्टन की चाय पार्टी' (Bostan Tea Party) कहा जाता है। इसके प्रतिक्रियास्वरूप ब्रिटिश संसद ने चार नियम बनाये जिन्हें 'दमनकारी नियम' (Intolerable Acts) कहा जाता है। इसके पहले नियम के अनुसार बॉस्टन का बन्दरगाह बन्द कर दिया गया। दूसरे नियम द्वारा मैसाचुसेट्स (Massachusetts) में चुने जाने वाले अधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार अब शासक को दे दिया गया तथा वहाँ नगरों में होने वाली सभाओं पर रोक लगा दिया गया। तीसरे नियम 'क्वार्टरिंग एक्ट' (Quartering Act) के अनुसार गवर्नरों को यह अधिकार दिया गया कि वे ब्रिटिश सैनिकों के ठहरने के लिये किसी के भी वास स्थान पर अधिकार कर सकते हैं। अन्तिम नियम 'क्यूबेक एक्ट' (Quebec Act) के द्वारा ओहियो नदी के उत्तर की भूमि, जिस पर कई उपनिवेशों ने अपने अधिकार का दावा किया था, कनाडा के क्यूबेक (Quebec) प्रान्त

को दे दी गई । इसके अतिरिक्त क्यूबेक के उन रोमन कैथोलिकों को अनेक सुविधायें प्रदान की गईं जिनके अमेरिकी घोर विरोधी थे ।

इस परिस्थिति पर विचार करने के लिये ५ सितम्बर, सन् १७७४ ई० को प्रथम महाद्वीपीय कांग्रेस (First Continental Congress) की बैठक फिलाडेल्फिया में हुई जिसमें १२ उपनिवेशों के ५६ प्रतिनिधियों ने भाग लिया । इसी बीच सफॉक (Suffolk) नामक स्थान पर कुछ क्रान्तिकारियों ने इन नियमों के सशस्त्र विरोध का निश्चय किया । इसके साथ ही ब्रिटेन के आर्थिक बहिष्कार का भी निर्णय लिया गया । कांग्रेस ने इसका समर्थन किया । सभा के द्वारा अधिकारों का एक घोषणा-पत्र (Declaration of Rights) तैयार कर ब्रिटेन का आर्थिक बहिष्कार आरम्भ कर दिया गया । दूसरी ओर मैसाचुसेट्स के कॉनकॉर्ड (Concord) नामक नगर में देशभक्त अस्त्र-शस्त्र जमा करने में व्यस्त थे । उसे नष्ट करने के लिये गवर्नर गेज (Gage) ने एक सेना भेजी । इस सेना का किसानों द्वारा सामना किया गया जिसमें आठ अमेरिकी हताहत हुये । अमेरिकी स्वातन्त्र्य युद्ध का यह पहला रक्तपात था । तत्पश्चात् १० मई, सन् १७७५ ई० को फिलाडेल्फिया में ही महाद्वीपीय कांग्रेस (Continental Congress) की दूसरी बैठक बुलाई गई, जिसमें जॉन एडम्स, सैमुअल एडम्स, टॉमस जेफरसन, जार्ज वाशिंगटन तथा बेन्जामिन फ्रैंकलिन आदि ने भाग लिया । इस सभा ने अपने को अमेरिकी सरकार के रूप में स्थापित कर जार्ज वाशिंगटन को अमेरिकी सेना का सर्वोच्च सेनापति घोषित किया परन्तु इस कांग्रेस ने ब्रिटेन के साम्राज्य से अलग होने का निर्णय नहीं लिया ।

इसी बीच टॉमस पेन (Thomas Paine) ने 'कामन सेन्स' (Common Sense) नामक एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें उसने ब्रिटिश शासन पर कठोर प्रहार करते हुए ब्रिटिश शासन को बर्बर एवं अत्याचारी बताया । अमेरिका में होने वाली घटनाओं के लिये पेन ने इंग्लैण्ड के शासक जार्ज तृतीय (George III) को पूर्णरूप से उत्तरदायी ठहराया । उसने कहा कि यह बहुत उपहासास्पद है कि इतना विशाल अमेरिकी महाद्वीप इंग्लैण्ड जैसे छोटे से देश द्वारा शासित हो । उसने यह भी कहा कि इंग्लैण्ड के साथ सम्बन्ध रहने से अमेरिका को उसके युद्धों में फँसना पड़ता है जो अमेरिका के लिये हानिकारक है । अतः अमेरिका के लिये एक मात्र उपाय पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति है । इस पुस्तक का अमेरिका की जनता पर बहुत व्यापक एवं महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा ।

अब अमेरिका पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये तत्पर हो गया था । २९ जून सन् १७७६ ई० को वर्जीनिया (Verginia) ने अपने स्वतन्त्र सविधान की घोषणा कर दी । तदनन्तर ४ जुलाई, सन् १७७६ ई० को कांग्रेस ने भी एक घोषणा पत्र द्वारा

अमेरिका की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। स्वतन्त्रता के इस घोषणा-पत्र का लेखन पाँच सदस्यों की एक समिति के द्वारा किया गया जिसका नेता टॉमस जैफरसन था। इस घोषणा में कहा गया कि "सभी मनुष्य समान पैदा हुए हैं और उन्हें सृष्टा द्वारा कुछ ऐसे अधिकार प्रदान किये गये हैं जो अविच्छिन्न है। ये अधिकार है जीवन, स्वतन्त्रता और सुख प्राप्ति के प्रयास। यह ऐसे अधिकार हैं – जिनका अपहरण नहीं किया जा सकता और इनकी सुरक्षा के लिए ही विभिन्न सरकारों क स्थापना की गई है। यदि कभी कोई सरकार इन अधिकारों का अपहरण करने का प्रयास करती है तो प्रजा को यह अधिकार है कि वह ऐसी सरकार का विरोध कर अपने अधिकारों की रक्षा का प्रयत्न करे।"

इस घोषणा-पत्र के द्वारा अमेरिकी उपनिवेशों ने संयुक्त रूप से ब्रिटेन से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया तथा अपने को 'संयुक्त राज्य अमेरिका' की संज्ञा से विभूषित किया। किन्तु अमेरिका का स्वतन्त्रता संग्राम चलता रहा। अन्त में, ३ फरवरी सन् १७८३ ई० को पेरिस की सन्धि के द्वारा इंग्लैण्ड ने अमेरिका की स्वतन्त्रता को मान्यता दे दी।

महत्व :

अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्राम का आधुनिक विश्व के इतिहास में एक महत्व-पूर्ण स्थान है। प्रथमतः इसके द्वारा एक नवीन राष्ट्र का जन्म हुआ तथा इसने यह सिद्ध कर दिया कि एक सशक्त शासन भी स्वतन्त्रता की माँग की अवहेलना दीर्घकाल तक नहीं किया जा सकता, क्योंकि अमेरिकी उपनिवेशों के लोगों ने इंग्लैण्ड के सम्राट जार्ज तृतीय से संघर्ष कर स्वतन्त्रता प्राप्त की थी।

दूसरे, 'संयुक्त राज्य अमेरिका' राजनीति में एक नया प्रयोग था। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की आधारशिला पर संयुक्त गणराज्य का एक प्रासाद निर्मित किया गया जो यूरोपीय देशों के विपरीत, समानता एवं भ्रातृत्व के सिद्धान्तों पर स्थापित था। यह नवीन प्रयोग राजनीति में विश्व के रूढ़िवादी राष्ट्रों को अपनी स्थिति सुधारने एवं क्रान्ति के लिये एक प्रोत्साहन एवं चुनौती थी। इससे फ्रांसीसी विचारक अत्यधिक प्रभावित हुये तथा उन्हें चिन्तन के लिये नवीन प्रेरणा प्राप्त हुई। जिन फ्रांसीसी सैनिको ने इस युद्ध में भाग लिया था जब वे स्वदेश लौटे तो अपने साथ स्वतंत्रता एवं समानता की भावना को भी साथ लाये जिसे वे अपने देश में स्थापित करना चाहते थे। इनमें लाफायते का नाम विशेष उल्लेखनीय है जिसने फ्रांस लौटते ही वहाँ की क्रान्ति में सक्रिय भाग लिया।

तीसरे, अमेरिका के सबल स्वतन्त्रता संग्राम ने राजा जार्ज तृतीय के राज-शक्ति की वृद्धि के प्रयास को असफल कर दिया तथा ब्रिटिश कैबिनेट पद्धति को

शक्तिशाली बनाया। वास्तविक अर्थों में इसी समय इंग्लैण्ड में संवैधानिक राजतन्त्र स्थापित हुआ।

चौथे, इस क्रान्ति के मध्य वहाँ के निवासी यूरोप के लोगों के सम्पर्क में आये तथा उन्हें वैज्ञानिक कृषि का ज्ञान हुआ जिससे उन्होंने कृषि में काफी प्रगति की।

अन्त में, इसके फलस्वरूप ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुये। अब यह विदित हो गया कि जिन उपनिवेशों में 'श्वेत' निवास करते है उन्हें दीर्घकाल तक आधीन नहीं रखा जा सकता है। अतः इन उपनिवेशों को स्वशासन प्रदान करने की नीति अपनाई गई। अब अमेरिकी उपनिवेश खोकर इंग्लैण्ड ने भारत की ओर अपना विशेष ध्यान दिया। अब इंग्लैण्ड ने उपनिवेशों की प्राप्ति के साथ ही उन्हें उन्नतिशील बनाने की ओर भी ध्यान दिया जिसके फलस्वरूप आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका आदि उपनिवेशों का विकास कार्य आरम्भ हुआ।

अध्याय १८

बौद्धिक क्रान्ति

(INTELLECTUAL REVOLUTION)

यूरोप में अठारहवी शताब्दी में अनेक ऐसे बुद्धिजीवी हुये जिनके विचारों के फलस्वरूप एक व्यापक जागृति हुई जिसे 'बौद्धिक क्रान्ति' (Intellectual Revolution) अथवा 'बौद्धिक आन्दोलन' (Intellectual Movement) का नाम दिया गया। इस शताब्दी को 'बुद्धिवाद के युग' (Age of Reason) की संज्ञा दी गई। इस युग के दार्शनिकों ने समाज एवं धर्म में प्रचलित प्रत्येक अन्धविश्वास, अन्याय एवं पुरातन व्यवस्था पर आघात किया। उनका उद्देश्य भ्रष्ट शासन-व्यवस्था तथा क्रूर न्याय-प्रबन्ध को परिवर्तित करना तथा समाज से विशेषाधिकारों को समाप्त करना था। फलस्वरूप यूरोपीय समाज के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक क्षेत्रों में नवीन मान्यताओं का उदय हुआ। इंग्लैण्ड निवासी सर आइजेक न्यूटन (Sir Isaac Newton, 1642–1727) इस युग का सबसे प्रतिभाशाली वैज्ञानिक था जिसने 'गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त' (Law of Gravitation) का प्रतिपादन किया जो कालान्तर में भौतिक विज्ञान का आधार-स्तम्भ सिद्ध हुआ। न्यूटन की सुप्रसिद्ध रचना का नाम 'प्रिंसिपिया (Prinsipia) है जिसे मानवीय ज्ञान की एक उत्कृष्ट रचना के रूप में स्वीकार किया जाता है। सत्रहवी शताब्दी एवं अठारहवीं शताब्दी की वैज्ञानिक प्रगति का अन्य क्षेत्रों पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। वैज्ञानिक चेतना ने एक नवीन दृष्टिकोण को जन्म दिया जो विवेक पर आधारित था। दार्शनिक भी इस नवीन दृष्टिकोण से प्रभावित हुये जिनमें रेन देकार्त (Rene Decarte, 1596–1650) सर्वप्रमुख था। यद्यपि देकार्त एक गणितज्ञ था किन्तु दर्शन के क्षेत्र में उसने महत्वपूर्ण योगदान दिया। उसके समकालीन इटेलियन दार्शनिक पियर गसेण्डी (Pierre Gassendi, 1592–1650) ने उसके विचारों का समर्थन किया। बेल्जियम के प्रसिद्ध दार्शनिक बरुच स्पिनोजा (Baruch Spinoza, 1632–1717) ने आत्मा एवं प्रकृति को मूलतः एक ही तत्व स्वीकार किया। जॉन लॉक (John Locke, 1632–1704) भी एक प्रसिद्ध दार्शनिक था जिसने इन्द्रियों को ही वास्तविक ज्ञान का साधन स्वीकार किया तथा समानता के सिद्धान्त का

फा०—१५

प्रतिपादन किया इनके अतिरिक्त लाइबनिज, बिशप बर्कले, तथा डेविड ह्यूम के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

फ्रांसीसी दार्शनिक भी इस नवीन बौद्धिक चेतना से अप्रभावित न रह सके। उन पर विशेषकर जॉन लॉक एवं सर आइजेक न्यूटन का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। फ्रांस की 'बौद्धिक क्रान्ति' के प्रवर्तको की परम्परा इतिहास में 'प्रबुद्धवादियों' (Philosphe) के नाम से विख्यात है। प्रबुद्धवादी विचारक विवेकशील थे जिसके कारण वे प्रत्येक तथ्य की सत्यता तथा उपयोगिता को विवेक की कसौटी पर कसते थे। उनकी दूसरी प्रमुख विशेषता उनका मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण था क्योंकि वे पूर्ववर्ती वैज्ञानिक प्रगति से पूर्णतया प्रभावित थे। तीसरे, ये प्रबुद्धवादी विचारक 'मानववादी' (Humanist) थे जिसके कारण उन्होंने व्यक्ति की स्वतन्त्रता को प्राथमिकता दी तथा मानव-अधिकारों एवं मानव आदर्शों को प्रतिष्ठित करने पर बल दिया। फलस्वरूप इन दार्शनिकों ने तत्कालीन फ्रांस की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक अव्यवस्था पर प्रहार कर इस दिशा मे अपने महत्वपूर्ण विचारों की अभिव्यक्ति की। अठारहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी दार्शनिकों में निम्नलिखित प्रमुख थे जिनके द्वारा वहाँ 'बौद्धिक क्रान्ति' का विकास हुआ।

मान्तेस्क्यू (Montesquieu, 1689-1753) :

फ्रांसीसी क्रान्ति (१७८९ ई०) के एक शताब्दी पूर्व १८ जनवरी १६८९ ई० को मान्तेस्क्यू का जन्म हुआ था। जब वह सात वर्ष का था तो उसकी माता का स्वर्गवास हो गया। ग्यारह वर्ष की आयु में उसे शिक्षा-ग्रहण करने के लिये पेरिस के निकट एक विद्यालय में भेजा गया जहाँ उसने पाँच वर्ष रह कर शिक्षा प्राप्त की। तत्पश्चात १७०८ ई० में उसने विधि-शास्त्र की उपाधि प्राप्त की तथा न्यायालय में वकालत करने लगा। सन् १७२८ ई० में उसने आस्ट्रिया, हंगरी, इटली, जर्मनी, इंग्लैण्ड आदि यूरोपीय देशों का भ्रमण किया। इंग्लैण्ड में वह लगभग अठारह महीनें रहा तथा इस अवधि में उसने वहाँ की राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन किया। वह इंग्लैण्ड की राजनीतिक संस्थाओं एवं वहाँ के संविधान से अत्यधिक प्रभावित हुआ। वहाँ से फ्रांस लौटने पर वह अपने जन्म-स्थान ला ब्रेडे में निवास करने लगा जहाँ उसने अपना शेष जीवन अध्ययन, चिन्तन, मनन एवं ग्रंथ के प्रणयन में अर्पित कर दिया। अन्त में १७५५ ई० को उसका देहावसान हो गया।

यद्यपि मान्तेस्क्यू ने अनेक ग्रंथों की रचनायें की हैं किन्तु उनमें (i) 'पर्शियन पत्र' (Persian Letters), (ii) रोमवासियों की महानता एवं पतन के कारणों की झाँकी' (Reflection on the Causes of the Greatness and the Decadence

of the Romans), (iii) 'कानून की आत्मा' (The Spirit of the laws) आदि तीन उल्लेखनीय रचनायें हैं जिनमें तीसरी विशेष महत्वपूर्ण है। 'कानून की आत्मा' की रचना में मान्तेस्क्यू ने लगभग बीस वर्ष लगाये। मान्तेस्क्यू का विचार था कि मानव समाज के सत्य को जानने के लिये विधियों में अन्तर्निहित भावनाओं का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। उसके अनुसार, "विधियाँ न तो विवेक से निःसृत है और न कोई उच्चतर सत्ता ही उनका स्रोत है। विधियों के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान के लिये उनके मूल को जानना चाहिये, उनकी उत्पत्ति एवं विकास के आधार पर विद्यमान कारण तथा परिणाम के पारस्परिक सम्बन्धों का पता लगाना चाहिये। प्रत्येक देश की भौगोलिक, प्राकृतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक तथा नैतिक परिस्थितियों के साथ उस देश के कानूनों का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अतः कोई कानून सार्वभौम रूप से सभी देशों एवं जातियों के लिये सर्वोत्तम नहीं हो सकता है। एक देश के लिये उपयोगी कानून वही हो सकता है जो कि उस देश की परिस्थितियों के अनुसार विवेक के आधार पर बनाया गया हो।" उसने शासन को गणतन्त्र, राजतन्त्र यथा निरंकुश-तन्त्र तीन भागों में विभाजित किया है तथा इन तीनों तन्त्रों पर अपना विचार व्यक्त किया है। शासन-तन्त्र के सम्बन्ध में उसका कथन है कि कोई प्रणाली भी अति उत्तम नहीं कही जा सकती क्योंकि शासन-प्रणालियों की सफलता उस देश अथवा स्थान की परिस्थितियों पर पूर्णतः निर्भर करती है।

मान्तेस्क्यू का कथन है कि स्वतंत्रता एक ऐसी धारणा है जिसके माध्यम से व्यक्ति अपनी इच्छानुसार बिना किसी प्रतिबन्ध के उचित आचरण करता है। किसी को स्वतन्त्रता को केवल लिखित घोषणाओं द्वारा नहीं प्राप्त हो सकती वरन् यह इस पर निर्भर करता है कि उन्हें किस भावनाओं के द्वारा देश में कार्यान्वित किया गया है। उसके अनुसार शासन का विधि-संगत होना आवश्यक है तथा विधि-संगत शासन की दो अनिवार्यतायें हैं—प्रथम, शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त, तथा द्वितीय अवरोध एवं संतुलन का सिद्धान्त। 'शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त' (Theory of Separation of Powers) का प्रतिपादन कर उसने कहा कि शासन की तीनों शक्तियाँ यथा व्यवस्थापिका (Legislature), कार्यपालिका (Executive) एवं न्यायपालिका (Judiciary) को पृथक पृथक होना चाहिये। क्योंकि जब यह शक्तियाँ किसी व्यक्ति विशेष अथवा संस्था में निहित हो जाती हैं तो उसके अधिनायक बनने की शंका उत्पन्न हो जाती है तथा जनता का शोषण आरम्भ हो जाता है। अतः राज्य में व्यवस्थापिका, कार्यपलिका तथा न्यायपालिका शक्तियों को एक दूसरे से पृथक होना चाहिये। इस सन्दर्भ में वह इंग्लैण्ड की शासन-व्यवस्था की ओर ध्यान आकर्षित कराते हुये कहता है कि वहाँ की स्वतन्त्रता का रहस्य शासन की तीनों शक्तियों का

एक दूसरे से पृथक होने तथा 'अवरोध एवं संतुलन' के सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना में निहित है। उसका विचार था कि शासन की इन तीनो शक्तियों के ऊपर आपसी नियन्त्रण होना चाहिये जिससे उनका संतुलन बना रहे। इस उद्देश्य से माण्टेस्क्यू ने 'अवरोध एवं सतुलन' के सिद्धान्तों पर बल दिया।

वाल्तेयर (Voltaire, 1694-1778) :

वाल्तेयर का जन्म २१ नवम्बर १६६४ ई० को पेरिस के एक बुर्जुआ परिवार में हुआ था। उसे दस वर्ष की आयु मे एक जेसुइट विद्यालय मे भेजा गया जहाँ उसने लैटिन एवं ग्रीक भाषाओ के अतिरिक्त इतिहास, काव्य एवं नाट्य-शास्त्र का भी अध्ययन किया। उसके पिता की यह इच्छा थी कि वह वकील बने किन्तु वाल्तेयर की अभिरुचि साहित्य के प्रति अधिक थी तथा वह साहित्यकार बनना चाहता था। अपने लेखों के कारण उसे कुछ वर्ष करागार मे भी व्यतीत करने पड़े। वहां से मुक्त होने पर वह इंग्लैण्ड चला गया जहाँ तीन वर्ष रहने के पश्चात् यह पुनः फ्रास लौट आया। सन् १७३३ ई० मे उसने इंग्लैण्ड तथा फ्रांस के सम्बन्ध पर एक रचना प्रकाशित की जिस पर उसे पुनः फ्रांस छोड़ना पड़ा। प्रशा के शासक फ्रेडरिक महान् के निमन्त्रण पर वह बर्लिन पहुँचा। फ्रेडरिक महान् उसे अपना मित्र एवं मनीषी मानता था। वाल्तेयर के नाटकों, निबन्धों, व्यंगात्मक लेखों कविताओ तथा अन्य दार्शनिक एवं ऐतिहासिक रचनाओं के आधार पर उसे 'बौद्धिक सम्राट' अथवा 'साहित्य-सूर्य' की संज्ञा से विभूषित किया जाता है।

उसने तर्क, सहिष्णुता एव प्राकृतिक सिद्धान्तों पर विशेष बल दिया। उसने चर्च की व्यवस्था पर कटु व्यंग कर उसकी घोर आलोचना की। उसने चर्च के संस्कारों एवं उसके परस्पर विरोधी सिद्धान्तों को रूढ़िवादिता एवं धार्मिक रक्तपात के लिये उत्तरदायी बताते हुये उनका विरोध किया। उसके अनुसार चर्च अनाचार एवं संकीर्णता का प्रतीक ही नहीं वरन् मानवता का घोर शत्रु है। उसने कहा कि "ईश्वर में विश्वास करो और अच्छे मनुष्य बनो।" अपनी प्रसिद्ध रचना 'दार्शनिक कोष' (Philosophic Dictionary) में वह कहता है कि चर्च के कोई विशेषाधिकार नहीं हैं, सारे धर्माधिकारी पाखण्डी हैं तथा समस्त देववाणियाँ मनगढ़ंत है। अतः जनता द्वारा पोप अथवा चर्च को धन नहीं देना चाहिये। उसने अपनी दूसरी रचना 'इंग्लैण्ड पर पत्र' (Letters on the English) के अंतर्गत उसने इंग्लैण्ड के लोगों को प्राप्त स्वतंत्रता एवं समानता का वर्णन कर फ्रांस के लोगों को उससे परिचित कराया जो उन्हें अप्राप्य थे। इंग्लैण्ड के सम्बन्ध में वह लिखता है कि "वहाँ समस्त नागरिकों को वैयक्तिक एवं सम्पति सम्बन्धी स्वतन्त्रता, प्रेस की स्वतन्त्रता, फौजदारी

के अपराधों का स्वतन्त्र व्यक्तियों की एक जूरी द्वारा न्याय किये जाने का अधिकार, विधि के अनुसार अपराध निर्णय तथा धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार प्राप्त है।" किन्तु वह उदारवाद एव प्रजातन्त्र का समर्थक न था। वाल्तेयर एक स्थान पर राजतन्त्र का समर्थन करते हुये लिखता है कि "क्योंकि आज्ञा-पालन मेरा धर्म है, इसलिये मैं अपनी जाति के दो सौ चूहों की आज्ञा मानने की अपेक्षा उच्च वंश में जन्मित एक सिंह का पालन करना अधिक श्रेयस्कर समझता हूँ।"

रूसो (Rousseau, 1712-1778) :

रूसो का जन्म २८ जून १७१२ ई० को स्विजरलैण्ड के जिनेवा नगर में हुआ था। उसका पिता एक घड़ीसाज था। बाल्यकाल में ही रूसो की माता का देहवासान हो गया। यद्यपि उसके परिवार-सम्बन्धियों ने उसे शिक्षा दिलाने की व्यवस्था की किन्तु वह अधिक समय तक वहाँ न रह सका। सोलह वर्ष की आयु मे घर छोड़कर वह इधर-उधर घूमने लगा तथा अन्त में पेरिस में बस गया। १७४६ ई० में उसने दिजों (Dijjon) अकादमी की ओर से आयोजित एक निबन्ध प्रतियोगिता में भाग लिया जिसका विषय था—'कला एवं विज्ञान की प्रगति ने नैतिक जीवन को उन्नत किया है अथवा उसे भ्रष्ट किया है।' रूसो को इस प्रतियोगिता में न केवल प्रथम पुरस्कार मिला वरन् उसका निबन्ध बौद्धिक जगत की चर्चा का प्रमुख विषय बन गया। इसके उपरान्त रूसो ने अनेक ग्रंथों की रचनायें कीं जिनमें 'एमिल' (Emile) एवं 'सामाजिक संविदा' (Social Contract) प्रमुख हैं। इन दोनों ग्रंथों से उसकी बौद्धिक विचारों का ज्ञान प्राप्त होता है।

उसके 'सामाजिक संविदा' का आरम्भ इस वाक्य से हुआ है कि "मनुष्य स्वतन्त्र जन्मा है किन्तु वह सर्वत्र बन्धनों में जकड़ा हुआ है।" उसका कथन है कि जन्म के समय शिशु सभी बन्धनों से मुक्त होता है किन्तु शनैः-शनैः वह परिस्थितियों के वशीभूत होने लगता है। राज्य के निर्माण के सम्बन्ध में हाब्स एवं लॉक की भाँति रूसो भी मनुष्य की प्राकृतिक अथवा आदिम अवस्था का चित्रण करता है। उसके अनुसार प्राकृतिक अवस्था में मानव बहुत सरल, स्वाभाविक एवं सुन्दर जीवन व्यतीत कर रहा था जिसमें सभी समान और स्वतन्त्र थे। उस समय न तो उनकी स्वतंत्रता छीनने वाले कानून थे और न ही समानता का अन्त करने वाला शासन था। मनुष्य एक सज्जन वनचारी (Noble savage) की भाँति रह रहा था किन्तु कालान्तर में कुछ लोगों की स्वार्थपूर्ण प्रवृत्ति के कारण सम्पत्ति का जन्म हुआ जिससे पारस्परिक द्वेष, संघर्ष, दरिद्रता एवं शोषण का विकास हुआ। मनुष्य जो स्वतन्त्र जन्मा था इन बन्धनों से जकड़ गया जिससे मुक्ति के लिये उसने एक संविदा अथवा समझौता

किया। इस संविदा के अन्तर्गत लोग एक स्थान पर एकत्रित होकर कहते हैं कि "हम में से प्रत्येक व्यक्ति अपने शरीर एवं अपनी सम्पूर्ण शक्ति को अन्य सब के साथ सामान्य इच्छा को प्रदान करते हैं, उसके सर्वोच्च नियन्त्रण में रखते हैं तथा हम इसे सामूहिक रूप में प्रत्येक सदस्य को सम्पूर्ण का एक अविभाज्य अंग मानते हैं।" इस संविदा के फलस्वरूप एक नैतिक एवं सामूहिक निकाय का निर्माण होता है जिससे एक नवीन सभ्य समाज एवं राज्य का निर्माण होता है जिसमें व्यक्ति नागरिक का रूप धारण कर लेता है तथा उसकी प्राकृतिक स्वतन्त्रता नागरिक स्वतन्त्रता में परिणित हो जाती है। रूसो का कथन है कि इस संविदा के अनुसार वैयक्तिक इच्छा का स्थान एक 'सामान्य इच्छा' (General will ले लेती है जो सर्वोच्च, अविभाज्य एवं स्थायी है तथा कानून का स्रोत है। उसके अनुसार 'सामान्य इच्छा' ही राज्य का आधार है तथा सत्ता का अधिकार किसी व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह को न होकर सम्पूर्ण समाज को प्राप्त है। इस प्रकार रूसो ने लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। जहाँ तक व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं उसके अधिकारों का सम्बन्ध है रूसो का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवन, सम्पत्ति एवं स्वतन्त्रता सम्बन्धी कुछ प्राकृति अधिकार प्राप्त हैं जो उससे छीने नहीं जा सकते है। उस शासन के प्रति मनुष्य का कोई कर्तव्य नहीं है जो इन प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा न कर सके। उसके अनुसार कानूनों का पालन ही स्वतन्त्रता है क्योंकि उनका स्रोत मनुष्य की 'सामान्य इच्छा' होती है। इस प्रकार रूसो के प्रमुख सिद्धान्त—जनता का प्रभुत्व, नागरिकों की समानता एवं स्वतन्त्रता फ्रांस के क्रान्तिकारियों के लिये प्रेरणादायक सिद्ध हुये। एडमण्ड बर्क फ्रांसीसी क्रान्तिकारियों का उल्लेख करते हुये लिखता है कि "रूसो ही उनकी बाइबिल है, उसे ही वे पढ़ते है, मनन करते हैं तथा जो समय बचता है उसे वे उसकी कृतियों के पृष्ठ उलटने में खर्च कर देते हैं।"

अर्थशास्त्री एवं विश्वकोषाकार (Physiocrats & Encyclopaedists) :

अर्थशास्त्रियों (Physiocrats) तथा विश्वकोषाकारों के विचारों का भी बौद्धिक-क्रान्ति में महत्वपूर्ण स्थान है। फ्रांसीसी अर्थशास्त्रियों पर इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एडम स्मिथ (Adam Smith) का विशेष प्रभाव पड़ा। उनके अनुसार सम्पत्ति धारण करना मनुष्य का प्राकृतिक अधिकार है। सम्पत्ति का मूल साधन भूमि है तथा कृषि एवं खनिज उद्योग दोनों ही भूमि पर आधारित हैं। अत: भूमि-कर के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं पर से आयात-निर्यात कर समाप्त कर देने चाहिये। उद्योग-धन्धों तथा व्यापार-वाणिज्य में प्रशासन का न्यूनतम हस्तक्षेप होना चाहिये। इस प्रकार उन्होंने मुक्त-व्यापार (Laissez-faire) के सिद्धान्त पर बल दिया। इन

अर्थशास्त्रियों में क्वेने (Quesnay, 1694—1774), गूर्ने (Gournay, 1712—1759), रेवियर (Raviere, 1720—1793), तुरगो (Turgot, 1727—1781) आदि के नाम प्रमुख हैं।

इन नवीन विचारों के प्रचार का कार्य विश्वकोष-लेखकों (Encyclopaedists) ने किया। दिदरो (Diderot, 1713 – 1745) ने अनेक लेखकों के सहयोग से 'विश्वकोष' (Encyclopaedia) का पैंतीस खण्डों में सम्पादन किया जिसके फलस्वरूप नवीन विचार जनता तक पहुँच सके। फ्रांस के पादरियों ने इसे ज्ञान का भण्डार न मानकर धार्मिक जीवन को नष्ट करने का कुचक्र बतलाया। इसका कारण यह था कि इसके अंतर्गत चर्च में प्रविष्ट कुरीतियों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित कराया गया था। निरंकुश शासन के विरुद्ध भी इसमें अनेक लेख सम्मिलित थे जिसके कारण दिदरो को अनेक यातनायें सहन करनी पड़ी तथा उसे कुछ समय के लिये कारागार में भी रखा गया।

इस प्रकार इन दार्शनिकों ने अपने विचारों द्वारा नवीन जागृति उत्पन्न कर दी। मुख्य रूप से इनके विचारों का प्रभाव मध्यम वर्ग पर पड़ा। इन विचारकों ने परम्परागत संस्थाओं एवं व्यवस्थाओ की आलोचना की तथा उनके प्रति निराधार आदर का अन्त कर दिया। ये पुरातन व्यवस्था को उखाड़ फेंकने के लिये जनता को तैयार करने में सफल हुये। वास्तव में फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के इतिहास में 'बौद्धिक क्रान्ति' का एक महत्वपूर्ण स्थान है। इसने फ्रांसीसियों को बौद्धिक सामग्री एवं नैतिक बल प्रदान कर राज्य-क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त किया।

●

अध्याय १९

फ्रांस की पुरातन व्यवस्था

(ANCIEN REGIME IN FRANCE)

फ्रांस की राज्य-क्रान्ति कोई आकस्मिक घटना न थी। इसकी पृष्ठभूमि में लगभग एक शतक पूर्व से ही रूढ़िवादी सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनीतिक मान्यताओं के विरुद्ध प्रतिक्रियाएँ सक्रिय थीं। फ्रांस के विचारकों ने इन रूढ़िवादी मान्यताओं का उपहास कर उसकी कटु आलोचना की तथा देश में नवीन मान्यताओं पर आधारित आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक व्यवस्था स्थापित करने के लिये फ्रांसीसियों का दिग्दर्शन किया जिसके फलस्वरूप राज्य-क्रान्ति सम्पन्न हुई। आधुनिक इतिहासकारों ने क्रान्ति से पूर्व की व्यवस्था को 'पुरातन व्यवस्था' (Ancien Regime) की संज्ञा से अभिहित किया है। वास्तव में इस व्यवस्था का तात्पर्य बोरबाँ राजवंशकालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि व्यवस्थाओं से था जो १७८९ ई० के पूर्व फ्रांस में स्थापित थीं तथा जिनका अत करना क्रान्तिकारियों का प्रमुख लक्ष्य बना।

राजनीतिक व्यवस्था

सन् १७८९ ई० के पूर्व फ्रांस की राजनीतिक व्यवस्था में अनेक कुरीतियाँ व्याप्त थीं। वहाँ का शासन-तन्त्र नितान्त स्वेच्छाचारी एवं अत्यन्त भ्रष्ट था। वह एक अपव्ययी तथा नैतिकताहीन निरंकुश एकतन्त्रीय व्यवस्था थी जिसका बीजारोपण हेनरी चतुर्थ ने किया था तथा लुई चतुर्दश एवं प्रधानमन्त्री रिशेलू ने जिसे पराकाष्ठा को पहुँचाया। फलस्वरूप देश में राजा की सर्वोच्चता स्थापित हुई जो स्वयं को पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि स्वीकार करने लगा। लुई चतुर्दश ने तो इसे स्वीकार करते हुये कहा कि "मैं राज्य हूँ" (I am state)। राजा किसी संस्था, वर्ग अथवा व्यक्ति के प्रति कदापि उत्तरदायी नहीं था। कार्यपालिका पर उसका एकाधिकार था तथा उसके वैधानिक एवं न्याय सम्बन्धी अधिकारों की कोई सीमा निश्चित नहीं थी। यदि फ्रांस में कोई प्रतिनिधि संस्था थी तो वह 'स्टेट्स जनरल' (States General) थी जो एक प्रकार से राजा की परामर्शदायिनी सभा थी जिसका १६१४ ई० के उपरान्त १७५ वर्षों तक कोई अधिवेशन नहीं बुलाया गया था। अस्तु राजा

ही विधि-विधाता था। उसके आदेश ही कानून होते और वे तब तक अस्तित्व में रहते जब तक वह चाहता था। किसी भी समय वह किसी प्रचलित कानून को रद्द कर नया कानून निर्मित कर सकता था। राज्य के समस्त राजकीय पदों पर नियुक्तियाँ उसके द्वारा ही सम्पादित होती थीं। वह किसी को नियुक्त कर सकता था तथा अपनी इच्छानुसार किसी को निर्विवाद पदच्युत कर सकता था। प्रशासन में महत्वपूर्ण पद चांसलर, वित्तीय महानियन्त्रक, चार सचिवो तथा शाही परिषद् में सदस्यों के थे। चांसलर मुख्यरूप से राज्य-प्रशासन, शिक्षा, पुस्तक एव प्रशासन के प्रति उत्तरदायी था। राजा की अनुपस्थिति में वह शाही परिषद का अध्यक्ष होता था। यह अपने अन्तर्गत कर्मचारियों की सहायता से विधायी आदेशों का सृजन तथा निर्वाह करता था। शाही परिषद का गठन चार उप-परिषदों—आन्तरिक प्रशासन परिषद्, वित्तीय परिषद, राज्य परिषद तथा प्रिवी परिषद के द्वारा होता था। इन सब में सर्वप्रमुख 'प्रिवी परिषद' थी जो तत्कालीन फ्रांस की सर्वोच्च न्यायालय भी थी किन्तु परिषद तथा अन्य प्रशासनिक संस्थाओं में परस्पर ईर्ष्या रहती थी। इनमें परस्पर सहयोग नहीं हो पाता था क्योंकि इनमें किसी के अधिकार क्षेत्रों का स्पष्ट निर्देष नहीं था। अतः ये परस्पर एक दूसरे के अधिकार-क्षेत्रों का अतिक्रमण भी किया करती थीं। कुशल प्रशासन के मार्ग में एक अन्य बाधा प्रान्तीय प्रशासन पर केन्द्र का कठोर अंकुश था जिसके कारण छोटी-छोटी समस्याओं के सम्बन्ध में भी केन्द्र की सम्मति लेनी पड़ती थी जिनमें काफी विलम्ब होता था। प्रान्तीय प्रशासन को यह भी अधिकार न प्राप्त था कि वह स्वेच्छा से किसी चर्च का जीर्णोद्धार करा दे अथवा दीन-दुखियों को कोई सहायता प्रदान कर सके। अतः केन्द्रीय प्रशासन के प्रति जनता का असंतोष बढ़ता गया।

तत्कालीन फ्रांस 'इन्टेन्डेन्सीज' (Intendancies) अथवा 'जनरल्टीज' (Generalties) में विभक्त था जिनकी संख्या चौंतीस था। प्रत्येक मे एक 'इन्टेडेन्ट' (Intendant) की व्यवस्था थी जो राजा द्वारा बुर्जुआ वर्ग (Bourgeois) अथवा मध्य वर्ग से नियुक्त किया जाता था तथा प्रान्तीय प्रशासन के लिये पूर्णरूपेण राजा के प्रति उत्तरदायी था। वह प्रत्यक्ष करों का निर्धारण करता तथा उनकी वसूली करता था। वह प्रशासनिक एवं वित्तीय कर्मचारियो पर विशेष दृष्टि रखता था। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक निर्माण-कार्य तथा सार्वजनिक मण्डियो का नियन्त्रण भी उसके कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत था। 'पार्लेमां' (Parlement) के अतिरिक्त प्रायः सभी प्रान्तीय यायालय उसके अधिकार क्षेत्र में आते थे। स्थानीय पुलिस की भर्ती, सैनिकों की न्युक्ति तथा संचार-व्यवस्था भी उनके कर्त्तव्यों में सम्मिलित था। इतना ही नहीं शिक्षा एवं धार्मिक व्यवस्था पर भी उसका नियन्त्रण था। संक्षेप मे यह कि परोक्ष

रूप में 'इन्टेन्डेन्ट' प्रान्त में राजा के अनुरूप होता था जो अपने प्रान्त में स्वेच्छाचारी एवं सर्वेसर्वा होता था । अनैतिक एव अत्याचारपूर्ण आचरण के कारण फ्रांस की जनता में इन 'इन्टेन्डेन्टों' के प्रति घोर अविश्वास एवं घृणा व्याप्त हो गई। नागरिक प्रशासन की भाँति सैनिक व्यवस्था मे भी अनेक कुरीतियाँ प्रचलित थीं। उच्च सैनिक पद कुलीनों के लिये सुरक्षित थे जिससे साधारण सैनिकों में बहुत असंतोष था।

न्याय एवं विधि व्यवस्था भी अत्यन्त दूषित थी। देश में कोई निश्चित एवं लिपिबद्ध विधि संहिता नही थी । सम्पूर्ण फ्रास में परम्परागत कानूनों की २८५ संहितायें प्रचलित थीं जिसके कारण एक स्थान पर जो वैध था वही कुछ मीलों की दूरी पर अवैध था। न्यायालयों की क्रियाविधि एव अधिकार क्षेत्र भी स्पष्ट न थे। उनका संगठन भी भ्रामक था। यह जानना सहज नहीं था कि अमुख न्यायालय किस अभियोग का निर्णय करेगा। राजकीय न्यायालय, चर्च-न्यायालय एवं सामन्तीय न्यायालय आदि पृथक न्यायालय थे जिनमें प्रथम अथवा राजकीय न्यायालय प्रमुख था। सर्वोच्च न्यायालय को 'पार्लेमाँ' कहा जाता था जिनकी संख्या तेरह थी। इनका अपना विशेष महत्व था । 'पेरिस की पार्लेमाँ' (Parlement of Paris) का अत्यधिक महत्व था क्योंकि इस न्यायालय में ही राजाज्ञा लिपिबद्ध होकर राजकीय कानून का रूप धारण करती थी। राजकीय न्यायालय पुनः प्रशासकीय, एडमिरल्टीज, सैनिक एवं वाणिज्यिक न्यायालयों में विभक्त थे । इन सभी न्यायालयों की कार्य-विधि भ्रामक एवं भ्रष्ट थी। इसमें अपव्यय तथा विलम्ब होता था । न्यायाधीश का पद योग्यता पर नहीं अपितु धन-सम्पन्नता एवं वंशानुक्रमण के आधार पर प्रदान किये जाते थे। यद्यपि अपराधों के लिये विभिन्न प्रकार के दण्ड निर्धारित थे किन्तु प्रायः एक ही प्रकार के अपराध के लिये विभिन्न प्रकार के दण्ड दिये जाते। छोटे-छोटे अपराधों के लिये भी प्राणदण्ड की व्यवस्था थी अपराधियों को बुरी तरह प्रताड़ित किया जाता था। 'लेटर्स द काशे' (Letters de Cachet) स्वेच्छाचारी न्याय-व्यवस्था का एक स्पष्ट उदाहरण है। ये एक प्रकार के गिरफ्तारी के ऐसे आदेश-पत्र थे जिन पर राजा के पूर्व हस्ताक्षर होते थे। इनके आधार पर किसी को भी किसी समय अकारण ही गिरफ्तार किया जा सकता था। प्रसिद्ध विचारक वाल्तेयर एवं मिराबो को इन्हीं आदेश पत्रों के द्वारा बन्दी बनाया गया था।

सामाजिक व्यवस्था

फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के पूर्व वहाँ की सामाजिक व्यवस्था बड़ी शोचनीय थी। समाज विशेषाधिकारों तथा विषमताओं पर आधारित था । जहाँ एक ओर

विशेषाधिकारों से युक्त कुछ लोग सुख एवं सम्पन्नता का जीवन व्यतीत कर रहे थे वहीं दूसरी ओर देश की अधिकांश जनता इन सुविधाओं से रहित दुःख एवं विपन्नता का जीवन निर्वाह कर रही थी । ऐसी परिस्थिति में सामान्य जनता का असंतोष स्वाभाविक था । पुरातन सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत फ्रांसीसी समाज तीन वर्गों (Estates) में विभाजित था—प्रथम पुरोहित अथवा धर्माधिकारी (Clergy) वर्ग था, द्वितीय वर्ग कुलीन अथवा सामन्त वर्ग (Nobility) था तथा तृतीय वर्ग (Third Estate) में साधारण जनता थी । इनमें पहले दो वर्गों को विशेषाधिकार प्राप्त थे किन्तु तीसरा वर्ग उनसे वंचित था । इतिहासकार हेजेन के अनुसार, "इतना ही नहीं प्रत्येक वर्ग के भीतर भी असमान अधिकारों के सिद्धान्त का बोलबाला था जिससे उसकी आन्तरिक एकता छिन्न-भिन्न हो गई थी ।"

(i) **धर्माधिकारी वर्ग :**

समाज का प्रथम वर्ग चर्च के पुरोहितों अथवा धर्माधिकारियों का था । यह वर्ग धनी एव अत्यन्त प्रभावशाली था । उस समय फ्रांस में इस वर्ग के लोगों की सख्या एक लाख तीस हजार थी । इन धर्माधिकारियों में भी असमानता थी । इनमें एक श्रेणी उच्च धर्माधिकारियों की थी तथा दूसरी श्रेणी निम्न अथवा निर्धन धर्माधिकारियों की थी । इन दोनों श्रेणियों के धर्माधिकारियों में पापों के अतिरिक्त कोई समता नहीं थी । उच्च श्रेणी के धर्माधिकारी जन्म से ही अभिजात होते थे । इस श्रेणी के धर्माधिकारी धर्म-प्रचार एवं अध्यात्मिक कार्यों से विमुख वैभवपूर्ण एवं विलासमय जीवन व्यतीत कर रहे थे । इनमें से कुछ तो वर्साय के राज-प्रासाद में ही पड़े रहते तथा आमोद-प्रमोद का जीवन व्यतीत करते थे । सामान्यतः उच्च श्रेणी के धर्माधिकारियों की वार्षिक आय लगभग दो लाख थी किन्तु कुछ ऐसे भी उच्च धर्माधिकारी थे जिनकी वार्षिक आय दस लाख रुपये तक पहुँच जाती थी । इस संदर्भ में स्ट्रासबर्ग तथा रुएन के बिशपों का नाम विशेष उल्लेखनीय है । स्ट्रासबर्ग के आर्चबिशप के महल में वैभवपूर्ण दरबार लगता तथा एक समय में दो-दो सौ अतिथियों का सत्कार किया जाता था । उसके रसोईघर की कढ़ाइयाँ चाँदी की थीं । उसके अस्तबल में १८० घोड़े थे जो सदैव अतिथियों की सेवा के लिये तैयार रखे जाते थे । उच्च धर्माधिकारियों का धार्मिक कृत्यों से कोई सम्बन्ध न था । वे सन्देह एवं नास्तिकता के प्रकोप से पीड़ित थे । जब लुई सोलहवें को पेरिस के लिये एक आर्चबिशप की नियुक्ति की आवश्यकता हुई तो तुलूस के आर्चबिशप ब्रिएन (Brienne) ने भी उस पद की प्राप्ति का प्रयास किया । जिस पर लुई सोलहवें ने उसे अस्वीकार करते हुये कहा था कि "हमें कम से कम पेरिस का तो ऐसा आर्च-

बिशप रखना चाहिये जो ईश्वर में आस्था रखता हो।" किन्तु इनके विपरीत निम्न धर्माधिकारियों की आय बहुत कम थी। इस श्रेणी के धर्माधिकारियों को अपने-अपने क्षेत्रों में कठिन परिश्रम करना पड़ता था। जनता को शिक्षा एवं अध्यात्मिक सतोष देने का कार्य इन्हीं के द्वारा सम्पन्न होता था। निम्न श्रेणी के धर्माधिकारी अधिकतर तृतीय वर्ग से आते थे जिसके कारण उनके साथ आदरपूर्ण व्यवहार नहीं किया जाता था। अतः उनका असन्तुष्ट एवं क्रुद्ध होना स्वाभाविक था। उनका कथन कि "हमारी दशा इतनी शोचनीय है कि उसे देखकर हमारी झोपड़ियों की कड़ियाँ और पत्थर भी क्रन्दन करने लगते हैं"। सम्भवतः वे अपनी अवहेलना एवं शोषण के कारण उच्च धर्माधिकारों से भी असन्तुष्ट थे। निम्न श्रेणी के धर्माधिकारी साधारण जनता में से आते थे जिसके कारण वे उनकी कठिनाइयों एवं कष्टों से परिचित थे तथा उनके प्रति सहानुभूति भी रखते थे। क्रान्ति के समय जन साधारण वर्ग को निम्न धर्माधिकारियों से बड़ी सहायता प्राप्त हुई।

इस प्रकार पुरातन व्यवस्था के अन्तर्गत चर्च का वातावरण दूषित हो गया था। धर्माधिकारियो में सासारिकता तथा भ्रष्टाचार ने चर्च को मानहीन बना दिया था। संदेह एवं नास्तिकता ने उसे आन्तरिक एवं वाह्य दोनों ओर से ही खोखला कर दिया था। चर्च के पास अतुल धनराशि थी तथा देश की समस्त भूमि का भाग उसके पाँचवाँ अधिकार में था। इसके अतिरिक्त चर्च अनेक करों की वसूली भी करता था जो राजकीय कोष में न जमा होकर चर्च के कोष में जाता था। यद्यपि चर्च का कर्त्तव्य था कि वह इस धन राशि को धार्मिक उद्देश्यों एवं दीन-दुखियों की सहायता में व्यय करे किन्तु इसका दुरुपयोग किया जा रहा था। फलस्वरूप जनसाधारण के हृदय में धर्माधिकारियों के प्रति श्रद्धा का ह्रास हो गया। इसमें फ्रांसीसी विचारकों ने भी महत्वपूर्ण योग दिया जिसके फलस्वरूप लोगो ने पुरातन मान्यताओं के विरुद्ध आवाज उठाई।

(ii) **कुलीन वर्ग** (Nobility) :

फ्रांस की पुरातन सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत द्वितीय वर्ग कुलीनों अथवा सामन्तों का था जो विशेषाधिकार युक्त थे। इतिहासकार गर्शाय के अनुसार क्रान्ति के पूर्व इस वर्ग के अन्तर्गत अनुमानतः पचास हजार परिवार तथा दो से ढाई लाख तक व्यक्ति आते थे। यह वर्ग समाज का दूसरा महत्वपूर्ण विशेषाधिकार युक्त वर्ग था। इसी वर्ग के लोग प्रशासन के उच्च पदों पर नियुक्त किये जाते थे। किन्तु धर्माधिकारियों की भाँति कुलीन वर्ग में भी विभिन्नता व्याप्त थी। कुलीनों की दो प्रमुख श्रेणियाँ थीं—एक तो वे कुलीन जो अपनी जागीरों में न रह कर राजा के साथ

वर्साय में निवास करते थे तथा दूसरी श्रेणी में वे कुलीन आते थे जो अपनी जागीरों में रहा करते थे। वर्साय में रहने वाले सामन्तों को 'दरबारी सामन्त' भी कहा जा सकता है। क्योंकि वे दरबार में राजा की सेवा में व्यस्त उसकी कृपा के लिये दृष्टि लगाये रहते थे। वे राजा के साथ विलासितापूर्ण एवं वैभवशाली जीवन व्यतीत करते थे। इस श्रेणी के कुलीनो से सभी ईर्ष्या करते थे क्योंकि उनके साथ पक्षपात किया जाता था तथा राज्य के सभी उच्च पदों पर उनका एकाधिकार था। दूसरी श्रेणी के सामन्त अपनी जागीरों में रहते थे जहाँ उनके दो प्रमुख कार्य थे— एक तो कृषकों का शोषण करना तथा दूसरे शिकार एवं आमोद-प्रमोद में समय व्यतीत करना। वे कृषकों से अनेक प्रकार के कर वसूलते तथा बेगार लेते थे। प्रथम श्रेणी के कुलीनों की भाँति द्वितीय श्रेणी के कुलीन भी अनेक विशेषाधिकारों से युक्त थे। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विचारक मान्तेस्क्यू कुलीनों की स्थिति पर व्यंग करते हुये लिखता है कि "कुलीन से तात्पर्य उस व्यक्ति से है जो सम्राट की सेवा में अनुरत है, जो उसके मन्त्रियों के साथ उठता-बैठता है, जिसे अपने पूर्वजों पर गर्व है, जो ऋण से भारित है तथा राजकीय वृत्तियों पर जीता है।"

(iii) **जनसाधारण वर्ग** (Third Estate) :

समाज का तृतीय वर्ग जनसाधारण वर्ग था जो विशेषाधिकारों अथवा सुविधाओं से वंचित था। फ्रांस की जनसंख्या का ९९ प्रतिशत भाग इसी वर्ग में आता था। समाज के प्रथम तथा द्वितीय वर्ग की भाँति असमानता का सिद्धान्त इस वर्ग पर भी चरितार्थ होता था। सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से इस वर्ग के लोगों में गहरी विषमतायें परिलक्षित होती हैं क्योंकि जो भी व्यक्ति धर्माधिकारी अथवा कुलीन न होता उसकी गणना तृतीय वर्ग में ही होती थी। इस वर्ग को दो प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—पहला मध्यम श्रेणी तथा दूसरा निम्न श्रेणी। मध्यम अथवा 'बुर्जुआ' श्रेणी (Bourgeois) के अन्तर्गत व्यापारी, साहूकार, उद्योगपति, शिक्षक, चिकित्सक, वकील, विचारक आदि सम्मिलित थे। इस श्रेणी के लोग सम्पदा, शिक्षा एव संस्कृति की दृष्टि से कुलीन वर्ग के लोगों से पीछे न थे। यद्यपि उच्च प्रशासनिक पदों से वे वंचित थे किन्तु अपनी सम्पत्ति के आधार पर उन्होंने साधारण प्रशासनिक पद खरीद लिये थे क्योंकि उस समय फ्रांस में पदों की बिक्री की प्रथा प्रचलित थी। इस प्रकार मध्यम श्रेणी के लोग कुलीनों की भाँति सामाजिक स्तर प्राप्त करना चाहते थे। इनके मनोभावों को व्यक्त करते हुये एबे सिए (Abbe Sieyes) लिखता है कि "तीसरा वर्ग क्या है ? सब कुछ है। अब तक उसका क्या स्थान रहा है ? कुछ नहीं। उसकी क्या इच्छा है ? वह कुछ होना चाहता है।" किन्तु सामा-

जिक जीवन में मध्यम श्रेणी के लोगों को अनेक अवसरों पर अपमानित होना पड़ता था। इन लोगों को व्यवसायिक कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ रहा था। यद्यपि उनके पास उद्योग एवं व्यवसाय के लिये पर्याप्त पूँजी थी किन्तु शासन एवं कुलीनों की ओर से अनेक प्रतिबन्धों के कारण उनके लिये आर्थिक प्रगति सम्भव न थी। अतः मध्यम श्रेणी के लोग इन प्रतिबन्धों को समाप्त करने के लिये 'मुक्त व्यापार' (Laissez-faire) की नीति पर बल दे रहे थे। फ्रांस की बौद्धिक क्रान्ति के अधिकांश विचारक, लेखक एवं दार्शनिक इसी वर्ग के थे तथा राज्य-क्रान्ति को आरम्भ करने में इसी श्रेणी का प्रमुख योगदान था। यदि हम फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति को 'बुर्जुआ वर्ग की क्रान्ति' कहे तो गलत न होगा।

तृतीय वर्ग में मध्यम श्रेणी के अतिरिक्त निम्न श्रेणी थी जिसके अन्तर्गत शिल्पी, कृषक अथवा श्रमिक लोग सम्मिलित थे। फ्रांसीसी लेखकों ने इन्हे 'निम्न मध्यम श्रेणी' (Petty Bourgeois) की संज्ञा दी है। शिल्पियों की संख्या लगभग २५ लाख थी जो नगरों में रहते थे। औद्योगिकरण के विकास के कारण शिल्पियों के कुटीर उद्योगों पर घातक प्रभाव पड़ा था जिससे उनमे बेरोजगारी बढ़ रही थी। किन्तु तृताय वर्ग की जनसख्या में सर्वाधिक भाग कृषकों का था जो दो करोड़ के लगभग था। यद्यपि फ्रांस एक कृषि प्रधान देश था किन्तु कृषकों की दशा बड़ी दयनीय थी तथा वे दुःखमय जीवन निर्वाह करते थे। कुछ कृषकों ने कुलीनों से भूमि भी खरीद ली थी अन्यथा अधिकांश कृषक अर्ध-दास की भाँति रहते थ। कृषि-व्यवस्था मध्य-कालीन प्रणाली पर आधारित पिछड़ी हुई स्थिति में थी। कृषि-व्यवस्था पर शासन का पूर्ण नियन्त्रण था। कृषकों को अपनी आय का ८० प्रतिशत भाग विभिन्न करों के रूप में शासन, चर्च एवं कुलीनों को दे देना पड़ता था तथा शेष २० प्रतिशत भाग में अपना तथा परिवार का भरण-पोषण करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त उन्हें शारीरिक श्रम अथवा बेगार के रूप में भी कर चुकाना पड़ता था जिसे 'कारवी' (Corvee) कहा जाता था। कुलीनों को शिकार का विशेषाधिकार प्राप्त था जिससे कृषकों को अत्यधिक क्षति पहुँचती थी तथा उनकी फसल नष्ट हो जाती थी। किन्तु कृषको को विवशतापूर्वक यह सब सहन करना पड़ता था। संक्षेप में कृषक दरिद्रता एवं शोषण से त्रस्त था। फसल के क्षतिग्रस्त हो जाने पर उसके समक्ष भुखमरी की समस्या उत्पन्न जाती थी। इतिहासकार हेजेन का कथन है कि "दो करोड़ कृषक जो न तो राजनीति समझते थे और न वाल्तेयर तथा रूसो के ध्वंसात्मक एवं विप्लवकारी सिद्धान्तों से ही परिचित थे, अपने जीवन की तीव्र परिस्थितियो स ही दिन प्रतिदिन बल्कि प्रतिक्षण सुधारों की तीव्र आवश्यकता का अनुभव कर रहे थे। वे इतना जानते थे कि उनका जीवन तभी सह्य हो सकता है जब कि सामन्ती कर हटा दिये जायें।"

आर्थिक व्यवस्था

राज्य-क्रान्ति के पूर्व-फ्रांस की आर्थिक व्यवस्था भी बहुत शोचनीय एवं संकटपूर्ण थी। राष्ट्रीय आय का लगभग ५० प्रतिशत शासन द्वारा लिये गये ऋण के ब्याज के रूप में चला जाता था जिसके कारण प्रतिवर्ष आय से अधिक व्यय होना तथा राजकोष दिवालियापन की ओर अग्रसर हो रहा था। राजा की ओर से राजकीय व्यय में किसी प्रकार की कटौती नहीं की गई जिससे ऋण निरंतर बढ़ता जा रहा था। राजकोष की आय में वृद्धि के उद्देश्य से प्रशासनिक पदों की बिक्री भी आरम्भ की गई किन्तु उससे आंशिक पूर्ति ही हो सकी। राष्ट्रीय आय के प्रमुख साधन विभिन्न कर थे किन्तु कर निर्धारण-प्रणाली भी दोषपूर्ण थी। फ्रांस में यह कहावत प्रचलित थी कि "सामन्त लड़ते है, पुरोहित पूजा करते हैं तथा जनसाधारण कर चुकाते हैं।" कर दो प्रकार के थे—प्रत्यक्ष कर तथा अप्रत्यक्ष कर। प्रत्यक्ष करों की वसूली राज्य के अधिकारियों द्वारा होती थी किन्तु अप्रत्यक्ष करों की वसूली ठेकेदारों द्वारा की जाती थी। प्रत्यक्ष कर जागीर, व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा आय पर लगाया जाता था। इनमें से धर्माधिकारी एवं कुलीन वर्ग के लोग अनेक करों से मुक्त थे। कुलीनों को मुख्यतः 'तेइले' (Taille) नामक भूमिकर देना पड़ता था किन्तु उनके आतंक के कारण राजस्व अधिकारी जनसाधारण की अपेक्षा उनकी सम्पत्ति पर कम कर निर्धारित करते थे जिससे राजकोष को बहुत क्षति उठानी पड़ती थी।

किन्तु जनसाधारण सभी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों को चुकता करने के लिये विवश था अन्यथा दण्डित किया जाता था। जनसाधारण द्वारा दिये जाने वाले करों में तेइले (Taille), गेबेले (Gabelle), कारवी (Corvee), कैपिटेशन(Capitation), विनतायमेस (Vingtiemes), शराब, तम्बाकू तथा आयात-निर्यात पर लिये जाने वाले विभिन्न कर थे। 'गेबेले' अथवा नमक कर बहुत कष्टदायक था। इसके अन्तर्गत आठ साल से ऊपर के प्रत्येक व्यक्ति को वर्ष में सात पाउण्ड नमक खरीदना पड़ता था। इसके अतिरिक्त पशुओं के खाने के लिये अलग से नमक खरीदना पड़ता था। शासन ने नमक की बिक्री का एकाधिकार एक कम्पनी को दे रखा था जो उसका मनमाना मूल्य निर्धारित करती थी। नमक न खरीदने वालों को अपराधी के रूप में दण्डित किया जाता था। इस प्रकार नमक कर के अपराध में बहुत से लोगों को दण्ड दिया गया। राजा लुई सोलहवें का मन्त्री केलोन का कथन है कि "नमक कर के अपराध में चार हजार घरों को अधिकृत किया गया, तीन हजार चार सौ लोगों को बन्दीगृह में डाला गया तथा पाँच सौ लोगों को कोड़े मारे गये तथा अन्य प्रकार के कठोर दण्ड दिये गये।" इसके अतिरिक्त 'टाइथ' नामक एक अन्य कर था जिसके

अन्तर्गत कृषकों को अपनी उपज का दसांश चर्च को देना पड़ता था। इस प्रकार फ्रांस में आर्थिक कुव्यवस्था व्याप्त थी। इतिहासकार हेजेन फ्रास की कर-व्यवस्था की आलोचना करते हुये लिखते है, "राजनीतिक ढांचे की भाँति कर-व्यवस्था में भी सर्वत्र व्यवहार में असमानता, विशेषाधिकार, स्वेच्छाचारिता एवं अन्यायपूर्ण नियम देखने को मिलते; नियम प्रायः बदलते रहते, इसलिये प्रतिवर्ष अनिश्चितता की भावना लोगों को पीड़ित करती रहती। ऐसी दशा में यह आश्चर्य की बात न थी कि सभी लोगों यहाँ तक कि सामन्तगण भी इस वित्तीय व्यवस्था को अन्यायपूर्ण तथा उत्पीड़नकारी समझते और उसकी कटु निन्दा करते।" राजा एव उसकी पत्नी मेरी अन्त्वानेत द्वारा वैभव पर अपव्यय किये जाने के कारण राजकोष दिवालिया होता जा रहा था। यद्यपि तुरगो, नेकर, केलोन आदि वित्त मन्त्रियो ने फ्रांस की आर्थिक व्यवस्था को सुधारने हेतु अनक योजनायें निर्मित की किन्तु कुलीन वर्ग के विरोध एवं रानी के हस्तक्षेप के कारण उन योजनाओ को कार्यान्वित न कर सके तथा उन्हें अपने पदों से अवकाश ग्रहण करना पड़ा। फलस्वरूप देश की आर्थिक स्थिति दयनीय होती गई तथा विवश होकर राजा लुई षोडश ने इस पर विचार करने के लिये 'स्टेट्स जनरल' का अधिवेशन बुलाने का निश्चय किया। इस प्रकार राजा द्वारा 'स्टेट्स जनरल' के अधिवेशन को बुलाना एक प्रकार से राज्य-क्रान्ति को आमंत्रित करना था।

अध्याय २०

भारतवर्ष

(INDIA)

सन् १४५१ ई० में बहलोल लोदी ने दिल्ली पर अधिकार कर लोदी वंश की नींव डाली तथा सैयद वंश के प्रभुत्व का अन्त कर दिया। बहलोल लोदी एक योग्य तथा अनुभवी शासक था। सन् १४८६ ई० तक के अपने शासन काल में उसने अनेक विद्रोहों का दमन कर दिल्ली सल्तनत को दृढ़ बनाने का प्रयत्न किया। उसकेप्रयोंन के कारण एक बार फिर भारतवर्ष में शान्ति स्थापित हो गयी और दिल्ली साम्राज्य की शक्ति का विकास होने लगा। सन् १४८६ ई० में बहलोल लोदी की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र सिकन्दर लोदी गद्दी पर बैठा। उसने साम्राज्य की सीमा का विस्तार करने के साथ-साथ शासन-प्रबन्ध को मजबूत बनाने की ओर ध्यान दिया। सन् १५१६ ई० में सिकन्दर लोदी के उपरान्त उसका पुत्र इब्राहीम लोदी सिंहासनारूढ़ हुआ। इब्राहीम लोदी ने अगले दस वर्षों अर्थात् सन् १५२६ ई० तक भारतवर्ष पर शासन किया। उसके द्वारा राज्य के सम्बन्ध में अपनाई जाने वाली नीतियाँ साम्राज्य के अफगान सरदारों के मनोनुकूल नहीं सिद्ध हुई और ये सरदार उससे असंतुष्ट होकर इधर-उधर विद्रोह करने लगे जिससे साम्राज्य अस्त-व्यस्त हो गया। पंजाब के सूबेदार दौलत खाँ लोदी तथा इब्राहीम के चाचा अलाउद्दीन आलम खाँ ने काबुल के शासक बाबर को भारतवर्ष पर आक्रमण करने हेतु आमन्त्रित किया। बाबर ने सन् १५२५ ई० मे भारत पहुँचकर सिन्ध और पंजाब पर अपना अधिकार कर लिया। उसने आगे बढ़ते हुये दिल्ली के समीप पानीपत नामक स्थान पर अप्रैल सन् १५२६ ई० के अन्तिम सप्ताह में इब्राहीम लोदी को परास्त किया। पानीपत के इस प्रथम युद्ध द्वारा लोदी वंश का अन्त और मुगल वंश का आरम्भ होता है।

मुगल राजवंश :

बाबर ने दिल्ली पर अधिकार करने के पश्चात् जिस मुगल वंश की स्थापना की वह अगली कई शताब्दियों तक भारतवर्ष पर राज्य करता रहा। मुगल वंश का संस्थापक बाबर मंगोल एव तुर्क दोनों ही वंशों के रक्त का सम्मिश्रण था। उसका पिता उमर शेख मिर्जा तैमूर से और उसकी माँ कुतलुग खानम प्रसिद्ध मंगोल शासक चंगेज खाँ से सम्बन्धित थी। सन् १५२६ ई० से सन् १५३० ई० के मध्य बाबर ने अपने नव संस्थापित राज्य को सुदृढ़ बनाने के लिए विभिन्न युद्ध किये। सन्

१५३० ई० में उसकी मृत्यु हो गयी। भारतवर्ष पर बाबर की विजय के मुख्य कारणों में भारतवर्ष की अस्त-व्यस्त राजनीतिक अवस्था, विभिन्न शासकों में एकता का अभाव, राजपूत शासकों की आपसी फूट, बाबर का कुशल सेनापतित्व, उसका अनुभव, उसका कुशल युद्ध-संचालन एवं बाबर के द्वारा तोपखाने का भारत में सर्वप्रथम प्रयोग आदि को बताया जा सकता है।

बाबर के पश्चात् उसका पुत्र हुमायूँ गद्दी पर बैठा परन्तु अपनी आन्तरिक कठिनाइयों में व्यस्त रहने और उनका समाधान न करने के कारण सन् १५४० ई० में अफगान सरदार शेरशाह सूर के हाथों पराजित होकर उसे भारत छोड़ना पड़ा। १५ वर्षों तक इधर-उधर भटकने के पश्चात् सन् १५५५ ई० में हुमायूँ भारतवर्ष पर पुनः अधिकार करने में सफल रहा किन्तु शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गयी।

सन् १५४० ई० में हुमायूँ को पराजित कर शेरशाह सूरी ने सूर वंश की स्थापना की जो सन् १५५५ ई० तक चलता रहा। शेरशाह ने केवल ५ वर्षों तक ही राज्य किया। राज्यारोहण के समय वह वृद्ध हो चुका था और उसने जीवन के अनेक उतार-चढ़ाव देखे थे। वह अपने पिता के समय में ही जागीरों का प्रबन्ध उत्तम ढंग से कर चुका था। अत: शासक होने के पश्चात् शेरशाह ने अपने अनुभवों का लाभ उठाते हुए सुदृढ़ शासन-प्रबन्ध की स्थापना की। उदारता, न्याय और समानता के सिद्धान्तों पर विश्वास रखने के कारण शेरशाह ने न्याय-व्यवस्था का नये सिरे से पुनर्गठन किया। देश के अन्दर शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिये पुलिस व्यवस्था में भी व्यापक सुधार किये गये। सेना को राज्य का आवश्यक अंग मानते हुए सेना के क्षेत्र में भी शेरशाह ने अनेक उल्लेखनीय सुधार किये। प्रत्येक सैनिक का हुलिया लिखा जाने लगा। सैनिकों को निश्चित समय पर वेतन दिया जाने लगा। उनकी सैनिक शिक्षा का उचित प्रबन्ध हुआ और घोड़ों को दागने की अलाउद्दीन खिलजी के समय की प्रथा को पुनः आरम्भ किया गया। परन्तु शेरशाह की महत्ता उसके द्वारा किये गये आर्थिक सुधारों में है जिसके अन्तर्गत राज्य की सारी भूमि की माप करायी गयी और भूमि की उचित व्यवस्था तथा विकास के प्रबन्ध किये गये। राज्य की ओर से उपज का एक-तिहाई भाग लगान के रूप में निश्चित किया गया, जो कृषक नकद अथवा अन्न के रूप में दे सकता था। सन् १५४५ ई० में शेरशाह की मृत्यु हो जाने के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी अयोग्य सिद्ध हुए और सन् १५५५ ई० में हुमायूँ ने भारतवर्ष पर पुनः अधिकार कर लिया।

सन् १५५६ ई० में हुमायूँ की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अकबर गद्दी पर बैठा। अपने प्रखर व्यक्तित्व एवं कुशल शासक के रूप में किये गये महत्वपूर्ण कार्यों के कारण उसे 'अकबर महान्' भी कहा जाता है। मुगल वंश का वह सर्वश्रेष्ठ शासक माना जाता है और केवल भारत ही नहीं अपितु १६वीं शताब्दी के विश्व के सर्वोत्तम

शासको में उसकी गणना की जा सकती है। सन् १५५६ ई० से लेकर सन् १६०५ ई० तक अकबर ने भारत पर शासन किया। अपने शासनकाल के प्रारम्भ में ही अकबर ने साम्राज्य-विस्तार और सुदृढ़ीकरण की नीतियों को मुख्य आधार बनाया। सर्वप्रथम उसने साम्राज्य-विस्तार की ओर ध्यान दिया। उसकी विजय योजनाओं के फलस्वरूप न केवल सम्पूर्ण उत्तरी भारत, अपितु दक्षिण का काफी प्रदेश भी उसकी आधीनता में आया। उसने अपने इस विस्तृत साम्राज्य में एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना कर सुदृढ़ करने का सफल प्रयत्न किया जो उसके पूर्वज नहीं कर सके थे। इस प्रकार अकबर एक मात्र साम्राज्यवर्द्धक एवं सैन्य-संचालक ही नहीं अपितु एक सुसंगठित साम्राज्य के व्यवस्थापक के रूप में सामने आया। वह एक कुशल संगठनकर्ता, वीर, राजनीतिज्ञ और कलाकारों तथा साहित्यकारों का संरक्षक था। उसका दरबार कुशल योद्धाओं और विचारकों से भरा रहता था। अकबर ही वह प्रथम मुगल सम्राट था जिसने धर्म को राजनीति से अलग रखा। वह जाति एवं धर्म की संकीर्ण भावना को नहीं मानता था। हिन्दुओं के प्रति उसकी धारणा उनका सहयोग प्राप्त करने की थी। भारत की सम्पूर्ण स्थितियो से परिचित होने के कारण अकबर राजपूतों से वैवाहिक सम्बन्ध एवं सहयोग स्थापित करने में सफल रहा। राजनीति तथा संस्कृति मे देश को उसने एक नया राष्ट्रीय दृष्टिकोण प्रदान किया। धर्म के सम्बन्ध में अकबर ने उदार नीति अपनायी। प्रशासकीय सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए अकबर ने सम्पूर्ण साम्राज्य को १२ प्रान्त में विभक्त कर प्रत्येक प्रान्तों में सैनिक गवर्नर की नियुक्ति की। साम्राज्य पर नियन्त्रण रखने के उद्देश्य से एक केन्द्रीय शासन-व्यवस्था स्थापित की गयी। इसका अध्यक्ष शासक था और राज्य के समस्त कर्मचारियों पर उसका पूरा नियन्त्रण था। न्याय व्यवस्था के क्षेत्र में गम्भीर अपराधों के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की गयी। लगान के क्षेत्र में अकबर द्वारा भूमि की कुल उपज का अनुमान लनाकर उसके आनुपातिक आधार पर भूमिकर लगाने की व्यवस्था की गयी।

अकबर के शासन का उत्तरार्द्ध मुख्य रूप से शान्तिपूर्ण था। फलतः देश की आर्थिक समृति के साथ-साथ सांस्कृतिक विकास हुआ। अकबर का दरबार विभिन्न प्रकार के उत्कृष्ट कलाकारों का सम्मेलन-स्थल था। राजा टोडरमल जैसे आर्थिक विशेषज्ञ, बीरबल जैसे राजनीतिज्ञ, शेख अब्दुल नबी, अबुल फैजी और अबुल फजल जैसे साहित्य-मर्मज्ञ एवं तानसेन जैसे संगीतज्ञ अकबर के दरबार की शोभा थे। अकबर के द्वारा स्थापत्य-कला को भी प्रोत्साहित किया गया। फतेहपुर सीकरी तथा सिकन्दरा के भवन आज भी उस युग की कला एवं वैभव की प्रतीक के रूप में विद्यमान है। सभी भवनो में अकबर के द्वारा लाल पत्थरों का प्रयोग किया गया है जिनसे साम्राज्य के वैभव का परिचय मिलता है।

सन् १६०५ ई० से १६५८ ई० तक अकबर के द्वारा प्रचलित की गयी शासन व्यवस्था में उसके उत्तराधिकारी जहाँगीर और शाहजहाँ के द्वारा कोई भी उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं किया गया। जहाँगीर ने सन् १६०५ ई० से १६२८ ई० तक शासन किया और देश की शान्तिपूर्ण अवस्था के कारण चित्रकला का सर्वाधिक विकास हुआ।

जहाँगीर के पश्चात् सन् १६२८ ई० में शाहजहाँ गद्दी पर बैठा तथा उसने सन् १६५८ ई० तक भारतवर्ष पर शासन किया। शाहजहाँ का शासनकाल उसके द्वारा बनवाये गये अभूतपूर्व भवनों के कारण कला के क्षेत्र में 'स्वर्णयुग' भी कहा जाता है। शाहजहाँ के द्वारा बनवाया हुआ आगरे का 'ताजमहल' सौन्दर्य और कला की श्रेष्ठता का प्रतीक है जिसका निर्माण मुमताज महल के स्मारक के रूप में किया गया था। श्वेत संगमरमर से बने हुए इस भवन के निर्माण में कलाकारों ने अपनी कोमलतम् भावनाओ का चित्रण किया। अपनी सुन्दर कला-शैली, सुन्दर बगीचों और फव्वारों के कारण 'ताजमहल' आज भी प्रसिद्ध है।

ताजमहल के अतिरिक्त आगरे के दुर्ग में मोतीमहल, दीवाने खास, दीवाने आम और दिल्ली में लाल किला तथा उसमें दीवाने आम, दीवने खास, रंगमहल तथा अन्य नगरों में कई इमारतों का निर्माण भी शाहजहाँ द्वारा किया गया। आगरे के दुर्ग की मोती मस्जिद और दिल्ली के लाल किले के दीवाने-खास को ताजमहल के अतिरिक्त अन्य विशेष इमारतों में गिना जाता है। दीवाने-खास बहुत ही अलंकृत है तथा वहीं पर ये शब्द अंकित हैं, "अगर फिरसौद बर रूए जमीं अस्त, हमी अस्त, हमीं अस्त, हमीं अस्त," अर्थात् 'पृथ्वी पर अगर कहीं स्वर्ग हैं तो यहीं है, यहीं है, यहीं है।'

शाहजहाँ के उपरान्त उसका पुत्र औरंगजेब १६५८ ई० में गद्दी पर बैठा। उसके गद्दी पर बैठने से मुगल साम्राज्य के एक नये युग का आरम्भ होता है। औरंगजेब के शासनकाल में मुगल साम्राज्य अवनति के मार्ग पर चल पड़ा। धर्म तथा शासन के क्षेत्र में अकबर के समय की नीतियों में परिवर्तन के कारण हिन्दुओं के हृदय में यह बात बैठ गयी कि वे एक राष्ट्रीय राज्य नहीं अपितु एक धार्मिक राज्य में रह रहे हैं। औरंगजेब के द्वारा जजिया-कर तथा यात्री-कर के पुनः लगाये जाने के फलस्वरूप हिन्दुओं में असन्तोष फैल गया जिसके फलस्वरूप दक्षिण में मराठों, पंजाब में सिक्खों और आगरे के समीप भरतपुर में जाटों के विरोध ने उग्र रूप धारण कर लिया। इसके अतिरिक्त औरंजेब की इन नीतियों के फलस्वरूप मुगल साम्राज्व के सहयोगी राजपूत भी विरोधी हो गये।

औरंगजेब के पश्चात् क्रमशः बहादुरशाह, जहाँदारशाह, फर्रुखसियर, रफी-उद्‌र्जत, रफीउद्दौला, मुहम्मदशाह, अहमदशाह, आलगीर द्वितीय एवं शाहआलम द्वितीय सन् १७०७ ई० से लेकर सन् १८०६ ई० तक मुगल साम्राज्य की गद्दी पर बैठे। इन साम्राटों के सम्मिलित शासन काल की प्रमुख विशेषताएँ थीं—सन् १७३६ ई०

में नादिरशाह का दिल्ली पर आक्रमण और लूट, अहमदशाह अब्दाली का भारत पर आक्रमण एवं सन् १७६१ ई० का पानीपत का तृतीय युद्ध जिसके फलस्वरूप मुगल शासन लगभग समाप्तप्राय हो गया। इस समाप्तप्राय शासनकाल के गौरव को महत्व-हीन करने में नादिरशाह द्वारा सन् १७३६ ई० में दिल्ली पर आक्रमण, अधिकार और लूट का बहुत बड़ा हाथ है। नादिरशाह वापस जाते समय न केवल अतुल धन लूट के रूप में ले गया अपितु वह शाहजहाँ द्वारा निर्मित 'तख्ते ताऊस' (मयूर सिंहासन) को भी लेता गया जो मुगल वैभव का प्रतीक था। नादिरशाह के उपरान्त अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों ने मुगल सत्ता की रीढ़ तोड़ दी।

औरंगजेब के शासन-काल में दक्षिण भारत मे मराठा राज्य का उदय मुगलों के लिए चुनौती के रूप में उपस्थित हुआ। शिवाजी ने मराठों को एकत्र कर औरंगजेब का विरोध किया और दक्षिण में एक स्वायत्त मराठा राज्य स्थापित करने की चेष्टा की। शिवाजी की मृत्यु के उपरान्त भी मराठों की शक्ति निरन्तर बढती गयी और अठारहवीं शताब्दी में ये भारतवर्ष की एक प्रमुख शक्ति बन गये।

अंग्रेजों का आगमन :

सन् १४६७-६८ ई० में पुर्तगाली नाविक वास्को-डि-गामा कालीकट पहुँचा। उसने वहाँ के शासक जमोरिन से भेंट की तथा उससे अनेक सुविधाये प्राप्त कीं जिससे पुर्तगाल एवं भारत के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हुआ। पुर्तगालियों के पश्चात् अनेक यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों ने भारत में प्रवेश किया जिनमें डच, अंग्रेज तथा फ्रेन्च प्रमुख थीं। सन् १६०० ई० में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य भारत से व्यापार करना था। इंग्लैण्ड की महारानी एलिजाबेथ ने इसे एक आज्ञा-पत्र भी प्रदान किया। १६०६ ई० में कप्तान हाकिन्स मुगल बादशाह जहाँगीर की सेवा में प्रस्तुत हुआ तथा उससे व्यापारिक सुविधायें प्राप्त करने का प्रयास किया परन्तु उसे अपने उद्देश्य में सफलता न प्राप्त हो सकी। कुछ समय पश्चात् सर टॉमस रो अंग्रेज प्रतिनिधि के रूप में भारत आया और जहाँगीर की सेवा में उपस्थित हुआ। इस बार वह अंग्रेजों के लिये व्यापारिक सुविधायें प्राप्त करने में सफल हुआ। धीरे-धीरे ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी का प्रभाव बढ़ने लगा तथा उसने अनेक स्थानों पर अपनी व्यापारिक कोठियाँ स्थापित कीं जिनमें मद्रास, सूरत, बम्बई तथा हुगली (कलकत्ता) प्रमुख थीं। बंगाल में अंग्रेजों ने वहाँ के नवाब सिराजुद्दौला के विरुद्ध षडयन्त्र रचा जिसमें नवाब का सेनापति भी अंग्रेजों से मिल गया। फलस्वरूप बंगाल के नवाब तथा अंग्रेजों के मध्य १७५७ ई० में प्लासी के युद्ध में अंग्रेज विजयी हुये। नवाब सिराजुद्दौला की हत्या कर दी गई और उसके स्थान पर विश्वासघाती मीर जाफर को नवाब के पद पर प्रतिष्ठित किया गया परन्तु अंग्रेजों ने कुछ समय

पश्चात् उसे भी अपदस्थ कर दिया तथा १७६० ई० में उसके स्थान पर उसके दामाद मीर कासिम को प्रतिष्ठित किया। आरम्भ में उसने अंग्रेजों को प्रसन्न करने का प्रयास किया।

परन्तु कुछ समय पश्चात् उसने अंग्रेजों के व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रयास किया जिससे अंग्रेज उससे सन्तुष्ट हो गये। अब उन्होंने मीर कासिम को बंगाल के नवाब के पद से हटाने का निश्चय किया। किन्तु मीर कासिम चुप होकर बैठने वाला व्यक्ति न था उसने अंग्रेजों का सामना करने का निश्चय किया। इतना ही नहीं उसने अवध के नवाब शुजाउद्दौला तथा मुगल बादशाह शाहआलम द्वितीय को भी अपने पक्ष में कर लिया। सन् १७६४ ई० में बक्सर के युद्ध में इन तीनो की संयुक्त सेनाओं तथा अंग्रेजों के मध्य संघर्ष हुआ जिसमें अंग्रेज विजयी हुये। इस युद्ध के पश्चात् अंग्रेजों तथा बादशाह शाह आलम और नवाब शुजाउद्दौबा के मध्य १७६५ ई० में इलाहाबाद की सन्धि हुई। इस सन्धि के अनुसार अवध के नवाब ने अंग्रेजों को ५० लाख रुपया हरजाने के रूप में दिया तथा कड़ा एवं इलाहाबाद बादशाह शाहआलम को प्रदान किया गया। इसके बदले में अंग्रेजों ने वाह्य आक्रमण से नवाब की सुरक्षा का वचन दिया। मुगल बादशाह शाह आलम द्वितीय ने बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की दीवानी भी अंग्रेजों को प्रदान की। इस प्रकार बक्सर की विजय से अंग्रेजों के प्रभाव एवं शक्ति में अत्यधिक वृद्धि हुयी, जिससे भविष्य में भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना में विशेष बल मिला।

अध्याय २१

चीन

(CHINA)

चीन की सभ्यता विश्व की सर्वश्रेष्ठ, समृद्ध और प्राचीनतम् सभ्यताओं में एक है। चीन के आधुनिक काल के इतिहास को समझने के लिए उसके प्राचीन एवं मध्यकालीन इतिहास का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक हो जाता है।

चीन के सम्पूर्ण इतिहास का अध्ययन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ का इतिहास रोचक नहीं है और इसमें केवल विभिन्न घटनाओं, विविध राजवंशो एवं उनकी संस्थाओं का ही उल्लेख है। ऐसा इसलिए समझा जाता है कि चीन में उन्नीसवीं शताब्दी तक कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुए और एक समय में जो संस्थायें स्थापित कर दी गयीं वे ही बहुत लम्बे समय तक चलती रहीं। परन्तु ऐसा कहना भ्रामक है क्योंकि चीन के इतिहास का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ का इतिहास अत्यन्त रोचक है और इसका अपना एक अलग महत्व है। १९वीं एवं २०वीं शताब्दियों में आधुनिक विश्व के साथ चीन का सम्बन्ध पहले के इतिहास के अध्ययन के बिना नहीं समझा जा सकता।

चीन के निवासियों में बहुत-सी जातियों के रक्त का सम्मिश्रण है। उत्तर तथा पश्चिम से जिन आक्रमणकारियों ने चीन में प्रवेश किया उसके फलस्वरूप वहाँ रक्त-मिश्रण के साथ-साथ संस्कृति का सम्मिश्रण भी हुआ। ये विदेशी चीन की सभ्यता के साथ घुल-मिल गये। इस कारण यह कहा जा सकता है कि विश्व का और कोई भी देश ऐसा नहीं है जहाँ के निवासियों की संस्कृति में इतनी अधिक एकरूपता मिलती हो। इसमें परिवर्तन उस समय आया जबकि आधुनिक युग में यूरोप के देशों के साथ चीन का सम्पर्क स्थापित हुआ। विश्व के अन्य देशों के इतिहास के समान चीन के इतिहास को प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक तीन कालों में नहीं बाँटा जा सकता। क्योंकि कोई भी ऐसी क्रान्तिकारी घटना दिखाई नहीं देती जिसके आधार पर यह निश्चित किया जा सके कि किस समय एक काल का अन्त और दूसरे का प्रारम्भ हुआ।

प्राचीन चीन के निवासियों का यह विश्वास था कि उनके अतिरिक्त कोई भी देश सभ्य नहीं है और सभी देशों को चीन का सांस्कृतिक तथा राजनीतिक प्रभुत्व

स्वीकार कर लेना चाहिए। उनका यह भी विश्वास था कि उनका सम्राट सबसे अधिक योग्य एवं तेजस्वी है। इसलिए वे अपने साम्राज्य को 'मध्यवर्ती साम्राज्य' कहते थे। उनका यह विचार था कि अन्य राज्यों के साथ तभी राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित हो सकते हैं जब वे एक-दूसरे को समान समझें। इस विचारधारा को अपनाने के कारण चीन के निवासियों को भविष्य में हानि ही पहुँची। चीन के निवासियों में एक ऐसी मनोभावना उत्पन्न हो गयी जिसके फलस्वरूप उन्नति एवं विकास में उनका विश्वास नहीं रहा। यह भी एक कारण था कि काफी लम्बे समय तक चीन में किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं हो सका। चीन के निवासियों का यह भी विचार था कि हमें संसार में होने वाली बातों एवं विषयों का ज्ञान रखना चाहिए। मानव-स्वभाव के विषय में भी उनकी अभिरुचि थी। परलोक के विषय में वे चिन्ता नहीं करते थे। तत्कालीन चीन के निवासियों का यह विचार था कि मनुष्य प्राकृतिक नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत कर अपने को सुखी बनाये। मनुष्य को आपसी सम्बन्धों को सुधार कर ऐसे समाज की स्थापना करनी चाहिए जिसमें सभी लोग सुख एवं शान्तिपूर्वक रह सकें। अगर किसी व्यक्ति के पास बहुत अधिक धन हो जाता है तो भी यह आवश्यक नहीं है कि उसे सुख प्राप्त हो सके। सुख और शान्ति प्राप्त करने के लिए पारस्परिक सम्बन्धों को सरल बनाये रखना चाहिए। तभी वे उपर्युक्त विचारधारा वाले समाज का निर्माण कर सकते हैं।

उनका यह भी विचार था कि मनुष्य एक निश्चित सामाजिक स्थिति में जन्म लेता है और उसको उसी के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहिए। ऐसा सम्भव हो सकता है कि कुछ व्यक्ति अपनी स्थिति को समाज में सुधार कर उसमें परिवर्तन कर सकें।

उनका यह भी विचार था कि अधिकार की अपेक्षा कर्त्तव्य अधिक महत्वपूर्ण हैं। मनुष्य को अपने कर्त्तव्यों का पूरी तरह पालन करना चाहिए क्योंकि तभी मानव समाज तथा राज्य को लाभ पहुँचा सकता है।

एक अन्य विचारधारा के अनुसार, चीन के निवासी व्यक्ति की अपेक्षा परिवार को अधिक महत्व देते थे। उनका कहना था कि परिवार की सेवा करना मनुष्य का पहला और प्रमुख कर्त्तव्य है, समाज तथा राज्य का स्थान उसके पश्चात् आता है। इस विचारधारा के कारण उनमें पितृ-पूजा का विशेष स्थान था। प्रत्येक चीनी व्यक्ति अपने पूर्वजों की आत्माओं को सन्तुष्ट करना अपना परम कर्त्तव्य समझता था। इसके अतिरिक्त परिवार में वृद्ध जनों की आज्ञाओं का पालन भी आवश्यक समझा जाता था। पुत्री की अपेक्षा पुत्र होने पर चीन के निवासी अधिक आनन्द मनाते थे। समाज में परिवार के इस महत्व के कारण ही चीन का सामाजिक संगठन अनेक प्रकार के राज-

नीतिक उथल-पुथल के पश्चात् भी अपने पूर्व स्थान पर स्थिर रहकर चीनी संस्कृति को सुरक्षित रख सका।

अन्तिम विचारधारा के अनुसार चीन के लोगों का यह विश्वास था कि प्रत्येक मनुष्य में बहुत से सद्गुण होते हैं। शिक्षा प्राप्त कर मनुष्य इन गुणों का विकास कर सकता है और अपने ज्ञान को बढ़ा कर एक अच्छा व्यक्ति बन सकता है।

भौगोलिक स्थिति :

चीन विश्व के नक्शे में ५३° उत्तर में १८° उत्तरी अक्षांश तथा १३४ पूर्व से ७४ पूर्व देशान्तर तक फैला हुआ है। भौगोलिक दृष्टिकोण से प्राचीन चीन को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है अर्थात् उत्तर में ह्वांग हो (Hwang-Ho) अथवा पीली नदी (Yellow River) का मैदानी भाग, दक्षिण में यांग्त्सी (Yangtse) नदी एवं सुदूर दक्षिण में सिकियांग (Sikiang) नदी। ये तीनों नदियाँ जहाँ चीन को तीन प्राकृतिक भौगोलिक भागों में बाँटती हैं वहीं दूसरी ओर इन तीनों नदियों के मैदान प्रबल उर्वरा-शक्ति से परिपूर्ण होने के कारण चीन के निवासियों के जीवन में अपना विशिष्ट योगदान करती है। आधुनिक युग के प्रारम्भ में चीन साम्राज्य मुख्य रूप से इन चार भागों में विभक्त मिलता है :—(१) मुख्य चीन प्रदेश जिसमें अठारह प्रान्त थे, २) मन्चूरिया, (३) तिब्बत, मंगोलिया तथा सिकियाग आदि अधीनस्थ क्षेत्र एवं (४) कोरिया तथा अन्नाम जैसे नाम-मात्र के सामन्ती राज्य। इस विस्तृत साम्राज्य के उत्तरी भाग की जलवायु गर्म है और दक्षिण भाग का ठण्डी। जलवायु की यह विविधता चीन की कृषि की यथासम्भव अनेकता के लिए उत्तरदायी है और जिससे चावल, कपास, चीनी, चाय, गेहूँ, जौ तथा अन्य अनाजों की उपज होती है।

इन मैदानों के अतिरिक्त चीन में चार मुख्य पर्वत श्रेणियाँ है :—तियेनशान (Tien Shan), क्वानलुन् (Kwanlun), ह्निगन (Khingan) तथा हिमालय (Himalaya), ये पर्वत-श्रेणियाँ चीन के भौगोलिक विभागों को अलग करती हैं। इनका जनता के सामान्य जीवन पर अत्यन्त व्यापक प्रभाव है। जहाँ एक ओर ये देश का खनिज-सम्पदा प्रदान करती है वहीं दूसरी ओर ये श्रेणियाँ नदियों द्वारा यातायात को अवरुद्ध करती हैं।

राजनीतिक इतिहास :

उत्तरी चीन में अनेक स्थानों पर प्राचीन प्रस्तर युग के जो अवशेष मिले हैं वे इस ओर संकेत करते हैं कि अत्यन्त प्राचीन युग में भी इसमें सभ्य मनुष्य का निवास था। अन्य कई स्थानों पर प्राप्त मध्य-पाषाण युग की मिलने वाली वस्तुओं से यह पता चलता है कि इस समय तक ये लोग पत्थर की बनी हुई अनेक वस्तुओं का प्रयोग करने लगे थे। अनाज की खेती द्वारा अपना जीवन-यापन करना आरम्भ

कर चुके थे। परन्तु चीन की सबसे प्राचीन उन्नत सभ्यता ह्वांगहो और यांगत्सी सिकियाँग नदियों के मैदानों में विकसित हुई । इन उपजाऊ मैदानों में मनुष्यों ने अपनी बस्तियाँ बसाकर वहाँ रहना प्रारम्भ किया तथा धीरे-धीरे विकास के पथ पर बढ़ने लगे। ये सभी बस्तियाँ अलग-अलग स्वतन्त्र राज्यों के रूप में विकसित हुईं जिनका शासन-संचालन यहाँ के निवासी करने लगे।

अब से लगभग ५ हजार वर्ष पूर्व इन विकसित बस्तियों पर पश्चिम की ओर से एक नयी जाति ने आक्रमण करना आरम्भ किया। उसने अपनी रक्षा करने के लिए चीन के इन राज्यों में अनेक व्यक्ति विशाल सेनाओं का गठन कर उनका प्रतिरोध करन लगे। अत: पश्चिम की ओर से इन जातियों का आक्रमण लगभग समाप्त-प्राय हो गया। चीन के वे व्यक्ति जिन्होंने अपने राज्यों की रक्षा की थी, धीरे-धीरे अपनी शक्ति को बढ़ाने लगे। फलतः कुछ समय पश्चात् ऐसे शक्तिशाली शासकों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने ह्वांगहो तथा याँगत्सी सिकियाँग नदियों के क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया। यहाँ से चीन-साम्राज्य का संगठन आरम्भ होता है।

चीन का परम्परागत इतिहास हसिया (Hsia) राजवंश से आरम्भ होता है जिसका सम्भवतः कुछ नगर राज्यों पर अधिकार था। इस वंश के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि लगभग सन् १४९४ ई० पूर्व से लेकर सन् १५५३ ई० पूर्व तक इसने चीन पर शासन किया। इस वंश का संस्थापक 'यू' (Yu) नामक व्यक्ति बताया जाता है परन्तु इसकी सत्यता में सन्देह है। इस वंश के अन्य शासक हुआगत्ती, याओ और शुन बताये जाते हैं। इस वंश के सम्बन्ध में इतिहासकारों को सन्तोषजनक प्रमाण न प्राप्त होने के कारण बहुत से विद्वानों का यह भी मत है कि यह एक काल्पनिक राजवंश था और वस्तुतः उसकी स्थापना ही नहीं हुई। यह अवश्य है कि इतने समय तक चीन के निवासी सभ्यता के मार्ग पर बहुत आगे बढ़ चुके थे। उनको रथ निर्माण, रेशम उद्योग तथा लिखने का ज्ञान हो चुका था।

चीन का राजनीतिक इतिहास १६वीं शताब्दी ई० पू० में शाँग (Shang) वंश की स्थापना से आरम्भ होता है। इस समय तक शक्ति का केन्द्रीकरण हो चुका था और साम्राज्य की सीमा बढ़ चुकी थी। शांग वंश ने लगभग सन् १६५० ई० पू० से लेकर सन् ११२५ ई० पू० तक शासन किया। शाँग वंश के उपरान्त चीन पर चाऊ (Chou) वंश का अधिकार रहा जिसने लगभग ११वीं शताब्दी ईसा पूर्व से तीसरी शताब्दी ई० पू० तक शासन किया। परन्तु इन दोनों राजवंशों के सम्मिलित शासन काल में चीन की सामन्त प्रथा का अन्त नहीं हो सका। ये सामन्त केन्द्रीय शक्ति के कमजोर होने की अवस्था में विद्रोह करने के लिये सदैव तैयार रहते थे। यही कारण है कि इस युग के चीन में शान्ति और व्यवस्था का प्रायः अभाव रहा। चाऊ युग के अन्तर्गत सांस्कृतिक क्षेत्र में चीन की अभूतपूर्व उन्नति

हुई। कनफ्यूशियस (Confucius) और लाओ-जू (Lao Tzu) जैसे प्रख्यात् दार्शनिक एवं विचारक इसी युग की देन हैं। चौथी शताब्दी ई० पू० तक आते-आते चीन की यह अवस्था हो गयी कि चीन के विविध राजा किसी एक शक्तिशाली शासन के अभाव में आपस में युद्ध करने में व्यस्त हो गये। इसके पश्चात् तीसरी शताब्दी ई० पू० में चिन-शिह्-ती (Chin-Shih-Ti) नामक एक शक्तिशाली सम्राट का उदय हुआ जिसने विविध राजाओं और सामन्तों को जीतकर देश में एक सुव्यवस्थित शासन की व्यवस्था की। उसने हूण आक्रणकारियों का मुकाबला करने के लिए एक सुसंगठित सेना का गठन किया और उनसे देश की रक्षा करने के लिए चीन की उत्तरी दीवार का निर्माण आरम्भ किया। सारांश यह कि चिन-शिह्-ती एवं उसके उत्तराधिकारियों के काल में चीन का अत्यधिक विकास हुआ। चिन-शिह्-ती चिन (Chin) वंश का संस्थापक था और इसी वंश के नाम पर इस देश का नाम 'चीन' पड़ा।

चिन वंश के उपरान्त हन (Han) वंश का प्रभुत्व स्थापित हुआ जिसने २०६ ई० पूर्व से लेकर सन् २२० ई० तक देश पर शासन किया। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध सम्राट वू-ती (Wu-Ti) था जिसके शासन काल में चीनी सामाज्य अपने विस्तार की चरम् सीमा तक जा पहुँचा। पूर्व में प्रशान्त महासागर से लेकर पश्चिम में कैस्पियन सागर तक चीन साम्राज्य विस्तृत था और मध्य एशिया की सब जातियाँ उसके अधीन थीं। हन वंश के शासन काल में ही बौद्ध धर्म का चीन में प्रवेश हुआ। इस युग में चीन के निवासी लकड़ी के ब्लाक बनाकर पुस्तकें भी छापने लगे थे। इस काल में कनफ्यूशियस के सिद्धान्तों के आधार पर राजनीतिक कार्यकलाप किये जाते है। इस वंश के शासन काल की एक विशेषता यह है कि इसी युग में चीन में कनफ्यूशियस के सिद्धान्तों के आधार पर उस परीक्षा-पद्धति का आरम्भ हुआ जो अभी २०वीं शताब्दी तक चलती रही।

सन् २२० ई० के लगभग हन वश के पतन के उपरान्त का साम्राज्य तीन भागों में विभक्त हो गया और यह अवस्था ७वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक बनी रही। ७वी शताब्दी के आरम्भ में सन् ६१८ ई० में चीन पर तांग (Tang) वंश ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और अगली तीन शताब्दियों अर्थात् सन् ९०७ ई० तक शासन करता रहा। तांग वंश के अन्तर्गत चीन ने बहुत उन्नति की। इस वंश के शासकों के उदार होने के फलस्वरूप जहाँ एक और अनेक देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये गये वहीं पर दूसरी ओर साम्राज्य की सीमा भी विस्तृत हुई। सारांश के रूप में इस युग को 'चीन की समृद्धि का युग' भी कहा जा सकता है। सन् ९०७ ई० में तांग वंश के पतन के पश्चात् सन् ९६० ई० तक ५ अलग-अलग वंशों ने चीन पर शासन किया और किसी न किसी प्रकार चीन पर अपना अधिकार बनाये रखा।

सन् ९६० ई० मे शुंग (Shung) वंश ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और लगभग सन् १२६० ई० तक शासन करता रहा। शुंग वंश के शासन काल में चीन की जनता ने बहुत प्रगति की। कला और शिक्षा का पुनरुद्धार हुआ। धर्म और दर्शन के क्षेत्र में नव कनफ्यूशियसवाद (Neo-Confucianism) ने बौद्ध धर्म के प्रभाव को कम कर अपना प्रभाव बढ़ाना आरम्भ किया। नये दर्शन ने टाओ तथा बौद्ध दर्शन से अपने विचार ग्रहण किये।

शुंग वंश के पतन के पश्चात् चीन पर सन् १२६० ई० से लेकर सन् १३६८ ई० तक मंगोलों के युआन (Yuan) वंश का अधिकार रहा। युआन वंश के शासन-काल में चीन ने अच्छी उन्नति की। युआन वंश के प्रसिद्ध शासक कुबलयी खाँ (Kublai Khan) के शासन-काल में मारकोपोलो (Marcopolo) नामक इटली के निवासी ने चीन की यात्रा की। कुबलयी खाँ में उपरान्त उसके वंशज योग्य नहीं सिद्ध हो सके तथा सन् १३६८ ई० में मिंग (Ming) वंश ने चीन पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

मिंग राजवंश

(Ming Dynasty, 1368-1644)

सन् १३६८ ई० में स्थापित होने वाले मिंग वंश के साथ चीन के इतिहास का एक नया युग आरम्भ होता है। इस वंश की स्थापना बौद्ध धर्मावलम्बी चु-युआन-चांग (Chu-Yuan-Chang द्वारा चीन-साम्राज्य पर शासन कर रहे मंगोलों के युआन वंश का अन्त करने के पश्चात् की गई। मिंग वंश ने एक काफी लम्बे समय तक चीन पर शासन किया और सन् १६४४ ई० में मांचू अथवा चिंग वंश (Manchu or Ching Dynasty) के सत्ता अधिकृत कर लेने पर ही इसका अन्त हुआ।

चीनी भाषा में 'मिंग' शब्द का अर्थ महान् अथवा प्रतिभाशाली (Glorious) है और कुछ अंशों में यह सही है। राजनीतिक एवं सैनिक दृष्टिकोण से यह वंश तांग तथा शुंग के पश्चात् चीन का एक शक्तिशाली राजवंश था। इस युग में साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार हुआ, दर्शन के क्षेत्र में अनेकानेक विचारों का प्रतिपादन किया गया तथा सामाजिक, व्यापारिक और आर्थिक क्षेत्रों में विकास हुआ। सारांश यह कि इस युग में साम्राज्य की श्रीवृद्धि हुई।

राजनीतिक इतिहास :

चु-युआन-चांग (Chu-Yuan-Chang, 1368-1398) : मिंग वंश के प्रथम शासक चु-युआन-चांग ने सन् १३६८ ई० से लेकर सन् १३९८ ई० तक शासन किया। चु-युआन-चांग इतिहास में हुन-वू (Hun-Wu) के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। इसने अपने शासन का अधिकांश भाग चीन की सीमाओं का विस्तार तथा साम्राज्य की शक्ति की वृद्धि एवं प्रशासकीय व्यवस्था के कुशल संचालन में लगाया।

उत्तर में इसकी सेनायें मंगोलो को पीछे हटाते हुए उनकी प्राचीन राजधानी कराकोरम तक पहुँच गई। दक्षिण की ओर मंचूरिया के बहुत से प्रदेश चु-युआन-चांग की अधीनता में आ गये। मुख्य रूप से कोरिया तथा रियू-क्यू (Ryu-Kyu) द्वीपों ने इसकी आधीनता कर स्वीकार ली। बर्मा और नेपाल के प्रतिनिधि इसके दरबार में राजदूत के रूप में उपस्थित हुए। समरकन्द के शासक तमूर के साथ भी इसके राजनीतिक सम्बन्ध थे।

चु-युआन-चांग ने आन्तरिक क्षेत्र में भी परम्परागत चीनी संस्थाओं को सुसगठित एवं व्यवस्थित करने के प्रयत्न किए यद्यपि इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की मौलिकता का ज्ञान नहीं होता। प्रशासन के क्षेत्र मे उसने परम्परागत नौकरशाही की व्यवस्था को अपनाया जिसमें समय के परिवर्तन को देखते हुए कुछ सुधार किये गये थे। साम्राज्य को अनेक भागों में विभक्त कर वहाँ उच्च अधिकारी नियुक्त किये गये। केन्द्रीय शासन के संचालन के लिए राजधानी में एक मन्त्रिमण्डल की स्थापना की गयी जिसका उद्देश्य सम्भवतः सम्राट की वास्तविक शक्ति को और अधिक बल प्रदान करना था। अधिकारियों की नियुक्ति के लिए परम्परागत परीक्षा-प्रणाली में चु-युआन-चांग ने कोई परिवर्तन नहीं किया।

दक्षिण की ओर नानकिंग (Nanking) को चु-युआन-चांग ने अपनी नई राजधानी घोषित करते हुए विशाल पैमाने पर एक विस्तृत नगर बसाने की योजना बनाई। तदनुसार उसका निर्माण आरम्भ हो गया। तांगयुगीन न्याय-व्यवस्था के आधार पर एक नई विधि-संहिता लागू की गई।

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में उसने कनफ्यूशियसवाद का प्रसार किया। पुराने सम्बन्धों के कारण बौद्ध धर्म के प्रति किसी प्रकार की कठोरता नहीं बरती गई।

७० वर्ष की उम्र में सन् १३९८ ई० में चु-युआन-चांग की मृत्यु हो गयी। अपने ३० वर्षों के शासन काल में उसने मिंग वंश की सत्ता को इतना मजबूत कर दिया कि उसके उत्तराधिकारी बिना किसी कठिनाई के अगले ढाई सौ वर्षों तक चीन पर शासन करते रहे। चु-युआन-चांग में अपने अल्पवयस्क पौत्र चु-युन-वेन (Chu-Yun-Wen) को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। परन्तु गद्दी पर बैठते ही उसको गृह-युद्ध का सामना करना पड़ा। उसके चाचा चु-ती (Chu-Ti) अथवा युन-लो (Yung-Lo) ने सन् १४०३ ई० में उसको पराजित कर राज्य पर अपना अधिकार कर लिया।

युन-लो (Yung-Lo, 1403-1424) : युन-लो ने सन् १४०३ ई० से सन् १४२४ ई० तक चीन-साम्राज्य पर शासन किया। उसके शासन काल में मिंग वंश की शक्ति चरम सीमा पर पहुँच हुई। युन-लो ने विदेशों में चीन साम्राज्य के गौरव को बढ़ाया और देश के अन्दर एक शक्तिशाली शासन-व्यवस्था संचालित की।

विदेशों के सम्बन्ध में युन-लो के द्वारा जो आक्रानक नीति (Aggressive policy) अपनायी गयी उसका प्रतिफल साम्राज्य के सीमा एवं शक्ति के विस्तार के रूप सामने आया। इसी नीति के फलस्वरूप मंगोलिया के मामले में उसने सक्रिय रूप से भाग लिया, जापान के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये, बर्मा के शासकों का अपनी सत्ता के पक्ष में समर्थन प्राप्त करते हुए उनसे तथा जावा आदि अनेक द्वीपो से कर वसूल किया। अन्नाम के बहुत बड़े भाग पर भी उसका अधिकार था तथा यह कहा जाता है कि दक्षिण भारत के कुछ शासकों ने भी मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से उसे उपहार भेजे।

युन-लो ने दक्षिण की ओर कम्बोडिया, स्याम, जावा, सुमात्रा, भारतवर्ष तथा श्रीलंका की ओर समुद्री बेड़े भेजे जिनका उद्देश्य सम्भवत: उसके प्रभाव को स्थापित करना था। ऐसा कहा जाता है कि श्रीलंका के एक शासक को केवल इसलिए बन्दी बना लिया गया था कि उसने एक चीनी कमाण्डर का विरोध किया था। उसे चीन ले जाया गया और लगभग अगले ५० वर्षों तक उस शासक के वंशजों को कर देना पड़ा। इसके पहले कभी भी समुद्री मार्ग से चीन का प्रभाव इतना विस्तृत नहीं हो सका था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि युन-लो के शासन काल में चीन का प्रभाव अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया।

देश के आन्तरिक प्रशासन में युन-लो के द्वारा महत्वपूर्ण सुधार किये गये। साम्राज्य की राजधानी दक्षिण में नानकिंग से हटाकर उत्तर में पीकिंग (Peking) लायी गयी। सम्भवत: राजधानी के इस परिवर्तन का कारण यह नहीं था कि राजधानी दक्षिण की अपेक्षा अधिक सुरक्षित थी। एक अन्य कारण उत्तरी क्षेत्र में दक्षिण की अपेक्षा युन-लो की शक्ति का प्रभाव अधिक होना था। नानकिंग की तरह पीकिंग को भी विशाल और सुन्दर भवनों से अलंकृत किया गया तथा राजधानी की सुरक्षा के लिए नगर के चारों ओर एक परकोटा बनवाया गया।

युन-लो ने साम्राज्य की समृद्धि को बढ़ाने का यथासम्भव प्रयत्न किया। कृषि की अवस्था में सुधार करने के लिए बड़ी नहर में नये परिवर्तन किये गये और खाली पड़े स्थानों में नयी बस्तियाँ बसायी गईं।

धर्म के क्षेत्र में युन-लो कन्फ्यूशियसवाद का प्रचारक था यद्यपि बौद्ध धर्म में भी उसकी आस्था थी। साहित्य को समृद्ध करने के लिए युन-लो के द्वारा यह आज्ञा दी गयी कि चीनी साहित्य के विशाल भण्डार से अच्छी पुस्तकों का चुनाव कर उन्हे एक स्थान पर एकत्र किया जाये। इस प्रतिभाशाली शासक की सन् १४२४ ई०में मृत्यु हो गयी। उसके उपरान्त मिंग वंश के अन्य शासक अयोग्य सिद्ध हुए जिसका परिणाम साम्राज्य के लिए हितकर नहीं हो सका। यद्यपि अगले २२० वर्षों तक चीन पर मिंग वंश का ही शासन रहा और मुख्य रूप से साम्राज्य की समृद्धि में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ फिर भी इन विभिन्न शासकों ने न तो साम्राज्य की सीमा के विस्तार का

प्रयास किया और न ही इन शासकों ने साम्राज्य को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया। परिणामस्वरूप एक-एक कर साम्राज्य के प्रदेश स्वतन्त्र होने लगे और सन् १६४४ ई० में मिंग वंश का अन्त कर मान्चू अथवा चिंग (Manchu or Ching) वंश ने चीन पर अधिकार कर लिया।

मिंगकालीन संस्कृति
(Ming Culture)

राजनीतिक संगठन—प्राचीन काल से ही राजतन्त्र चीन की महत्वपूर्ण संस्था थी। सम्राट सर्वोपरि तथा सर्वोच्च था और उसकी शक्ति एवं अधिकार असीमित थे। परन्तु व्यावहारिक रूप में सम्राट की शक्ति पर नियन्त्रण रखने के लिए राज्य के अन्तर्गत मन्त्रि-मण्डल की स्थापना की गई थी। मन्त्रि-मण्डल के सदस्य तथा साम्राज्य के सेनापति सम्राट की ओर से राजनीतिक शक्तियों का उपयोग करते थे। सम्राट निरंकुश रूप से शासन नहीं कर सकता था। वह रूढ़िगत परम्पराओं तथा रीति-रिवाजों के विरुद्ध नहीं जा सकता था और उसके लिए उनका अनुकरण आवश्यक था। एक प्रकार से ये परम्परायें और रीति-रिवाज ही चीन के अलिखित संविधान का कार्य करते थे।

राजनीतिक संगठन और विचारधारा के क्षेत्र में मिंग वंश के शासक परम्परागत प्रणाली में कोई नया परिवर्तन न कर उसे ही लागू रखने में सन्तुष्ट थे। साम्राज्य की विधि संहिता भी पहले की थी और शासन-तन्त्र भी चिन, हन तथा तांग वंश के शासन-तन्त्र के समान था। राज्य कर्मचारियों की नियुक्ति के लिए होने वाली परीक्षायें यद्यपि जारी रहीं परन्तु उसमें कुछ ऐसे परिवर्तन किये गये जिनसे मिंग वंशीय शासकों की संकीर्ण मनोवृत्ति का परिचय मिलता है। राजनीतिक और आर्थिक मामलों में वाद-विवाद नहीं सुनाई पडा, जैसा कि पूर्ववर्ती वंशों के शासन काल में प्रचलित था। कनफ्यूशियस के सिद्धान्तो को यथावत् स्वीकार कर लिया गया।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसा समाज जिसमें किसी को अपने विचार व्यक्त करने का कोई अधिकार नहीं था किसी भी प्रकार के मौलिक विचारों को स्थान नहीं दे सकता था।

धर्म तथा दर्शन (Religion and Philosophy)—धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में मिंग युग में बौद्ध धर्म, टाओवाद एव कन्फ्यूशियसवाद तीनों ही मिलते है। अर्थात् मिंग युग के अन्तर्गत चीन की जनता अनेक धर्म एवं दर्शन में विश्वास रखती थी परन्तु बौद्ध तथा टाओ की अपेक्षा कन्फ्यूशियसवाद का अधिक प्रभाव था। मुख्य रूप से साम्राज्य के शासन-तन्त्र में कन्फ्यूशियसवाद का ही आधार ग्रहण किया गया था।

कन्फ्यूशियस और उसका दर्शन (Confucianism)—कन्फ्यूशियस का जन्म ५५१ ई० पूर्व में हुआ एवं उसकी मृत्यु ४७९ ई० पू० में हुई। कन्फ्यूशियस ने

अपने जीवन काल में जिन सिद्धान्तों का प्रचार किया वे चीन की जनता एवं चीनी साम्राज्य का कई शताब्दियों तक पथ-प्रदर्शन करते रहे। उसी विचारधारा चीनी जीवन का एक अनिवार्य अंग बन गई। कन्फ्यूशियस ने प्राचीन युग के सिद्धान्तों का ही पुनः संकलन एवं प्रतिपादन किया। अतः उसकी विचार-धारा नयी तथा मौलिक नही कही जा सकती।

कन्फयूशियस द्वारा लौकिक प्रश्नों एवं आदर्श समाज के विषय में चिन्तित रहने के कारण अलौकिक विषयों की कोई शिक्षा नहीं दी गयी। उसकी यह इच्छा थी कि प्रशासकीय वर्ग को कुछ नैतिक सिद्धान्तों का पालन कर एक आदर्श एवं सुखी समाज की स्थापना को सम्भव बनाना चाहिए। अतः उसका कहना था कि प्रशासक को नैतिक शिक्षा अवश्य प्राप्त करनी चाहिए।

कन्फ्यूशियस की विचारधारा मानववाद से प्रभावित प्रतीत होती है क्योंकि उसका यह कहना था कि मनुष्य अन्य मनुष्यों के लिए उनके साथ जीवन व्यतीत करता है। इसलिए उसके सभी सिद्धान्तों मनुष्य स्थिति से सम्बन्ध रखते है।

कन्फ्यूशियस का विचार था कि सुव्यवस्थित राजनीतिक जीवन, सुव्यवस्थित व्यक्तिगत जीवन के बगैर असम्भव है। प्रशासक एवं प्रशासित अधिकार एवं कर्त्तव्यों के सन्दर्भ में एक-दूसरे पर परस्पर निर्भर रहते हैं। शासन का प्रमुख कर्त्तव्य जनता के लिए एक सुखपूर्ण, दोषरहित एवं कल्याणकारी प्रशासकीय व्यवस्था का प्रबन्ध कर देश को उन्नतिशील बनाना है। वह उसी समय यह कार्य कर सकता है जबकि स्वयं उसका व्यक्तिगत जीवन नैतिकता से परिपूर्ण हो और उसके अधिकारी भी चरित्रवान् हों। यदि शासक का व्यक्तिगत जीवन सदाचारपूर्ण है तो उसकी सरकार सदैव उसके प्रभाव में रहेगी परन्तु विपरीत परिस्थिति होने पर प्रजा शासक का साथ नहीं देगी। उसने यह भी कहा कि जिस प्रकार आकाश में दो सूर्य नही हो सकते उसी प्रकार एक साम्राज्य में दो शासक नहीं हो सकते।

कन्फ्यूशियस का यह भी कहना था कि अत्यन्त प्राचीन काल में चीन के प्रथम सम्राट को स्वर्ग (Heaven) से एक आज्ञा-पत्र प्राप्त हुआ था और उसके अनुसार वह साम्राज्य पर शासन करता था। इस आज्ञा-पत्र पर स्वर्ग का अधिकार था और अयोग्य अथवा अत्याचारी शासक से वह इसे छीनकर किसी अन्य ऐसे व्यक्ति को दे सकता था जो ऐसे शासन का अन्त कर स्वयं सम्राट बने और कल्याणकारी शासन की व्यवस्था करे। तात्पर्य यह कि प्रबल एवं शक्तिशाली व्यक्ति अथवा जाति को शासक के प्रति विद्रोह कर शासन प्रबन्ध पर अधिकार प्राप्त करने की सुविधा प्राप्त थी।

कन्फ्यूशियस के अन्तिम सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक आदर्श कुटुम्ब है। सम्राट को एक पिता के समान अपनी प्रजा का पालन-पोषण करना चाहिए। शासक

को दया, सद्‌भावना एवं शान्तिपूर्ण तरीकों से शासन करना चाहिए जिससे प्रजा उस पर विश्वास करने लगे । उसे आत्मसंयम, अनुशासन एवं परम्परागत व्यवस्थाओं का पालन करना चाहिए क्योंकि तभी एक सुखी एवं शान्तिपूर्ण राज्य की स्थापना हो सकती है ।

कन्फ्यूशियस के ये सिद्धान्त शताब्दियों तक चीनी जनता एवं प्रशासन के मुख्य अंग बने रहे । इसीलिए बौद्ध तथा टाओ की अपेक्षा कन्फ्यूशियसवाद का अधिक प्रभाव दिखाई देता है ।

टाओवाद (Taoism) :

टाओ धर्म की स्थापना लाओ-ज़ू (Lao-Tzu) द्वारा एक रहस्यवादी विचार-धारा के रूप में की गयी थी । परन्तु कुछ ही समय पश्चात् इसमें परम्परागत चीनी रीति-रिवाजों तथा आडम्बरों का प्रवेश हो जाने से इसका रूप परिवर्तित हो गया । अपने इस बदले हुए स्वरूप में इस धार्मिक विचारधारा ने चीन के निवासियों को बहुत अधिक प्रभावित किया तथा कन्फ्यूशियस के धर्म की भाँति इसका भी लगभग २०वीं शताब्दी तक चीन पर प्रभाव बना रहा ।

लाओ-ज़ू इस सिद्धान्त का समर्थक नहीं था कि परमात्मा नाम का भी कोई व्यक्तिगत जीव है और उसकी इच्छानुसार ही सबको चलना चाहिए । इसके विपरीत उसने एक नये विचार को जन्म दिया । जिसे 'टाओ का मार्ग' कहते है । लाओ-ज़ू ने कहा कि टाओ के अनुसार जीवन व्यतीत करने से ही मनुष्य को लाभ हो सकता है और ईश्वर की काल्पनिक व्याख्या अनावश्यक है । टाओ स्वयं कोई कार्य नहीं करता फिर भी उसके सभी कार्य पूरे हो जाते हैं । दूसरे शब्दों में टाओ मत के अन्तर्गत यह शिक्षा दी गयी कि मनुष्य को कठिनाइयों से नहीं घबड़ाना चाहिए तथा जीवन में जो भी कठिनाइयाँ आएँ उनका दृढ़ता से और साहसपूर्वक सामना करना चाहिए । इस प्रकार टाओ धर्म के सिद्धान्तों द्वारा मनुष्यों को शान्ति, सन्तोष एवं वैराग्य की शिक्षा दी गयी । इसे शान्ति एवं वैराग्य का दर्शन (Quietist Philosophy) भी कहा जाता है । इस धर्म के अनुसार जनता पर सबसे कम नियन्त्रण रखने वाली सरकार सर्वोत्तम है । यह धर्म उच्च शिक्षा एवं ज्ञान के पक्ष में नहीं था क्योंकि इस धर्म का यह विश्वास था कि जहाँ एक तरफ मनुष्य को उच्च शिक्षा व ज्ञान प्राप्त होने पर संसार के सौन्दर्य एवं सुखों का परिचय मिलता है वहीं इसके साथ हीं वह विश्व की कुरूपता एवं अवगुणों से भी परिचित हो जाता है । सृष्टि की कुरूपता एव अवगुणों को जानने के पश्चात् मनुष्य बुरे कार्य करने लगता है । अगर उसे उच्च शिक्षा न मिले तो ऐसी कोई सम्भावना नहीं रहेगी ।

टाओ धर्म के शान्ति एवं वैराग्य के उपर्युक्त सिद्धान्तों ने चीन की जनता के

साधारण जीवन को बहुत प्रभावित किया । चीन के निवासी सभी प्रकार के दुःखों को सहन करना सीख गये तथा युद्ध और अशान्ति के विरुद्ध हो गये ।

टाओ और कन्फ्यूशियसवाद—टाओ और कन्फ्यूशियसवाद एक दूसरे के विरोधी थे । जहाँ एक ओर कन्फ्यूशियस ने ईश्वार और स्वर्ग को महत्ता प्रदान की थी वहीं दूसरी ओर लाओ-त्ज़ू का कहना था कि मनुष्य को स्वाभाविक रूप से आचरण करना चाहिये क्योंकि ईश्वर तथा स्वर्ग मनुष्य के दैनिक आचार-विचार एवं व्यवहार में कोई रुचि नहीं रखते हैं । मनुष्य को चाहिए कि पापों से बचने के लिए यह ऐसे मार्ग का सहारा ले जिससे वह टाओ तक पहुँच सके । यह मार्ग 'मध्यम मार्ग' (बीच का मार्ग) हो तकता है ।

कालान्तर में टाओ धर्म में बहुत से ऐसे बाहरी सिद्धान्त प्रवेश कर गये जिनका लाओ-त्ज़ू ने विरोध किया था । इस प्रकार के सिद्धान्तों में जादू-टोना एवं मन्त्रों का प्रयोग, वाह्याडम्बरों का प्रवेश तथा पुरोहितवाद प्रमुख थे । जनता को अब ऐसा विश्वास हो गया कि मनुष्य द्वारा किए जाने वाले सभी कार्य किसी न किसी आत्मा से अवश्य सम्बन्धित हैं । इसलिये दुष्प्रभावों से सुरक्षित रहने के लिए पूजा-पाठ आवश्यक है जो पुरोहित ही करा सकते हैं । अतः टाओ धर्म के अन्तर्गत पुरोहितवाद प्रमुख हो गया और पुरोहित धर्म तथा समाज के आवश्यक अंग हो गये ।

इस नये रूप में टाओ धर्म और भी अधिक शक्तिशाली हो गया और वह कन्फ्यूशियसवाद के साथ अपना भी प्रभाव सामान्य जनता पर काफी लम्बे समय तक स्थापित किये रखने में सफल रहा ।

बौद्ध धर्म (Buddhism) :

बौद्ध धर्म की स्थापना ईसा पूर्व लगभग छठीं शताब्दी में गौतम बुद्ध द्वारा भारतवर्ष में की गयी थी । इस धर्म में तपस्या, व्रत, चिंतन एवं ब्रह्मचर्य आदि को बहुत महत्व दिया गया था । चीन में इसका प्रवेश सम्भवतः पहली शताब्दी में हुआ तथा चीन के लोगों ने कन्फ्यूशियम तथा टाओ धर्मों के साथ इसे भी ग्रहण कर लिया । यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है क्योंकि क्यफ्यूशियस तथा टाओ से बौद्ध धर्म के सिद्धान्त बिल्कुल विपरीत थे । जहाँ कन्फ्यूशियस और टाओ पितृ-पूजा एवं पुरोहितवाद को प्रमुख स्थान देते थे वहीं बौद्ध धर्म में इनका कोई भी महत्व नहीं था । फिर भी बौद्ध धर्म ने चीन में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया । विशेषकर चीन का शिक्षित वर्ग बौद्ध दर्शन से बहुत प्रभावित हुआ । संस्कृति में बौद्ध धर्म का प्रभाव शिक्षा एवं कला के क्षेत्र में स्पष्ट दिखाई देता है और इसे ही बौद्ध धर्म का चीनी समाज को स्थायी योगदान माना जा सकता है ।

इस प्रकार ये तीनों ही धर्म अर्थात् कन्फ्यूशियस, टाओ एवं बौद्ध अपने दर्शन

एवं विचारो द्वारा चीनी जनमानस को निरन्तर आप्लावित करते रहे और समाज में तीनों को ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। यह अवश्य है कि टाओ और बौद्ध की अपेक्षा कन्फ्यूशियस के विचारों ने सभी क्षेत्रों में अपना अधिक प्रभाव स्थापित कर लिया और उसका यह प्रभाव विशेष तौर पर प्रशासकीय क्षेत्र में दिखाई देता है क्योंकि इसे राजवर्ग का संरक्षण प्राप्त था।

इस युग के दार्शनिकों में मुख्य रूप से चुह-शी (Chuh-Shi) तथा वांग-यांग-मिंग (Wang-Yang Ming) का नाम लिया जा सकता है। चुह-शी कन्फ्यूशियसवाद से अधिक प्रभावित था उसका यह विचार था कि सत्य एवं नैतिकता की खोज ब्रह्माण्ड की वस्तुओं के निरीक्षण के द्वारा की जा सकती है। अपने दैनिक जीवन को नियन्त्रित कर मनुष्य सत्य की खोज सकता है। इस प्रकार, चुह-शी ने कन्फ्यूशियसवाद के विचारों के आधार पर जिस विचारधारा का प्रतिपादन किया उसके फलस्वरूप धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में अन्य नयी विचारधारा पनप नहीं सकी।

वांग-यांग-मिंग (सन् १४७२ ई०-१५२८ ई० तक) ने कन्फ्यूशियस तथा चुह-शी के विचारों को यथावत् स्वीकार करने से इन्कार करते हुए यह कहा था कि मनुष्य की आत्मा सर्वोपरि है और मनुष्य को आत्मा के कहने के अनुसार कार्य करना चाहिये। अगर मनुष्य अपनी आत्मा के कथनानुसार कार्य करे तो उसे सत्य एवं नैतिकता की खोज में इधर-उधर नहीं भटकना पड़ेगा। उसने आत्म-अनुशासन (Self-discipline) पर बहुत जोर दिया। इस प्रकार वांग-यांग-मिंग ने परम्परागत नियमों को मानने से इन्कार कर दिया। उसे प्रचलित विचारधारा को दुहराने से ही सन्तोष नहीं हुआ क्योंकि वह स्वयं ही जीवन के मूलभूत प्रश्नों को जानने एवं उनके उत्तर खोज निकालने का यत्न कर रहा था। यद्यपि अपने प्रयत्न में वह सफल हुआ फिर भी उसके ग्रन्थों में किसी मौलिक विचारधारा एवं प्रतिभा के दर्शन नहीं होते क्योंकि कन्फ्यूशियस-वाद के प्रभाव से वह भी मुक्त नहीं हो सका। जनता को भी उसके विचार प्रभावित नहीं कर सके।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि किसी मौलिक प्रतिभा एवं विचारधारा का अभाव होने से कन्फ्यूशियसवाद का ही मिंग युग में प्रमुख स्थान बना रहा।

साहित्य (Literature) :

साहित्य के क्षेत्र में इस युग में न तो कोई नया प्रभाव सामने आया और न किसी प्रकार के मौलिक विचारों का जन्म हुआ फिर भी बहुत बड़ी मात्रा मे साहित्य की रचना की गयी इसका कारण चीन के निवासियों का लकड़ी के ब्लाक, इधर-उधर हटाये जाने वाले अक्षरों (Type) तथा मुद्रण यन्त्रों (Printing Presses) से

परिचित होना था । इसके अतिरिक्त, नानकिंग एवं पीकिंग में स्थित राजकीय मुद्रणालय तथा साम्राज्य भर मे फैले हुए व्यक्तिगत मुद्रणालय भी लेखकों को साहित्य सृजन की प्रेरणा दे रहे थे । ये सभी मुद्रणालय यद्यपि बहुत बड़ी संख्या में प्रतिवर्ष पुस्तकें छापते थे फिर भी साहित्य के सभी ग्रन्थ छापे नहीं जा सके और बहुत बड़ी संख्या में पाण्डुलिपियाँ एकत्रित होती गयीं । फलस्वरूप राजकीय एव व्यक्तिगत पुस्तकालयों का विकास हुआ और उनमें चीन के विशाल साहित्य भण्डार को सुरक्षित रखने के प्रयत्न किये गये । पाण्डुलिपियों को सुरक्षित ढंग से रखने की ओर विशेष ध्यान दिया गया ।

गद्य के क्षेत्र में अपार संख्या में ग्रंथ-रचना के बावजूद कोई नयी प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती । प्राचीन सन्तों, विद्वानों एवं राजनीतिज्ञों के वाक्यों तथा सन्देशों का संकलन कर उन्हें प्रकाशित किया गया । विदेशी भाषाओं से अनेक ग्रन्थ अनूदित किए गये । कथा, कहानी (Fiction) एवं उपन्यासो का बहुत बड़ी संख्या में सृजन किया गये । अनेक यात्री-विवरण भी लिखे गये जिसमें ह्यू-सिया-को (Hsu Hsia-Ko) का यात्रा संस्मरण प्रमुख है । ह्यू-सिया-को के यात्रा संस्मरण मिंगवंशीय चीन की तत्कालीन परिस्थिति एवं संस्कृति पर प्रकाश डालते है । उसने नदी, पहाड एवं विभिन्न प्रदेशों के स्थानीय रीति-रिवाजों का विशद विवेचन किया । विशेषत: उसने पता लगाया कि मेकांग और सलवान पश्चिमी नदी की दो अलग धारायें है और अलग नदियों के रूप में बहती है । इसके अतिरिक्त सैन्यशास्त्र, औषधि विज्ञान एवं कृषि से सम्बन्धित अनेक ग्रंथो की रचना की गयी । इसी समय भाषाशास्त्र का वैज्ञानिक अध्ययन भी आरम्भ किया गया । युन-लो के समय में चीनी साहित्य का एक विशाल सकलन 'युन-लो-ताशियेन (Yung-Lo-Tatien) के नाम से प्रकाशित हुआ । नाटक इस समय लोकप्रिय थे तथा संगीतमय नाटकों का उदय हुआ ।

पद्य के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई । यद्यपि ली-तुंग-यांग (Li-Tung-Yang) इस युग का प्रसद्धि कवि था फिर भी प्राचीन कवियों के सामने वह मध्यम श्रेणी का कवि ही सिद्ध हुआ ।

अत: यह कहा जा सकता है कि इस युग का साहित्य कोई नया और मौलिक विचार सामने न रखने के कारण संकीर्ण घेरे में बंधा हुआ था ।

कला (Art) :

वास्तु अथवा स्थापत्य कला—वास्तु अथवा स्थापत्य कला के क्षेत्र में मिंग वंश के अन्तर्गत बहुत प्रगति हुई और इस युग को निर्माण का युग कहा जा सकता है । वास्तुकारो एवं अभियन्ताओं (Engineers) ने भव्य प्रसादों, मन्दिरों, पुलों एवं नहरों के निर्माण में अपने कौशल का प्रदर्शन किया । दक्षिणी राजधानी नानकिंग

(Nanking) की सुरक्षा के लिए शहर के चारों ओर एक बड़ी दीवार का निर्माण किया गया। उत्तर में पीकिंग की स्थापना कर उसे नयी राजधानी बनाया गया। मिंग शासकों द्वारा पीकिंग में बनवाये गये विशाल एवं भव्य प्रासादो तथा मन्दिर उस युग की स्थापत्य कला की महानता एव गौरव के रूप में आज भी उपस्थित है। पीकिंग को रक्षा के लिए चारों ओर परकोटा भी बनवाया गया। उस युग की सभी अन्य देशों की राजधानियों की अपेक्षा पीकिंग को अत्युत्तम बनाने के लिए भवनों एवं मन्दिरों को सुन्दर ढंग से अलकृत किया गया। अपनी भव्यता तथा सौन्दर्य के लिए पीकिंग आज भी प्रख्यात है। इसके अतिरिक्त इस युग में नये सिरे से उत्तर की बड़ी दीवार तथा साम्राज्य की बड़ी नहर की मरम्मत का कार्य किया गया।

मूर्तिकला के क्षेत्र में भी बहुत बड़ी संख्या में मूर्तियाँ बनाई गयी यद्यपि इनका विषय-वस्तु **बौद्ध धर्म** से प्रभावित थी।

चित्रकला—यह एक लोकप्रिय कला के रूप में प्रचलित थी। इस क्षेत्र मे भी अन्य क्षेत्रों की तरह सर्वसामान्य शैली चलती रही और किसी नयी शैली की विकास नहीं हुआ। विविध विषयों के चित्र बनाये जाने लगे जिसमें प्राकृतिक दृश्य, पशु-पक्षी, फूल-पौधे तथा व्यक्ति-चित्रण प्रमुख थे। चित्रांकन मे कलात्मक दक्षता का पूरा ध्यान रखा जाता था। तकनीकी दृष्टि से चित्रकला में कोई कमी नहीं थी। शासक हुनवू द्वारा चित्रकला की उन्नति के लिए नानकिंग में एक चित्रकला संस्थान (Painting Academy) की स्थापना की गयी थी।

अन्य कलायें : मिंग युग में कालीन और कम्बलों के उद्योग का भी विकास हुआ। जिनका पूर्ण तकनीकी कुशलता के साथ निर्माण किया जाता था और देश में इस उद्योग के अनेक केन्द्र थे।

परन्तु इस युग में सबसे अधिक उन्नति चीनी मिट्टी के उद्योग (Porcelain) में हुई। नई-नई डिजाइन एवं विभिन्न आकार-प्रकार के सुन्दर वर्तनों एवं अन्य वस्तुओं का निर्माण होने लगा। इन बर्तनों एवं अन्य वस्तुओं पर अनेक रंगों की चमकदार पालिश की जाती थी और विभिन्न प्रकार के चित्रांकन द्वारा उन्हे सुन्दर बनाया जाता था। साम्राज्य के अनेक स्थानों में इस उद्योग के केन्द्र थे और बहुत बड़ी संख्या में चीनी मिट्टी के इन बर्तनों का निर्यात किया जाता था। निर्यात के मुख्य क्षेत्र पूर्व एशिया तथा यूरोप के विभिन्न देश थे। रेशम और रेशमी वस्त्रों का उद्योग भी एक मुख्य उद्योग था।

कला के विभिन्न क्षेत्रों में इतना विकास होने हुए भी इस युग में किसी नये तथा मौलिक प्रभाव का अभाव दिखाई देता है। यद्यपि मिंग वंश के अन्तर्गत कला

प्रगति की ओर बराबर बढ़ती रही परन्तु पूर्ववर्ती युगों की कुशलता की सीमा तक वह नहीं पहुँच सकी। विभिन्न क्षेत्रों में पाई जाने वाली मौलिकता के इस अभाव के अनेकों सम्भावित कारण हो सकते हैं।

सम्भवतः पहला कारण पूर्व काल में बौद्ध धर्म जैसी प्रभावशाली विचारधारा का विदेशों से चीन में प्रवेश था। यद्यपि इस नवीन सांस्कृतिक विचारधारा के साथ-साथ चीन में कन्फ्यूशियन तथा टाओ विचारधाराएँ भी चल रही थी परन्तु हो सकता है कि सभी क्षेत्रों मे कन्फ्यूशियसवाद का प्रभाव रहने के कारण इस समय तक चीन में बौद्धिक उत्तेजना का अभाव हो गया हो।

इसकी भी सम्भावना हो सकती है कि मंगोल शासन को समाप्त कर अपनी सत्ता को स्थापित करने के पश्चात् चीन के निवासी अपनी प्राचीन संस्कृति की पुनः स्थापना के प्रयास में प्रतिक्रियावादी हो जाने के कारण अपनी मौलिकता खो बैठे हो।

इसके अतिरिक्त शासकीय परीक्षाओ की पुरानी पद्धति पर आधारित होने के कारण भी चीन में मौलिक सृजन के हेतु अनुकूल वातावरण का अभाव था। निरंकुशवादी शासक भी नई विचार-धाराओं को प्रश्रय देने मे झिझकते थे।

अन्त में यह भी कहा जा सकता है कि व्यावहारिकता का युग होने के कारण भी अमूर्त दार्शनिक विचारो को प्रोत्साहन नही मिला।

समाज (Society) :

तत्कालीन चीन का समाज मुख्य रूप से विद्वान्, कृषक, कारीगर, व्यापारी तथा सैनिक एवं सेवक इन पाँच वर्गों में बँटा हुआ था।

विद्वान् समाज के उच्चतम वर्ग के सदस्य थे और उनका बहुत अधिक आदर किया जाता था। यह कोई जन्मजात वर्ग नहीं था और कोई भी व्यक्ति शिक्षा प्राप्त कर विद्वान् हो सकता था। यह अवश्य है कि इस वर्ग तक पहुँचने के लिए मनुष्य को वर्षों तक कठिन विद्याभ्यास तथा कठोर साधना करनी पड़ती थी। इन विद्वानों का मुख्य कार्य अध्ययन और मनन था। परन्तु समाज के लिए ये कोई ठोस कार्य नहीं कर सके क्योंकि उस समय की शिक्षा-प्रणाली के अनुसार उच्च शिक्षा प्राप्त करने का मुख्य उद्देश्य प्रशासकीय परीक्षाओं को उत्तीर्ण कर प्रशासन मे पद प्राप्त करना था। ७ वर्ष की आयु से बालक गाँव में विद्यारम्भ करता था जहाँ उसे धर्म-ग्रन्थों, व्याकरण, कोष आदि की शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा का दूसरा स्तर जिले की पढ़ाई का था। जिला परीक्षा में अच्छे अंक पाने वाले विद्यार्थी प्रदेश की परीक्षा में भेजे जाते थे। प्रादेशिक परीक्षा में उत्तीर्ण होने वाले विद्यार्थियों को सउत्सेई (स्नातक) की

उपाधि दी जाती थी। प्रदेश की परीक्षा उत्तीर्ण कर विद्यार्थी प्रान्तीय परीक्षा में बैठते थे और प्रान्तीय परीक्षा में उत्तीर्ण होने वाले विद्यार्थियों को चू-जेन (वाचस्पति अथवा स्नातकोत्तर की उपाधि दी जाती थी। चू-जेन उपाधि प्राप्त व्यक्ति राजकीय उच्च पद को प्राप्त करने के योग्य समझा जाता था। अन्तिम परीक्षा आचार्य अथवा चिन-शिह् की थी। चिन-शिह् परीक्षा केवल राजधानी पीकिंग में ही होती थी। ग्राम, जिला एवं प्रदेश की परीक्षायें उत्तीर्ण व्यक्ति राज्य के अनेकानेक श्रेणीगत पदों पर नियुक्त के योग्य हो जाते थे। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि इस वर्ग का समाज में अत्यधिक सम्मान था यद्यपि आर्थिक दृष्टि से यह समृद्ध नही थे। इसके अतिरिक्त ये विद्वान् केवल परम्परागत ग्रंथों का अध्ययन करके ही संतुष्ट हो गये जिससे आधुनिक विचारों का समाज में प्रवेश नहीं हो सका।

समाज का दूसरा वर्ग कृषक अथवा किसानों का था। देश की जनता का ८० से अधिक प्रतिशत भाग इस वर्ग का सदस्य था। ये लोग ज्यादातर गाँवों में रहा करते थे। इनका मुख्य पेशा कृषि था परन्तु राज्य की ओर से कृषि की अवस्था में सुधार न किए जाने के कारण इनकी आर्थिक अवस्था अच्छी न हो सकी जिससे जीवनयापन में ये कठिनाई अनुभव करते थे।

तीसरे वर्ग में कारीगर अथवा शिल्पी थे। उस समय तक चीन में किसी प्रकार के कारखानों का विकास न होने के कारण ये कारीगर अपने-अपने घरों में कार्य किया करते थे। प्रत्येक व्यवसाय से सम्बन्धित व्यक्ति इस वर्ग में रखे गये थे। प्रत्येक व्यवसाय आर्थिक श्रेणियों (गिल्ड) के रूप में संगठित था। 'गिल्ड' का प्रमुख कार्य अपने व्यवसाय के सदस्यों द्वारा निमित वस्तुओं का मूल्य निश्चित कर उसे बाजार में बेचने का प्रबन्ध करता था। व्यावसायिक मुकदमों के फैसले का अधिकार भी गिल्ड को था। प्रत्येक कारीगर के लिए अपने व्यवसाय के गिल्ड का सदस्य होना अनिवार्य था और उनके कार्य का पारिश्रमिक अथवा वेतन भी इसके द्वारा ही निर्धारित किया जाता था।

व्यवसायी अथवा व्यापारी समाज के चौथे वर्ग में आते थे। अन्य वर्गों की अपेक्षा इनकी आर्थिक अवस्था अच्छी थी। देश के व्यापार को बढ़ाने के लिए देश की आर्थिक समृद्धि के विकास के लिए ये व्यापारी बराबर प्रयत्नशील रहते थे।

अन्तिम वर्ग सैनिकों एवं सेवकों का था। ये वेतन भोगी कर्मचारी थे और इनकी आर्थिक अवस्था बहुत अच्छी नहीं थी। सैनिक भी सेवकों के समकक्ष समझे जाते थे और समाज में इस वर्ग को हीन दृष्टि से देखा जाता था।

समाज में परिवार अथवा कुटुम्ब का महत्वपूर्ण स्थान था। सबसे वृद्ध व्यक्ति

परिवार का मुखिया होता था और कुटुम्ब के अन्य सदस्यों के लिए उसकी आज्ञाओं का पालन अनिवार्य था। माता-पिता को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। परिवार के सदस्य हिल मिलकर रहते थे। संयुक्त परिवार प्रणाली प्रचलित थी। चूंकि चीन के निवासी पितृ-पूजा में विश्वास करते थे अतएव उनका यह विचार था कि पूर्वजों की पूजा करने के लिए वंश-वृद्धि एक आवश्यक कार्य है। परिवार में पुत्र होने पर बहुत खुशी मनाई जाती थी और कन्याओं का उत्पन्न होना अच्छा नहीं समझा जाता था।

निष्कर्ष :

मिंग वंश के अन्तर्गत सभी क्षेत्रों में नई प्रवृत्तियों एवं आधुनिक विचार-धाराओं का अभाव दिखाई पड़ने से यह स्वाभाविक प्रतीत होता है कि चीन के निवासियों की शक्ति और स्फूर्ति धीरे-धीरे कम होती जा रही थी। न केवल राजनीति अपितु अन्य क्षेत्रों में भी यही बात स्पष्टतः दिखाई पड़ती है। अतः अन्य जातियों ने समय के साथ-साथ देश पर अपना प्रभाव बढ़ाना प्रारम्भ किया और इनमें एक जाति मांचू ने सन् १६४४ ई० में मिंग वंश का अन्त कर चीन पर अपना अधिकार कर लिया।

मांचू अथवा चिंग राजवंश

(Manchu or Ching Dynasty, 1644-1912)

सन् १६४४ ई० में मांचू-वंश द्वारा चीन की सत्ता पर अधिकार करने के साथ चीन के इतिहास का एक नया अध्याय आरम्भ होता है। इस मांचू वंश ने अगले ढाई सौ वर्षों से भी अधिक समय अर्थात् सन् १६४४ ई० से लेकर सन् १९१२ ई० अथवा चीन की राज्यक्रान्ति के समय तक देश पर अपना प्रभाव और आधिपत्य बनाये रखा। यह वंश चिंग वंश (Ching) के नाम से भी प्रसिद्ध है। यह जाति मूल रूप से चीन के उत्तर में स्थित मंचूरिया क्षेत्र का रहने वाली थी और शायद इसी कारण इसे मांचू नाम से सम्बोधित किया गया। चीन साम्राज्य पर मांचू वंश के लम्बे शासन काल को मूलतः विकास और अवनति के दो युगों में बाँटा जा सकता है। सन् १६४४ ई० से सन् १७९६ ई० तक का प्रथम युग 'विकास एवं समृद्धि का युग' तथा सन् १७९६ ई० से सन् १९१२ ई० तक का दूसरा युग 'अवनति का युग' कहा सकता है।

मिंग शासन काल के उत्तरार्द्ध में शासकों की निर्बलता का लाभ उठा कर अन्य जातियों ने धीरे-धीरे अपना प्रभाव बढ़ाना आरम्भ कर दिया था। १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के अन्त तक आते-आते चीन पर मांचू जाति के व्यक्तियों ने अपना

प्रभाव काफी बढ़ा लिया और हांग ताइची नामक व्यक्ति ने अपने सहयोगियों और समर्थकों के साथ सन् १६४४ ई० में पीकिंग पर आक्रमण कर उस पर अपना अधिकार कर लिया। हांग ताइची द्वारा पीकिंग पर अधिकार किये जाने के साथ ही चीन में माँचू वंश के शासन का प्रादुर्भाव होता है। परन्तु मिंग शासक सन् १६६१ ई० तक इनका प्रतिरोध करते रहे और सन् १६६१ ई० में अन्तिम मिंग शासक के पराजय और अपमान की ग्लानि के फलस्वरूप आत्म-हत्या कर लेने के पश्चात् ही चीन पर मांचू शासन सुदृढ़ हो सका।

राजनीतिक इतिहास :

चीन पर अधिकार करने के पश्चात् विदेशी होते हुए भी मांचू शासकों ने चीनी शासकों की भाँति राज्य किया। इन्होंने चीन की परम्परागत शासन-तन्त्र और व्यवस्था को यथावत् बनाए रखा और उनमें किसी भी प्रकार का कोई परिवर्तन करने की चेष्टा नहीं की। राजधानी पीकिंग तथा साम्राज्य के अन्य भागों में प्रचलित शासन-पद्धति को लागू रखते हुए उनमें केवल यह सुधार किया गया कि प्रत्येक विभाग में चीनी अधिकारी के साथ-साथ मांचू अधिकारी भी नियुक्त किया जाने लगा। परीक्षा-सम्बन्धी सभी नियम भी पूर्ववत् रखे गये, केवल समय की आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन किये गये। न्याय के क्षेत्र में भी मिंग की न्याय प्रणाली को ही स्थापित रखा गया। मिंग कालीन विधि संहिता को यथावत् पालन किया गया।

परन्तु प्राचीन परम्पराओं और पूर्ववर्ती शासन-व्यवस्था के सिद्धान्तों का पालन करते हुए भी मांचू शासकों ने अपनी जातिगत विशेषताओं और परम्पराओं को नहीं भुलाया। बड़े-बड़े नगरों और सुरक्षात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थानों पर उन्होंने अपनी सैनिक छावनियाँ स्थापित कीं। सरकारी अधिकारियों को थोड़े समय पश्चात् एक स्थान से दूसरे स्थान को स्थानान्तरित किया जाने लगा जिससे वे किसी स्थान पर अधिक समय तक रह कर अपनी शक्ति को न बढ़ा सकें। विशेषकर किसी अधिकारी की उसके जन्म स्थान पर नियुक्ति नहीं की जाती थी। प्रत्येक अधिकारी के कार्यों पर नियन्त्रण रखा जाता था और सम्भवत: एक विभाग में दो अधिकारी इसलिये नियुक्ति किये जाते थे कि वे एक दूसरे के कार्यों का बराबर निरीक्षण कर सकें। इस प्रकार भ्रष्टाचार को रोकने की जो कोशिश की गई उसमें मांचू शासकों को सफलता प्राप्त हुई। स्थानीय समाचारों को जानने के लिये समय-समम पर केन्द्र से विशिष्ट दूतों को भेजा जाता था। इस प्रकार इन विभिन्न कार्यों द्वारा मांचू शासकों ने मिंग पद्धति को अपनाते हुए भी अपने प्रभाव को सर्वोपरि बनाये रखने का प्रयत्न किया।

संस्कृति के क्षेत्र में भी इस युग में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुए और मिग कालीन सांस्कृतिक विचारधराएँ ही चलती रहीं। सम्भवतः इसका कारण मांचू शासकों का शक्ति के विस्तार की ओर अधिक ध्यान देना था।

मांचूओं की शक्ति के विस्तार का श्रेय वंश के दो महान् शासकों कांग-हसी (Kang-Hsi) तथा चिएन-लुन (Chien-Lung) को दिया जा सकता है।

कांग-हसी (Kang-Hsi) : कांग-हसी ने सन् १६६१ ई० से लेकर सन् १७२२ ई० तक चीन पर शासन किया। वह एक शक्तिशाली सम्राट था और उसके शासन में मांचू शक्ति का विस्तार हुआ। वह भारत के औरंगजेब, फ्रांस के लुई चतुर्दश एव रूस के पीटर महान् का समकालीन था। उसके शासन काल में चीन का साम्राज्य सम्भवतः विश्व के विशालतत साम्राज्यों में था। अपने विशाल साम्राज्य के विभिन्न भागों में भ्रमण कर वहाँ जनता की कठिनाइयों को दूर करने के साथ शासकीय विभागों और आधिकारियों के कार्यों का निरीक्षण किया करता था।

अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षो में ही कांग-हसी को एक बड़े विद्रोह का सामना करना पड़ा। यह विद्रोह स्वयं सहायक सेनापतियों द्वारा अनुशासन बनाये रखने के प्रश्न पर किया गया था। क्योंकि कांग-हसी सैनिक अधिकारियों को अनुशासन और नियन्त्रण में रखना चाहता था। अतः व्रू-सान कुई के नेतृत्व में इन्होने विद्रोह कर दिया। काग-हसी ने इसी विद्रोह का कठोरतापूर्वक दमन कर माचू शासन को और सुदृढ़ बनाया। भविष्य में शासक के विरुद्ध विद्रोह की सम्भावना को समाप्त करने और शासन को और अधिक मजबूत बनाने के लिए अर्द्ध-स्वतन्त्र जागीरदारी की प्रथा समाप्त कर दी गई तथा प्रान्तीय शासन पर केन्द्रीय नियन्त्रण काफी दृढ़ कर दिया गया।

साम्राज्य-विस्तार को भी कांग-हसी ने अपना लक्ष्य बनाया। इसके लिए उसने आक्रमण नीति अपनाई। साम्राज्य की ओर बार-बार बढ़ने वाले मंगोल पराजित किये गये। फारमोसा को जीत कर साम्राज्य में मिला लिया गया और तिब्बत पर भी कांग-हसी का अधिकार हो गया। सन् १७२२ ई० कांग-हसी की मृत्यु हो गई।

चिएन-लुन (Chien-Lung) : इस वंश के दूसरे महान् शासक चिएन-लुन (Chien-Lung) ने सन् १७३६ ई० सन् १७९६ ई० तक शासन किया। ये प्रशा के फ्रेडरिक महान् तथा रूस की कैथरीन महान् का समकालीन था। इसके शासन काल में चिग सत्ता चरमोत्कर्ष तक पहुँच कर अवनति की ओर चल पड़ी। इसने भी साम्राज्य-विस्तार को अपना मुख्य ध्येय बनाया। इसके द्वारा मंगोल अन्तिम रूप से पराजित किये गये। सिक्यांग प्रदेश पर अधिकार कर लिया गया।

अन्नाम, बर्मा तथा नेपाल के शासक चीन साम्राज्य के प्रभाव क्षेत्र में आ गये और इन तीनों के द्वारा नियमित रूप से कर भेजा जाने लगा।

आन्तरिक क्षेत्र में चिएन-लुन ने शासन-प्रबन्ध पर अपना नियन्त्रण और भी मजबूत कर दिया। शासन के विरुद्ध किसी भी प्रकार के षड्यन्त्र की सूचना प्राप्त होने पर उसका कठोरतापूर्वक दमन कर दिया जाता था। सारांश यह कि शासक चिएन-लुन ने अपनी सत्ता को दृढ़ बनाये रखने के लिये कठोरतम उपाय अपनाए।

इस प्रकार सारांश के रूप में यह कहा जा सकता है कि कांग-ह्सी और चीन साम्राज्य, सीमा तथा सत्ता की दृष्टि से चरम सीमा तक पहुँच गया। सन् १७६६ ई० में चिएन-लुन की मृत्यु होने के पश्चात् चीन की अवनति का दूसरा युग आरम्भ हुआ।

मांचूकालीन संस्कृति (Manchu Culture) :

मांचू युग मे सस्कृति का परम्परा-बद्ध विकास हुआ। कोई भी नये विचार सामने नही आये। लातूरे के अनुसार चिंग अथवा मांचू संस्कृति मिग संस्कृति का ही विस्तार थी। इसका एक सम्भावित कारण यह हो सकता है कि माँचुओं ने चीनी जनता को प्रभावित करने के लिए उनकी परम्परागत संस्कृति को अपना लिया जिससे परिवर्तन के लिए किसी प्रकार की प्रेरणा का अभाव हो गया। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि विद्रोहो के प्रति सशंक ये मांचू शासक किसी भी प्रकार के नये विचारों को पनपने नही देना चाहते थे।

प्रशासकीय एव जन-कल्याणकारी कार्य—जनता को लाभ पहुँचाने के लिए करों का बोझ कम करने का प्रयास किया गया। प्रशासकीय क्षेत्र में इन शासकों ने भ्रष्टाचार को समाप्त करने की कोशिश की जिससे जनता को अनेक सुविधाएँ मिल सकें। प्रचलित मुद्रा प्रणाली तथा सिक्कों में सुधार किए गए। विभिन्न नदियों विशेषकर ह्वांग-हो पर बाँध बना कर उसके पानी को कृषि कार्यो में प्रयोग किया गया। सरकारी आधिकारियों का नियुक्ति के लिए होने वाली प्रतियोगात्मक परीक्षा प्रणाली में पुराना पाठ्य-क्रम ही चलता रहा।

साहित्य—मांचू शासकों ने साहित्य की श्री-वृद्धि की ओर ध्यान दिया। साम्राज्य की ओर से विद्वानों की सहायता की जाती थी और प्रश्रय भी प्रदान किया जाता था। इस युग में बहुत बड़ी संख्या में ग्रन्थों की रचना की गई। प्राचीन तथा अप्राप्य ग्रन्थों को खोज निकाला गया। उनकी त्रुटियों कर परिमार्जन कर उन्हें प्रकाशित किया गया। इस युग में एक वृहत् शब्दकोष की रचना कर कांग-ह्सी के नाम पर प्रकाशित किया गया। चीनी भाषा के कुछ सर्वोत्तम उपन्यासों की रचना

भी इसी युग में हुई। इनमे सबसे प्रसिद्ध उपन्यास 'लाल प्रकोष्ठ का स्वप्न' (The Dream of the Red Chamber) था।

इतिहास—इस युग में इतिहास के क्षेत्र मे एक नई विचारधारा का प्रतिपादन किया गया। कुछ बुद्धि-जीवी शुंग कालीन दर्शन के प्रति सन्देह व्यक्त करते हुए उस युग में की गई ऐतिहासिक व्याख्याओं से सन्तुष्ट नहीं थे। यह बुद्धि-जीवी वर्ग चीन के इतिहास में विदेशी विजेताओं के सम्मुख चीन की शक्तिहीनता का कारण प्रचलित राजनीतिक विचारधाराओं में ढूँढ़ना चाहता था। अतः इस वर्ग ने शुंग एवं उसके पूर्व के साहित्य का अध्ययन करना आरम्भ किया और प्राचीन ग्रन्थों की वैधता एवं सत्यता का पता लगाने के लिए नए उपाय खोज निकाले। अपने अध्ययन के पश्चात् यह वर्ग जिस निष्कर्ष पर पहुँचा वह इन विचारधारा के अधिक समीप था अतः इसका मत 'हन शिक्षा' (Han Learning) के नाम से प्रख्यात है।

कला—कला के क्षेत्र में किसी प्रकार की मौलिक विचारधारा का अभाव होते हुए भी सराहनीय कार्य किए गए। विशेषकर चीनी मिट्टी के वर्तनो का उद्योग (Porcelain) और भी अधिक विकसित हुआ। चीनी मिट्टी के सुन्दर बर्तन बहुत बड़ी संख्या में बनाए जाते थे और चिन-ता-चेन (Chin-Ta-Chen) इस उद्योग का सबसे बड़ा केन्द्र था।

निष्कर्ष—इस प्रकार मांचू शासन के प्रथम एक सौ पचास वर्ष चीन के इतिहास में सर्वोत्तम कहे जा सकते हैं। चीन के साम्राज्य की सीमायें अत्यन्त विस्तृत हो गई। मांचू वंश के इन शासकों ने साम्राज्य पर अनुशासन बनाए रखा और यह इस युग के शासन की बहुत बड़ी उपलब्धि थी। देश के अनुशासित होने के कारण जहाँ एक ओर देश की जनसंख्या में वृद्धि हुई और देश समृद्धिशाली हुआ वहीं पर दूसरी ओर संस्कृति के क्षेत्र में भी विकास हुआ। सन् १७९६ ई० के उपरान्त मांचू राजवंश की अवनति प्रारम्भ हो गई।

चीन का विदेशियों से सम्पर्क :

चीन के इतिहास का विवेचन करने पर कहीं-कहीं यह संकेत मिलता है कि सम्भवतः सातवीं और छठवीं ई० पूर्व में चीन के अन्य देशों के साथ सम्बन्ध थे। तीसरी शताब्दी ई० पू० तक रोमन साम्राज्य के स्पष्ट सम्बन्ध के संकेत मिलते है। रोमन साम्राज्य के पतन के काल तक आते-आते अरब आदि अनेक देशों से सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे परन्तु मंगोल आक्रमण एवं अधिकार के युग में चीन का अन्य देशों के साथ सम्बन्ध टूट गया। यूरोप के विभिन्न देशों के निवासी इस समय तक सभ्यता के मार्ग पर काफी बढ़ चुके थे और उन्होंने मार्कोपोलो (Marcopolo) के

यात्रा-संस्मरणों को पढ़कर चीन के विषय में काफी जानकारी प्राप्त कर ली थी।

दूसरी ओर यूरोप के विभिन्न देशों को मगोल एवं तुर्क आक्रमणों के कारण नये मार्गों को खोज निकालना आवश्यक हो गया क्योंकि तुर्क नेता महमूद द्वितीय ने कुस्तुनतुनियाँ पर अधिकार कर पूर्व के देशों की ओर जाने वाले व्यापारिक मार्गों को बन्द कर दिया। पूर्व के देश विशेषकर चीन के साथ व्यापार करने की सम्भावना से यूरोप के निवासी अभी तक अनभिज्ञ थे, यद्यपि भारत तथा अन्य देशों के साथ उनके व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे।

मिंग युग में ही यूरोप का चीन के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ। सर्वप्रथम पुर्तगालियों ने सन् १५१४ ई० में चीन में प्रवेश किया। इनका मुख्य उद्देश्य चीन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना था। परन्तु चीन के शासन के साथ दुर्व्यवहार करने के कारण चीन के शासक ने इनके व्यापार पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये और इन्हें मकाओ जाने की आज्ञा दी। उसके उपरान्त वे केवल चीन के तटवर्ती प्रदेशों के साथ ही व्यापार करने लगे। चीन के निवासी इन पुर्तगालियों का पूर्ण रूप से बहिष्कार करना नहीं चाहते थे क्योंकि उनके साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर लेने से चीन के व्यापारियों को एक तरफ तो आर्थिक लाभ हो रहा था और दूसरी ओर राजकोष में भी बराबर वृद्धि हो रही थी।

पुर्तगाल के उपरान्त चीन में स्पेन के निवासियों ने प्रवेश किया और व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये। सर्वप्रथम, सन् १५७५ ई० में स्पेनी व्यापारी चीन पहुँचे और धीरे-धीरे व्यापारिक क्षेत्र में अपना प्रभाव बढ़ाने लगे। सन् १६०० ई० तक आते-आते उन्होंने कई स्थानों पर अपने केन्द्र स्थापित कर लिये। स्पेन के उपरान्त हालैण्ड का चीन के साथ सम्बन्ध स्थापन का जन्म होता है। सन् १६२२ ई० के लगभग हालैण्ड के निवासी मकाओ पर अधिकार करने के उद्देश्य से वहाँ जा पहुँचे परन्तु असफल रहे। आगे बढ़ते हुए वे चीन के तटवर्ती प्रदेश तक पहुँच गये तथा उन प्रदेशों के निवासियों के साथ व्यापार करना आरम्भ कर दिया।

मिंग शासन के अन्तिम दशक में अंग्रेज व्यापारियों ने चीन में प्रवेश किया। सन् १६३७ ई० के लगभग ये अंग्रेज व्यापार के उद्देश्य से चीन पहुँचे और व्यापार करना आरम्भ कर दिया।

मिंग युग में यूरोप के विभिन्न देशों के साथ चीन का सम्बन्ध स्थापित होने पर मुख्य रूप से दो क्षेत्रों में इनका प्रभाव पड़ते हुये दिखाई देता है—व्यापारिक और धार्मिक। यूरोप के विभिन्न देशों के निवासियों ने यद्यपि व्यापार को अपना मुख्य उद्देश्य बनाते हुए चीन के साथ सम्बन्ध स्थापित किये थे परन्तु इसके साथ ही उनका विचार चीन की जनता के बीच ईसाई धर्म का प्रचार कर उनका समर्थन प्राप्त करना

और अपना राजनीतिक प्रभाव स्थापित करना भी था। यूरोप के देशों का यह व्यापार मुख्यतः चीन के दक्षिणवर्ती प्रदेशो तक ही सीमित रहा। कैन्टन तथा मकाओ इनके मुख्य व्यापारिक केन्द्र थे और केवल इन्हीं दोनो बन्दरगाहो का प्रयोग व्यापार के लिए किया जाता था। इन व्यापारियों के सम्पर्क मे आने से चीन के निवासियों को अनेक नये-नये खाद्य पदार्थों का पता चला। ज्वार (Maize), मूँगफली, मक्का, आलू, शकरकन्द तथा तम्बाकू आदि वस्तुएँ इन्ही व्यापारियो के द्वारा सर्वप्रथम चीन में लायी गयीं।

धार्मिक क्षेत्र में इन देशों का उद्देश्य ईसाई धर्म विशेषकर रोमन कैथोलिक धर्म का प्रचार करना था। इस उद्देश्य से सर्वप्रथम सन् १५५२ ई० में जेसुइट सम्प्रदाय का फ्रांसिस जेवियर (Francis Xavier) नामक प्रचारक चीन आया, परन्तु कुछ सप्ताह के उपरान्त ही उसकी मृत्यु हो गयी। सन् १५८२ ई० में मैथ्यु रिकी (Mathew-Ricci) नामक जेसुइट प्रचारक चीन पहुँचकर ईसाई धर्म का प्रचार करने लगा। अपने प्रयत्नो से उसने उच्च पदाधिकारियों का विश्वास प्राप्त कर लिया तथा उसे पीकिंग में रहने की अनुमति मिल गयी। पीकिंग में ही सन् १६१० ई० में उसकी मृत्यु हो गयी। यद्यपि सन् १६१० ई० तक इन धर्म प्रचारकों ने अपना काफी प्रभाव स्थापित कर लिया परन्तु इसके प्रभाव की जड़ें शासक एवं जनता के बीच बहुत गहराई तक न जा सकी।

मांचू वंश के शासन के प्रथम १५० वर्षों में यूरोप के इन देशों का चीन पर प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ने लगा और सन् १७८५ ई० तक आते-आते फ्रांस, अमेरिका तथा रूस के निवासी चीन आ पहुँचे। मांचू शासक कांग-हसी (Kang-Hsi) ने यद्यपि इनके प्रति असहिष्णुता की नीति अपनायी फिर भी वह इनके बढ़ते हुए प्रभाव को रोक नहीं सका।

माँचू युग में इन विदेशियों के प्रभाव को कम करने के लिये शासकों के द्वारा अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये। ये व्यापारी केवल शासन द्वारा नियत किए गये स्थानो में ही व्यापार कर सकते थे और कुछ तटवर्ती बन्दरगाहों में इन्हें आने-जाने की सुविधा दी गयी। कई स्थानों पर इन विदेशी व्यापारियों ने अपने केन्द्र स्थापित किए जिन्हे 'फैक्टरी' (Factory) कहा जाता था। इसके अतिरिक्त ये व्यापारी साम्राज्य की ओर से नियुक्त किये व्यापारियों के साथ ही व्यापार कर सकते थे। साम्राज्य के इन व्यापारियों को को-हांग (Co-Hang) कहा जाता था। विदेशी व्यापारियों को चीनी वस्तुओं के खरीदने के बदले में चाँदी देनी पड़ती थी।

धार्मिक क्षेत्र में ईसाई धर्म प्रचारकों के साथ शासकों ने पहले तो समझौते की नीति अपनायी, परन्तु इनके निरन्तर बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर वे इनके प्रति

शंकालु हो उठे। चीन की जनता अपनी संस्कृति और धर्म पर किसी प्रकार की आँच नही आने देना चाहती थी। अतः शासकों ने इनके प्रति असहिष्णुता की नीति अपनायी।

इस प्रकार मांचू शासकों के द्वारा व्यापार तथा धर्म प्रचार पर प्रतिबन्ध लगाकर यूरोप के इन देशों के बढ़ते हुए प्रभाव को कम करने की कोशिश की गयी, परन्तु इसमें उन्हें सफलता नहीं मिल सकी और १८वीं शताब्दी के अन्त तक आते-आते चीन पर इनका प्रभाव स्थापित हो गया।

अध्याय २२

जापान

(JAPAN)

विशेषताएँ :

जापान के इतिहास में बहुत-सी विशेषताएँ मिलती हैं। सबसे पहली विशेषता जापान के राजवंश का संसार का सबसे प्राचीन राजवंश है। एक दन्तकथा के अनुसार जिस समय सूर्य का पौत्र जापान का शासक बनाकर भेजा गया उसी समय से उसका राजवंश जापान पर बराबर राज्य करता रहा है। जापान के राजवंश के अत्यन्त प्राचीन होने का जापान के निवासियों पर अत्यन्त व्यापक प्रभाव पड़ा। उनका विचार हो गया कि उनकी तथा उनके देश की उत्पत्ति दैवी शक्ति के द्वारा हुई है। फलतः अपने सम्राट को वे दैवी शक्ति का प्रतीक समझने लगे। इसका यह भी प्रभाव पडा कि सम्पूर्ण जापान के निवासी एक ही शासक की आधीनता स्वीकार करने लगे और राज्य तथा समाज मे एकता स्थापित हो सकी।

जापान के इतिहास की एक विशेषता यह भी है कि जापान के निवासी सदैव दूसरे से सीखने के लिए प्रस्तुत रहे हैं। प्राचीन काल से ही जापान पर चीन की सभ्यता का प्रभाव दिखाई देता है। वहाँ के लोग चीन की संस्थाओं, भाषा एवं चीनी दार्शनिकों के विचारों को सीखने के लिये सदैव तत्पर रहे और उनसे बहुत सी बातें सीखीं।

जापान के इतिहास की एक अन्य विशेषता वहाँ के निवासियों द्वारा अपनी संस्कृति को सुरक्षित बनाये रखने का प्रयत्न था। यद्यपि वे दूसरों से सीखने के लिए हमेशा तैयार रहते थे परन्तु इसका यह अर्थ नहीं हैं कि उन्होंने अपने विचारों तथा संस्थाओं को त्याग दिया। इससे विपरीत जापान के निवासियों ने दूसरों से सीखकर अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उनमें परिवर्तन कर लिये क्योंकि जापान के निवासियों को अपनी संस्कृति तथा सभ्यता पर गौरव था। वे दूसरे देशों की विचारधारा को ग्रहण करने हेतु इसलिए तैयार रहते थे कि कोई उनको पिछड़ा हुआ न कहे।

अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण आधुनिक युग में पूर्व एशिया तथा विश्व के अन्य भागों में जो भी महत्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुईं उनमें भाग लेने में जापान समर्थ रहा और पश्चिमी देशों के अनेकानेक कार्यों का लाभ उठा सका।

भौगोलिक स्थिति :

किवदन्ती के अनुसार जापान की उत्पत्ति 'इजानगी' नामक देवता तथा 'इजानमी' नामक देवी के सयोग से हुई तथा सूर्य देव के पौत्र को यहाँ का शासक बनाकर भेजा गया। इसीलिए जापान को "उगते सूर्य का देश" (Land of the rising Sun) अथवा "दाइ निपन" (Dai Nippon) कहा जाता है।

यह प्रशान्त महासागर मे स्थित है। एक संकीर्ण जलडमरूमध्य इसे कोरिया तथा एशिया के मुख्य भूखण्ड से अलग करता है। जापान मुख्य रूप से द्वीपों का समूह जो उत्तर में काम-चटका से लेकर दक्षिण में फारमोसा तक फैले हुए हैं। क्यूशू (Kyushu), शिकोकू (Shikoku), होंशू (Honshu) तथा हाकाइदो अथवा येजो (Hakaido or Yezo) नामक चार द्वीप प्रमुख है। इसके पश्चिम में स्थित कोरिया, चीन तथा एशिया से इसका भूमि द्वारा सम्बन्ध स्थापित करता है। कोरिया की स्थिति जापान के लिए विशेष महत्वपूर्ण है क्योंकि इसी मार्ग से होकर जापान एशिया की ओर बढ़ सकता है और उस पर भी इसी मार्ग से आक्रमण हो सकता है। उत्तर में सखालिन तथा कुरील द्वीप तथा दक्षिण में लू-चू द्वीप समूह जापान के अधिकार में रहे हैं। जापान प्रमुख रूप से पहाड़ी क्षेत्र है और यहाँ पर अनेक ज्वालामुखी हैं। फलत: कृषि योग्य भूमि बहुत कम है। खनिज पदार्थ भी नहीं के बराबर उपलब्ध हैं। अत: यहाँ के निवासी देश के अन्दर कृषि-योग्य भूमि न होने के कारण प्रारम्भ से ही परिश्रमी और अध्यवसायी रहे हैं।

इतिहास :

संसार के अन्य देशों के समान जापान का इतिहास भी अत्यन्त प्राचीन है। जापानियों की उत्पत्ति के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जापान के मूल निवासी किसी एक जाति से नहीं है अपितु कई विभिन्न जातियों के सम्मिश्रण से इसका जन्म हुआ है। बहुत से इतिहासकारों का यह कहना है कि जापानी जाति एनो, कोरिया तथा मलाया के चीनी जातियों का सम्मिश्रण है। इस मत का खण्डन अभी तक नहीं किया जा सकता है।

जापान के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में बहुत कम सूचनाएँ मिलती हैं। तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के पश्चात् के जापान के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ प्राप्य है उनके अनुसार यह कहा जा सकता है कि इस समय के जापान के निवासी गुफाओं में रहा करते थे। तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के पश्चात् से जापान का क्रमबद्ध इतिहास मिलने लगता है। उसके पहले का इतिहास केवल परम्परागत गाथाओं एवं दन्तकथाओं के ही आधार पर निर्मित किया जा सकता है।

जापान के इतिहास का दूसरा क्रम छठी शताब्दी के लगभग से प्रारम्भ होता है। यद्यपि चौथी शताब्दी के पूर्व ही चीन का प्रभाव सभी क्षेत्रो पर स्थापित हो चुका था परन्तु चौथी शताब्दी में कन्फ्यूशियस के विचारों के चीन से जापान मे प्रवेश करने पर वहाँ की परिस्थितियों में अन्तर आया। अभी तक जापान का शासक सरल जीवन बिताया करता था परन्तु अब वह ऐश्वर्य का जीवन बिताने लगा और उसकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी।

सन् ५२२ ई० के लगभग चीन से तथा सन् ५५० ई० में कोरिया के मार्ग से बौद्ध भिक्षुओं ने जापान में प्रवेश किया और उसी समय से जापान में बौद्ध धर्म का प्रसार दिखायी देता है। धीरे-धीरे सम्पूर्ण जापान ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया। बौद्ध धर्म जापान के प्राचीन शिंतो (Shintoism) धर्म के साथ-साथ चलता रहा। शिंतो धर्म के अन्तर्गत आत्माओं की पूजा की जाती थी। मन्दिरों का निर्माण किया जाता था और यद्यपि उनमें कोई मूर्ति नहीं रहा करती थी परन्तु उनकी देख-रेख के लिए पुरोहितों की नियुक्ति की जाती थी। बौद्ध धर्म के आगमन के पश्चात् शिंतों मन्दिरों के साथ-साथ बौद्ध विहारों का निर्माण भी किया जाने लगा। बौद्ध पूजा-पाठ की रीतियों का प्रचलन आरम्भ हो गया। लेकिन साथ ही साथ शिंतो धर्म का परित्याग नहीं किया गया। दोनों धर्म पारस्परिक सहिष्णुता के साथ चलते रहे। शिंतो धर्म को और भी अधिक मजबूत बनाने के प्रयास किये गये और चीनियों में प्रचलित पूर्वज पूजा के सिद्धान्त के आधार पर उस धर्म में मृत व्यक्तियो के प्रति आदर-भाव को और भी बढ़ाया गया।

साहित्य और कला के क्षेत्र में भी इस युग में चीन का ही प्रभाव दिखायी देता है। जापानी साहित्य का आरम्भ इसी युग से होता है। भाषा का ज्ञान होने के कारण प्राचीन कथाओं को लिपिबद्ध किया गया। कला के क्षेत्र में मुख्य रूप से मन्दिरों का निर्माण किया गया और कुछ समय पश्चात् राज परिवार तथा उच्च वर्ग के लोगों के लिए भव्य और सुन्दर भवनों का निर्माण किया जाने लगा। इसी युग में कोरिया तथा चीन से विभिन्न प्रकार की दस्तकारियाँ भी आयीं और जापान के लोग नये-नये औजारों तथा अच्छे किस्म के वस्त्रों से परिचित हो गये। सामाजिक क्षेत्र में भी अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए। सबसे बड़ा परिवर्तन वर्ग-भेद का जन्म था जो आगे चलकर तोकूगावा युग में और प्रबल रूप में सामने आया। आर्थिक क्षेत्र में व्यापार एवं वाणिज्य की उन्नति हुई। सोना, चाँदी, ताँबा आदि धातुओं के प्राप्त होने पर सिक्कों का प्रचलन आरम्भ किया।

राजनीतिक क्षेत्र में भी चीन के प्रभाव के कारण अनेक परिवर्तन किये गये तथा साम्राज्य का पुनर्गठन किया गया। शासक को ईश्वर का अंश मानते हुए सर्वोच्च

माना गया और उसके प्रति विद्रोह साम्राज्य के प्रति द्रोह माना गया। शासक की शक्ति का विकास हुआ और सैनिक तथा प्रशासकीय अधिकारियों में भेद स्थापित किया गया। क्योतो (Kyoto) को राजधानी बनाकर एक केन्द्रीय शासन की व्यवस्था की गयी और उसे मजबूत बनाने के लिए सामन्तो की शक्ति को कम करने का प्रयास किया गया। राज्य की सारी भूमि खालसा कर दी गई। सामन्तों को दी जाने वाली भूमि का प्रत्येक ६ वर्ष पर पुनः वितरण किया जाने लगा। सुरक्षा के दृष्टिकोण से सारी जनसंख्या समूहों में विभक्त थी। समाज में परिवार मुख्य था। पाँच परिवारों का एक वर्ग होता था और ५० परिवार का एक समूह बनाया जाता था।

फ्यूजीवारा :

इस प्रकार जापान प्रगति के पथ पर बराबर आगे बढ़ता रहा और १०वीं शताब्दी के अन्त तक आते-आते फ्यूजीवारा परिवार (Fugiwara) ने देश पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। फ्यूजीवारा युग में क्योतो संस्कृति का मुख्य केन्द्र बन गया। जापानी भाषा का अत्यधिक विकास हुआ और जापानी साहित्य ने एक नया रूप ग्रहण कर लिया। इस युग में अनेक चीनी संस्थाएँ आवश्यकतानुसार जापान के निवासियों द्वारा परिवर्तित कर ली गयी। उदाहरण के लिए चीन की परीक्षा-प्रणाली के आधार पर जापान में भी प्रशासकीय परीक्षा पद्धति स्थापित थी, परन्तु इसमें अन्तर यह था कि जहाँ चीन में होने वाली परीक्षा उत्तीर्ण कर प्रत्येक योग्य व्यक्ति सरकारी पद प्राप्त कर सकता था वहीं पर दूसरी ओर जापान की परीक्षा-पद्धति केवल एक प्रतीक मात्र थी। विशिष्ट व्यक्तियों को ही सरकारी पद दिये जाते थे। धार्मिक क्षेत्र में बौद्ध तथा शिंतो धर्म को एक में मिलाया गया। प्रशासकीय क्षेत्र में सम्राट की प्रतिष्ठा को पूर्ववत् बनाये रखा गया यद्यपि उस पर फ्यूजीवारा परिवार का पूरा नियन्त्रण था। फ्यूजीवारा परिवार की इस बढ़ती शक्ति से राज्य के सामन्त वर्ग में असंतोष फैल गया और उनके तथा केन्द्रीय फ्यूजीवारा शक्ति के मध्य संघर्ष आरम्भ हो गया। इस संघर्ष का अन्त सन् ११५६ ई० में तायरा परिवार के प्रभुत्व स्थापना में हुआ।

तायरा परिवार ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर अन्य महत्वाकांक्षी परिवारों को अपने रास्ते से हटाना चाहा। फलतः अन्य परिवार के व्यक्ति अपनी सुरक्षा के लिए वहाँ से भाग निकले। इन भागने वालों में योरीतोमो नामक व्यक्ति भी था। योरीतोमो ने सन् ११८५ ई० में तायरा परिवार को पराजित कर जापान पर अपना अधिकार कर लिया। इसी समय से जापान में शोगुनेट (Shogunate) का शासन आरम्भ होता है।

शोगुनेट का प्रथम युग
(SHOGUNATE, 1192—1603)

योरीतोमो परिवार :

सन् ११८५ ई० में योरीतोमो (Yoritomo) ने जापान पर प्रभुत्व स्थापित कर तायरा परिवार का अन्त कर दिया। योरीतोमो के प्रभुत्व ग्रहण के साथ ही जापान के इतिहास का नया युग आरम्भ होता है। उसने एक ऐसी स्वेच्छाचारी शासन प्रणाली की स्थापना की जिसने शासक को केवल एक शोभा की वस्तु मात्र ही बना दिया राज्य और प्रशासन सम्बन्धी सभी अधिकार 'शोगुन' नामक अधिकारी के पास चले गये। यह शासन-व्यवस्था समयानुकूल परिवर्तनों के साथ १९वीं शताब्दी तक चलतीं रहो।

योरीतोमी ने सैनिक आधार पर जिस शासन-संगठन की स्थापना की उसे 'बाकुफू शासन' (Bakuffu Administration) कहा जाता है। इसके अन्तर्गत योरीतोमो के द्वारा 'शोगुन (Shogun) की पदवी धारण की गयी। 'शोगुन' शब्द का अर्थ 'जनरल' अथवा 'सेनापति' है। इसका एक दूसरा अर्थ 'बर्बरों का दमन करने वाला सेना का सर्वोच्च समादेशक' भी है। यह कोई नया शब्द नहीं था पहले सभी उच्च सैनिक पदाधिकारियों को 'शोगुन' नाम से पुकारा जाता था। परन्तु योरीतोमो ने 'सैनिक तानाशाह' के रूप में इस उपाधि को धारण कर इसका अर्थ परिवर्तित कर दिया। इस प्रकार योरीतोमो से लेकर १६वीं शताब्दी के अन्त तक जापान का आन्तरिक इतिहास, बलशाली सामन्तों के निदेशन में देश को एक सुदृढ़ शासत्र-तन्त्र में बाँधने के प्रयासों का इतिहास है। जितके अन्तर्गत सरदारों अथवा 'दाइम्यों' द्वारा सम्राट के नियन्त्रण का सफल प्रयत्न भी किया गया। जापान को सरकार का स्वरूप इस समय से सैनिक हो गया।

योरीतोमो ने सन् ११९२ ई० में 'शोगुन' की पदवी धारण कर 'बाकुफू संगठन' का केन्द्र कामाकुरा नामक स्थान को बनाया जो टोकियो के निकट था। सम्राट की राजधानी क्योतो में ही रही। इस प्रकार देश में सैनिक एवं असैनिक दो प्रशासन व्यवस्थाएँ समानान्तर रूप से चलने लगीं। दोनों के अपने-अपने अलग संगठित अधिकारी वर्ग थे और दोनों की अलग-अलग राजधानियाँ थीं। इन दोनों में यद्यपि कामकुरा का बाकुफू नामक सैनिक शासन-संगठन अधिक शक्तिशाली था फिर भी सम्राट के सर्वोच्च और सर्वशक्तिमान माने जाने के कारण सिद्धान्त रूप से वह क्योतो के असैनिक प्रशासन के ही अधीन था। इस प्रकार की सफल द्वैध शासन-प्रणाली की स्थापना के कारण ही योरीतोमो की गणना जापान से प्रतिभा सम्पन्न वंए सफल राजनीतिज्ञों में की जाती है।

क्योतो में सम्राट की राजधानी पहले की तरह बनी रही। सम्राट के पद महत्व को देखते हुए यद्यपि उसका पद पूर्ववत् बनाये रखा गया लेकिन व्यावहारिक रूप में शासन सम्बन्धी सारे अधिकार योरीतोमो के पास चले जाने के कारण शासक अथवा सम्राट का कोई भी महत्व नहीं रह गया। यद्यपि अभी भी क्योतो में पहले की तरह सम्राट का दरबार लगता रहा, उसके व्यय में किसी प्रकार की कमी नहीं की गयी, शासक ऐश्वर्य के साथ जीवन बिताता रहा फिर भी प्रशासन सम्बन्धी अधिकार छिन जाने के कारण उसका ऐश्वर्य और दरबार केवल दिखावा मात्र रह गया।

कामाकुरा में जिस सैनिक शासन-प्रणाली 'बाकुफू' की स्थापना की गयी उसे विलास और ऐश्वर्य के वातावरण से दूर रखा गया। क्योंकि वह योद्धाओं एव सैनिकों की सरकार थी और इसका संस्थापक योरीतोमो अपनी सरकार को भोग-विलास के दूषित प्रभाव से बचाना चाहता था। इस सरकार के सभी अधिकारी योरीतोमो के प्रति स्वामिभक्त थे। साम्राज्य के सभी प्रदेशों में नये अधिकारियों और कर वसूल करने वालों की नियुक्ति की गयी, जिनमें अधिकांशतः सैनिक थे। लेकिन पहले से नियुक्त अधिकारियों को हटाया नहीं गया, केवल उनके अधिकारों में कमी की गयी। धार्मिक सम्प्रदायों की भूमि को छोड़ कर अन्य सभी प्रकार की भूमियों पर कर लगाया गया।

अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने तथा अपने परिवार के प्रभुत्व को स्थायी बनाये रखने के लिये योरीतोमो ने बौद्ध भिक्षुओं के साथ सन्धि कर ली तथा साम्राज्य के दाइम्यों अथवा सामन्तों को उनकी वे जागीरें वापस कर दीं जो पूर्ववर्ती अव्यवस्था के युग में उनसे छीन ली गयी थीं।

होजो युग :

लेकिन जिस सुदृढ़ शासन-व्यवस्था को योरीतोमो के द्वारा इतने अधिक प्रयत्न से कार्यान्वित किया गया था। उस पर इसके वशज अधिक समय तक अपना नियन्त्रण स्थापित न रख सके। फलस्वरूप देश की वास्तविक सत्ता 'होजो' (Hojo) परिवार के हाथ में आ गयी। होजो परिवार के नायक ने 'शोगुन' की पदवी धारण नहीं की और केवल 'राजप' (राज्य प्रतिनिधि) की पदवी से ही सन्तोष किया। इस परिवार ने काफी कठोरता के साथ अपनी शासन-सत्ता का उपभोग किया।

होजो युग में ही बौद्ध धर्म की एक शाखा 'जैन' ने जापान में प्रवेश किया। इसके अन्तर्गत बोध प्राप्ति के लिये पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा ध्यान और चिंतन पर अधिक जोर दिया गया। 'जैन' ने साधक के लिये मन को एक विशिष्ट प्रकार की पूर्ण एकाग्रता की अवस्था में लाना आवश्यक बताया; सत्य का ज्ञान प्राप्त

करने के लिये साधक को इस संसार का बिल्कुल ही नये दृष्टिकोण से परिवेक्षण करना चाहिये तथा उसे जीवन की आपदाओं के प्रति उदासीन रहना चाहिये । 'जैन' धर्म में सरलता पर जोर दिया गया है तथा जीवन के गहनतम रहस्यों के साथ इनका सम्बन्ध जोड़ा गया । है । इसमें संचित शक्ति द्वारा पुष्ट पूर्ण आत्मसंयम को अत्यधिक महत्व प्रदान किया गया है । इस मत की कठोरता तथा सरलता प्राचीन मतों की सीधी-सादी शिक्षाओं और उनके अलंकृत मन्दिरों के बिल्कुल विपरीत है ।"[1] इस धर्म ने राजनीतिक क्षेत्र के अतिरिक्त सस्कृति के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया ।

होजो युग में ही सर्वप्रथम जापान में चीन के मार्ग से चाय का प्रवेश हुआ । चाय के साथ-साथ चीनी मिट्टी के बर्तन भी चीन से आये और उनके अनुकरण में जापान में भी चीनी मिट्टी के बर्तन बनाने के उद्योग का विकास हुआ । मूर्तिकला के क्षेत्र में विकास हुआ तथा चित्रकला की दो नयी प्रणालियों का जन्म हुआ ।

होजो प्रभुत्व काल में ही मंगोलो ने जापान पर हमला किया जिसका मुकाबला करने के लिये देश के सभी निवासी आपस के भेद-भावों को भूल कर एक हो गये । यद्यपि मगोल जापान पर अधिकार नहीं कर सके परन्तु वे होजो परिवार के पतन में सहायक सिद्ध हुए । मंगोल आक्रमण को विफल करने के प्रयत्न में उनकी महत्वहीनता स्पष्ट हो गयी । दूसरी ओर आन्तरिक प्रशासन में भ्रष्टाचार बढ़ने लगा जिसके परिणामस्वरूप देश में अव्यवस्था फैल गयी ।

आशीकागा युग :

इस अव्यवस्था का अन्त सन् १३१८ ई० में आशीकागा (Ashikaga) परिवार के प्रभुत्व स्थापित करने से हुआ । आशीकागा परिवार ने अगली दो शताब्दियों तक जापान पर अपना प्रभुत्व स्थापित रखा । यह युग संघर्ष और अव्यवस्था का युग था ।

आशीकागा शोगुन कामाकुरा शासन प्रणाली का ही प्रयोग करते रहे, परन्तु वे होजो परिवार के समान योग्यता तथा कोठरता से राज्य करने में असमर्थ रहे । इसलिये प्रभुत्व स्थापना के प्रारम्भिक युग में ही गृहकलह आरम्भ हो गयी जो १३९२ ई० तक चलती रही । चूंकि यह संघर्ष वस्तुतः विभिन्न परिवारों के मध्य अधिकार तथा भूमि के प्रश्न पर था इसलिये इस युग में बाकुफू की शक्ति कम हो गयी तथा राजवंश की प्रतिष्ठा को भी धक्का लगा

सन् १३९२ ई० में आशीकागा परिवार ने अन्य प्रतिद्वन्दियों को परास्त कर

---

1. जापान का इतिहास : लातूरेत (हिन्दी अनुवाद), पृ० ३० ।

अपनी सत्ता को मजबूत बना लिया और सन् १५७३ ई० तक जापान पर शासन करते रहे। परन्तु इस वंश के शोगुन अधिक प्रभावशाली न सिद्ध हो सके और साम्राज्य पर अपना पूर्ण नियन्त्रण स्थापित करने में असफल रहे। इस युग में बराबर संघर्ष चलता रहा जिसके कारण देश में अराजकता फैली रही। आशीकागा परिवार ने अपनी राजधानी कामाकुरा से हटाकर क्योतो के 'मुरामाची' नामक क्षेत्र में स्थापित की। इसके दो कारण प्रतीत होते हैं—पहले तो निरन्तर होने वाले युद्धों के फलस्वरूप ये क्योतो में रह कर शक्ति को मजबूत करना चाहते थे और दूसरा यह कि सम्राट् की राजधानी क्योतो में रह कर ये सम्राट तथा उसके दरबार पर सफलतापूर्वक नियन्त्रण स्थापित कर सकते थे। राजधानी में अब योद्धा सर्वशक्तिशाली हो गये तथा राजवंश की प्रतिष्ठा कम हो गयी। शोगुन की शक्ति का प्रयोग बाकुफू के अन्य पदाधिकारियों द्वारा किया जाने लगा।

आशीकागा प्रभुत्व का यह युग 'मुरोमाची संस्कृति' (Muromachi Culture) का युग भी कहा जाता है। इस युग में राज्य का केन्द्र क्योतो संस्कृत का केन्द्र भी हो गया। दरबार तथा राजधानी में रहने वाले योद्धाओं और दाइम्यों (सामन्तों) के पारस्परिक सम्बन्ध एवं वैचारिक आदान-प्रदान के फलस्वरूप एक नई संस्कृति का जन्म हुआ जो दरबारी एवं बाकुफू संस्कृतियों का मिश्रण थी। इस सांस्कृतिक मिश्रण के फलस्वरूप अमीरों—जिन्हें कुगे (Kuge) कहा जाता था—की आर्थिक अवस्था कमजोर हो गई। क्योंकि उनकी जागीरों पर योद्धाओं ने कब्जा कर लिया। सांस्कृतिक उन्नति के कारण नगरों का विकास हुआ। बौद्ध मठ एवं विहार कला और संस्कृति के केन्द्र बन गये। बौद्ध धर्म के साथ शिंतो धर्म का और भी अधिक विकास हुआ। मुरोमाची युग में कला की भी अत्यधिक उन्नति हुई। भवन निर्माण कला का विकास हुआ। नाटक और कविता के क्षेत्र में विकास हुआ। ऐतिहासिक ग्रन्थों की रचना की गई। 'बूशीदो' अर्थात् सैनिक वर्ग की आचार संहिता का भी विकास हुआ। 'इकेबाना' अथवा फूल सजाने की कला का आरम्भ हुआ। वाणिज्य एवं व्यापार की उन्नति हुई। व्यापारियों की श्रेणियों को संगठित कर विदेशों में विशेषकर चीन के साथ व्यापार बढ़ाने के प्रयत्न किये गये। सारांश यह कि आशीकागा परिवार के प्रभुत्व काल अथवा मुरोमाची युग में धर्म का संस्कृति पर प्रभाव स्थापित करने के साथ-साथ इस युग में एक विशिष्टता दिखाई पड़ती है अर्थात् कला तथा ज्ञान धार्मिक-क्षेत्र से निकलकर धर्म-निरपेक्ष हो गये।

अव्यवस्था का युग :

आशीकागा प्रभुत्व के उत्तरार्द्ध काल में जापान में संघर्ष आरम्भ हुआ

जिसके कारण सन् १५७३ ई० में आशीकागा परिवार का पतन हो गया। जापान में अव्यवस्था एवं अराजकता फैल गई। शक्तिशाली दाइम्यों देश की सत्ता पर अपना अधिकार करने के लिये आपस में संघर्षरत हो गये। अराजकता और सघर्ष के इस युग में कुछ ऐसे शक्तिशाली व्यक्तियों का उदय हुआ जिन्हें जापान की शक्ति को मजबूत बनाने, गृह-कलह और संघर्ष का अन्त कर व्यवस्था स्थापित करने और जापान को वर्तमान स्वरूप प्रदान करने का श्रेय दिया जा सकता है। बहुत कुछ अंशों में उन्हे आधुनिक जापान का निर्माता कहा जा सकता है। इस श्रेणी के व्यक्तियों में मुख्य रूप से ओदा नोबूनागा (Oda Nobunaga), तोयोतोमी हिदेयोशी (Toyotomi Hideyoshi) और तोकूगावा इयेयेसू अथवा आयेसू (Tokugawa Iyeyesu) का नाम लिया जा सकता है।

इनमें से प्रथम नोबूनागा ने सन् १५३४ ई० में क्योतो पर अधिकार कर अपने को वहाँ का अधिपति घोषित किया। यद्यपि अभी भी सैद्धान्तिक रूप से आशीकागा परिवार का ही शासन पर अधिकार रहा परन्तु वास्तविक सत्ता नोबूनागा के हाथों में केन्द्रीभूत हो गई। उसने हिदेयोशी और इयेयेसू का समर्थन प्राप्त कर अपनी शक्ति को और भी अधिक बढ़ाया तथा सन् १५८२ ई० तक क्योतो के अधिपति के रूप में शासन करता रहा।

सन् १५८२ ई० में नोबूनागा की मृत्यु के पश्चात हिदेयोशी ने उसका स्थान ग्रहण किया और सन् १५९८ ई० तक वह शासन करता रहा। हिदेयोशी के शासन काल की मुख्य घटनाएँ उसके द्वारा सम्भावित प्रतिद्वन्दी आयेसू को अपने पक्ष मे मिला कर शक्ति की वृद्धि एवं सन् १५९२ ई० में साम्राज्य विस्तार की इच्छा से कोरिया पर आक्रमण करना था। कोरिया उस समय चीन के मिंग वंशीय शासकों के प्रभुत्व में था। चीन की सेनाओं ने जापान की सेना को पीछे हटने पर विवश कर दिया अतः हिदेयोशी की कोरिया पर अधिकार करने की इच्छा पूरी न हो सकी।

सन १५९८ ई० में हिदेयोशी की मृत्यु के अनंतर उसका अल्पव्यस्क पुत्र हिदेयोरी (Hideyori) गद्दी का स्वामी हुआ। उसके अल्पव्यस्क होने के कारण साम्राज्य का शासन-प्रबन्ध करने के लिए एक संरक्षक-समिति की स्थापना की गई। हिदेयोशी का अन्यतम सहयोगी आयेसू भी इसका एक सदस्य था। अपनी शक्ति को बढ़ा आयेसू ने एक षड्यन्त्र द्वारा हिदेयोरी को पदच्युत कर दिया और सन् १६०३ ई० में स्वयं शोगुन बन बैठा। परन्तु उसकी शक्ति सन् १६१५ ई० हिदेयोरी का अन्त कर देने के पश्चात ही पूर्णता को पहुँच सकी, अर्थात वह सर्वसत्ताधारी हो सका। हिदेयोरी के पदच्युति और आयेसू के शोगुन पद ग्रहण करने के साथ जापान

के शोगुनेट युग के इतिहास के प्रथम युग का अन्त एवं द्वितीय युग का आरम्भ होता है।

तोकूगावा शोगुनेट

(Tokugawa Shogunate, 1603—1867)

सन् १६०३ ई० में तोकूगावा आयेसू (Tokugawa Iyeyesu) ने स्वयं अपने को शोगुन घोषित कर दिया। इसी समय से तोकूगावा शोगुनेट का आरम्भ होता है। आयेसू ने सन् १६०३ से लेकर सन् १६१६ ई० तक देश पर शासन किया। उसके उत्तराधिकारी हिदेतादा (Hidetada) तथा येमित्सू (Yemitsu) ने क्रमशः सन् १६१६ से १६२२ ई० और सन् १६२२ से १६५१ ई० तक जापान पर शासन किया। यद्यपि हिदेतादा तथा येमित्सू ने अपने शासन काल में जापान की प्रचलित परम्पराओं में कुछ परिवर्तन किये परन्तु उसका राजनीतिक क्षेत्र पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। सन् १६५१ ई० के पश्चात् इस कुल के शोगुनों ने स्वयं देश पर व्यक्तिगत रूप से शासन नहीं किया। उनकी सत्ता एक प्रकार के आयोग में निहित हो गई जो पूरी तरह नीचे के अधिकारियों के नियन्त्रण में थी और जिसके सदस्य उच्च अथवा निम्न परिषद् के हाथों की कठपुतली बन गये थे। प्रो० गबिन्स का कथन है कि जापान के पूरे इतिहास में लगातार शासन की वह प्रणाली दृष्टिगोचर होती है जो और अधिक उपयुक्त नाम के अभाव में 'नाम मात्र की शासन-प्रणाली' कही जा सकती है। यह प्रणाली जापान के सामाजिक, राजनीतिक विचारों का ही स्वाभाविक निष्कर्ष है। (इस युग मे) वास्तविक व नाम मात्र की सामाजिक या राजनीतिक सत्ता लगभग कभी भी मिलती नहीं दिखाई देती। समाज की इकाई परिवार है, हमारी प्रणाली में जिस प्रकार व्यक्ति इकाई होता था, वैसा नहीं था; परिवार पर नाम मात्र का नियन्त्रण परिवार का प्रधान—एक व्यक्ति करता था। किन्तु व्यवहार में अधिकांशतः वह व्यक्ति नाम मात्र को ही प्रधान होता है, वास्तविक सत्ता सम्बन्धियों के उस समूह में निहित होती है जो परिवार-परिषद् में होते हैं। "सत्ता की यह स्थिति शोगुन के कार्यालय और शाही दरबार में भी थी और छोटे परिवार—समूहों के नियन्त्रण में भी।"[1]

राजनीतिक एवं प्रशासनिक संगठन

सन् १६०३ ई० में 'शोगुन' की पदवी धारण करने के समय आयेसू के सामने अधिकार स्थापन और प्रशासनिक संगठन की समस्या थी।

इस समस्या को हल करने के लिये आयेसू ने सर्वप्रथम साम्राज्य की राजधानी

1. विनाके : पूर्व एशिया का आधुनिक इतिहास (अनु०), खण्ड १, पृ० ६०।

क्योतो से हटाकर अपनी सैनिक राजधानी उत्तर की ओर स्थित 'येदो' (Yedo) अथवा आधुनिक टोकियो में स्थापित की। कालान्तर में यह नगर जापान का सबसे बड़ा नगर बन गया। प्रशासन के क्षेत्र में 'बाकुफू' प्रशासन पूर्ववत् चलता रहा और उसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया। सम्राट और कुगे (Kuge) पूर्ववत् रहे। बाकुफू प्रशासन और सामन्तवाद के समन्वय का प्रयत्न अवश्य किया गया। टोकियो नगर में शोगुनों का अत्यन्त भव्य और विशाल निवास स्थान बनाया गया। नगर के चारों ओर तोकूगावा परिवार के सदस्यों को जागीरें दी गयीं। राज्य के सभी प्रमुख स्थानों में विश्वासपात्र व्यक्तियों की नियुक्ति की गई तथा क्योतो और येदो के मध्य स्थित राजमार्ग की सुरक्षा की पूरी व्यवस्था की गई।

राज्य के सभी सामन्त, जिन्हें 'दाइम्यो' (Daimyo) कहा जाता था, इसके लिये विवश किये गये कि वे राजधानी में अपने निवास-स्थान बनवाएँ। सभी दाइम्यो को वर्ष में छः महीने अनिवार्य रूप से राजधानी में रहना पड़ता था। जितना समय वे अपनी जागीर अथवा अन्य किसी स्थान पर व्यतीत करते थे उतने समय तक उनका परिवार राजधानी में रहा करता था। इन सामन्तों के धन को कम करने के लिए उन्हें जहाँ एक ओर बड़े-बड़े महल बनवाने के लिए बाध्य किया गया वहीं पर दूसरी ओर जनता को लाभ पहुँचाने वाली योजनाओं को आरम्भ करने के लिये कहा गया। सन्देहास्पद दाइम्यो की गतिविधियों की सूचना प्राप्त करने के लिए गुप्तचर लगा दिये गये। राज्य के सभी सामन्तों को अपने आचरण के लिये लिखित वचन देना पड़ता था। अपनी जागीरों के अन्दर उन्हें पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त थी। जागीरों के साधारण व्यक्ति—व्यापारी, कृषक आदि—को भी यह स्वतन्त्रता थी कि वे अपने स्थानीय मामलों का गिल्ड, पंच, अथवा नगर-सदस्य की सहायता लेकर समाधान कर लें। इस प्रकार इन दाइम्यो के ऊपर तोकूगावा शोगुनेट काल में पूर्ण नियन्त्रण रखा गया।

शासन प्रबन्ध के क्षेत्र में सिद्धान्ततः अभी भी सम्राट को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया परन्तु व्यावहारिक रूप में उसकी सारी शक्ति एवं सारे अधिकार शोगुन के हाथों में केन्द्रित हो गये। सम्राट पर शोगुन का प्रभाव स्थापित हो गया। सम्राट की राजधानी क्योतो में ही रही। उसका दरबार बराबर लगता था और उसे इतना धन व्यय करने की सुविधा दी गई जिससे वह ऐश्यवर्यपूर्वक जीवन व्यतीत कर सके। परन्तु सम्राट तथा उसके सामन्तों को जागीरें नहीं प्रदान की गयीं। सम्राट के दैवी अधिकारों को विशेष महत्व देते हुए प्रजा और सम्राट के मध्य सीधे सम्बन्ध को समाप्त कर दिया गया। साधारण प्रजा का कोई भी प्रतिनिधि सम्राट से सीधे

नहीं मिल सकता था। उससे भेंट करने के लिए शोगुन की अनुमति तथा बाकुफू प्रशासन के कुछ नियमों का पालन अनिवार्य था। केवल सम्राट के परिवार के सदस्य तथा साम्राज्य के उच्चतम अधिकारी ही नियमों की इस परिधि से बाहर रखे गये। इस सम्भावना को समाप्त करने के लिये कि सम्राट शोगुन के अधिकारों को कम करने का कोई प्रयत्न न करे, क्योतो के चारों तरफ ऐसे व्यक्तियों को जागीरें प्रदान की गयी जिनकी तोकूगावा परिवार के प्रति स्वाभिक्ति असंदिग्ध थी।

राज्य के सभी ऊँचे पदों पर विश्वासपात्र व्यक्तियों को ही नियुक्ति की जाती थी जो अपने सभी कार्यों के लिए बाकुफू प्रशासन के प्रति उत्तरदायी थे। संदेहपूर्ण राज्य कर्मचारियों के आचरण तथा उनकी गतिविधियों को जानने के लिए गुप्तचर नियुक्त किये गये थे और सम्भवत: दोषी कर्मचारियों को दण्ड देने की व्यवस्था की गयी थी। साम्राज्य के सभी भागों में उप-गवर्नरों की नियुक्ति की गई थी। ये दाइम्यो पर नियन्त्रण रखा करते थे। सभी प्रशासनिक अधिकारी अपने क्षेत्रों में शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने के लिए उत्तरदायी थे। उन नगरों की स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया गया जो आशीकागा संघर्ष युग में स्वतन्त्र हो गये थे। बौद्ध मतों की स्वतन्त्रता को भी सीमित करने के प्रयत्न किये गये जिससे उन पर शासन द्वारा नियन्त्रण स्थापित किया जा सके।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि तोकूगावा शोगुनों ने ऐसे सभी उपायों का आश्रय लिया जिससे साम्राज्य में उनकी शक्ति बढ़े, प्रशासनिक संगठन दृढ़ हो, उनके प्रति विद्रोह की सम्भावना न रहे तथा देश के अन्दर शान्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना हो सके। इस सब के मूल में उनका मुख्य उद्देश्य यही था कि जापान विकास के मार्ग पर आगे बढ़ता रहे।

तोकूगावा कालीन संस्कृति

(Tokugawa Culture)

समाज :

सामाजिक क्षेत्र में तत्कालीन समाज कई वर्गों में बँटा था। समाज के अन्दर भी कुछ नियमों का पालन आवश्यक था, जिससे समाज शान्तिपूर्ण एवं सुव्यवस्थित तरीके से आगे बढ़ता रहे। साधारणतः व्यक्ति के कार्य, उनकी वेष-भूषा एवं उनके भोजन के सम्बन्ध में नियम बना दिये गये थे। जिनके अनुसार मनुष्य को कार्य करना पड़ता था। शिक्षा के प्रसार की ओर ध्यान दिया गया। कनफ्यूशियस के सिद्धान्त पर विशेष बल दिया गया। साधारण नागरिक को धर्म की शिक्षा भी दी जाती थी।

मुख्य रूप से समाज चार भागो में विभक्त था। कुगे, समुराई, चोनिन एवं सेन्मिन।

कुगे (Kuge) समाज का उच्चतम वर्ग था इस वर्ग में सम्राट के निकटतम सम्बन्धी एवं उसके सामन्त सम्मिलित किये गये थे और उन्हें सर्वश्रेष्ठ माना जाता था।

समाज का दूसरा वर्ग समुराई (Samurai) मुख्यत: सैनिक वर्ग (Military Class) था। इस वर्ग के अंतर्गत दाइम्यो, हातामोतो एवं गोकनिन, बैशिन, रोनिन तथा गोशी आदि उप-वर्ग थे।

इस प्रकार समुराई अथवा योद्धा वर्ग साम्राज्य का एक महत्वपूर्ण वर्ग था। तोकूगावा काल में यह एक बहुत अधिक अधिकारों व सुविधाओ वाला वर्ग बन चुका था क्योंकि देश में शान्ति स्थापन एवं बाकुफू प्रशासन के सगठन मे उनका विशेष योगदान रहा था।

इस समुराई वर्ग (सैनिक वर्ग) की नीति सहिता 'बूशीदो' (Bushido) के नाम से प्रसिद्ध थी। यह यूरोप के सामन्त युगीन सामन्त-व्यवस्था की याद दिलाती है। इसका सृजन वर्षों के विकास के परिणामस्वरूप हुआ। सैनिक वर्ग की उत्पत्ति के साथ ही बूशीदो का आरम्भ माना जा सकता है। उसके अनुसार साहस, दया, सज्जनता, सत्यप्रियता, आत्म-सम्मान, धन को तुच्छ समझने का प्रवृत्ति, आत्म-नियन्त्रण तथा दृढ़ सिद्धान्तो का पालन प्रत्येक सैनिक का मुख्य कर्त्तव्य था। बूशीदो के अन्तर्गत कठोर अनुशासन पर बल दिया गया तथा आत्म निर्भरता को प्रोत्साहित किया गया। समुराई की पत्नी भी बूशीदो के प्रभाव से मुक्त नही थी। उससे यह आशा की जाती थी कि वह दुखों और कष्टों को प्रकट न होने दे। उसके लिए आत्म विलोपनशील होना आवश्यक था। उसे यह शिक्षा दी जाती थी कि अवसर पड़ने पर वह किस प्रकार अपना जीवन बलिदान कर सकती है। बूशीदो ने न केवल उच्च वर्ग को ही अपितु जनसाधारण को भी प्रभावित किया। समाज के निम्न वर्ग के लोगों ने सामुराई वर्ग के आचार-विचार को अपने व्यवहार में आदर्श माना। अत: जिस समाज व्यवस्था ने समुराई वर्ग के लिए बूशीदो का सृजन किया था उस समुराई वर्ग का कालान्तर में अन्त हो जाने के पश्चात् भी यह नीति संहिता एक सक्रिय शक्ति बनी रही।

समाज का तीसरा वर्ग चोनिन (Chonin) अथवा व्यापारी वर्ग था। तोकूगावा युग में इस व्यापारी वर्ग का महत्व निरन्तर बढ़ता रहा और १८वीं शताब्दी के आरम्भ में यह राज्य का सबसे शक्तिशाली और साहसी तत्व बन गया। इस वर्ग ने व्यापार को आगे बढ़ाया जापान को सम्पन्न तथा समृद्धशाली बनाया।

समाज का अन्तिम वर्ग सेन्मिन (Senmin) अथवा निम्न वर्ग था जिसके सदस्यों को अछूत समझा जाता था। इसके भी दो अन्य उपविभाजन-हिनिन (Hinin) एवं एता (Eta) थे। इनको अन्य वर्गों की अपेक्षा बहुत कम अधिकार प्राप्त थे। साधारणतया एता चमड़े का कारोबार करते थे। इनके निवास स्थान बिल्कुल अलग बनाये जाते थे। साधारण तौर पर यह कहा जा सकता है कि इनके साथ पशुवत् व्यवहार किया जाता था।

शिक्षा :

उस युग के जापान में शिक्षा और ज्ञान को विशेष स्थान दिया गया था। साधारण जनता के मध्य शिक्षा का प्रसार किया जाता था यद्यपि यह प्रसार कनफ्यूशियसवाद से पूरी तरह प्रभावित था। शिक्षित वर्ग का समाज में विशेष सम्मान था। शिक्षा प्रदान करने के लिए समाज के विभिन्न केन्द्रों में शिक्षण संस्थाएँ स्थापित की गयी थीं।

जापान के साहित्य के अन्तर्गत इतिहास, दर्शन, उपन्यास, व्याकरण आदि ग्रन्थों की रचना की गयी। कविता के क्षेत्र में प्रगति नहीं हुई। परन्तु इतिहास के अध्ययन की ओर विशेष ध्यान दिया गया। भाषा-विज्ञान को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया गया।

धर्म :

जापान का प्रमुख धर्म शिंतो था। शिंतो (Shinto) धर्म के अन्तर्गत कामी देवता की कल्पना की गयी है और इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि इसका सम्बन्ध आधुनिक जापान के जीवित सम्राटों और देशों के लिए वीर गति प्राप्त करने वाले सैनिकों को देवता के समान मानने से है। एक रूप से शिंतो धर्म का 'भय आधार के स्थान पर सद्भाव' था। इस धर्म के अन्तर्गत प्रकृति तथा आत्मा की उपासना की जाती थी।

समाज का साधारण वर्ग शिंतो धर्म के साथ-साथ बौद्ध धर्म का अनुयायी था। समाज का उच्च तथा शिक्षित वर्ग कनफ्यूशियसवाद से प्रभावित था। तोकूगावा शोगुन यद्यपि कनफ्यूशियसवाद से प्रभावित होने के कारण कनफ्यूशियस के ग्रन्थो के अध्ययन को प्रोत्साहित करते थे। परन्तु वे बौद्ध धर्म के संरक्षक थे। उन्होंने अनेक स्थानों पर बौद्ध मठों और विहारों का निर्माण किया। इस प्रकार तत्कालीन जापान में शिंतो, बौद्ध तथा कनफ्यूशियसवाद तीनों ही धर्म प्रचलित थे उन्होंने बौद्ध धर्म का अधिक प्रभाव था।

कला :

विभिन्न क्षेत्रों में उन्नति के फलस्वरूप कला के क्षेत्र में भी इस युग में प्रगति हुई। कला क्षेत्र पर धर्म का प्रभाव नहीं पड़ा था। भवन-निर्माण कला में सजावट

तथा अलंकरण की ओर बहुत अधिक ध्यान दिया जाने लगा। चित्रकला के क्षेत्र में मनुष्य के प्रतिदिन के साधारण जीवन को चित्रित किया जाने लगा जिसके फलस्वरूप विषय-वस्तु का विस्तार हुआ तथा चित्रण में वास्तविकता आ गयी। फूलों को सजाने की कला 'इकेबाना' (Ikebana) का विकास हुआ। चीनी मिट्टी की सुन्दर और कलात्मक वस्तुएँ बनाई जाने लगीं। कला में भावुकता (Emotion) को भी स्थान दिया जाता था। सौन्दर्य प्रेमी होने के कारण जापान के निवासी कलात्मक ढग से बाग लगाने में बहुत दिलचस्पी लेते थे।

व्यापार, वाणिज्य एवं उद्योग :

देश के शान्तिपूर्ण वातावरण के कारण व्यापार एवं वाणिज्य की उन्नति हुई। जापान के अधिकतर नागरिक खेती किया करते थे। आर्थिक व्यवस्था कृषि पर आधारित थी। चाय का उत्पादन तथा मछली का पकड़ना देश का बहुत बड़ा उद्योग था। देश के अन्दर अनेक कुटीर उद्योग थे जहाँ पर अत्यन्त सुन्दर एवं कलात्मक वस्तुओं का निर्माण किया जाता था। देश के अन्दर व्यापारिक वृद्धि के लिए अनेक प्रयत्न किये गये थे, यथा राजमार्गो का राजनीतिक उद्देश्यों से निर्माण किया गया जिसके कारण व्यापार को भी प्रोत्साहन मिला। कृषि के विकास के लिए सिंचाई के साधनों को विकसित किया गया।

निष्कर्ष :

निष्कर्ष के रूप में अन्ततः यह कहा जा सकता है कि तोकूगावा शोगुनेट के अन्तर्गत जापान में आन्तरिक तथा वाह्य इन दोनों क्षेत्र में शान्ति स्थापित रही। सुव्यवस्थित बाकुफू प्रशासन के कारण जापान में एकता स्थापित हो सकी और देश एक इकाई (Unit) का रूप ले सका। सभी क्षेत्रों में होने वाली वृद्धि के फलस्वरूप देश तो सम्पन्नता एवं समृद्धि की वृद्धि हुई और देश बराबर प्रगति की ओर आगे बढ़ता रहा। इस युग की यह अभिवृद्धि आधुनिक जापान के मार्ग को प्रशस्त करने की एक कड़ी बन गयी।

जापान का विदेशियों से सम्पर्क

तोकूगावा शोगुनेट युग में ही जापान का यूरोप के देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित हुआ। पूर्वकाल में केवल मार्कोपोलो ही एक ऐसा यूरोपीय यात्री था जिसने १३वीं शताब्दी में मंगोल दरबार में जापान का नाम सुना था।

१६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जिस समय यूरोप के विभिन्न देशों के यात्री व्यापारिक मार्गों की खोज में अन्य देशों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए पूर्व की ओर बढ़े तो वे सर्वप्रथम भारत तथा चीन जा पहुँचे। पूर्व की ओर जापान एक तीसरा देश था जहाँ पुर्तगालियों ने भारत तथा चीन के पश्चात् सन् १५४२ ई० में

सर्वप्रथम प्रवेश किया। १६वीं शताब्दी के अन्त में स्पेन और हालैण्ड के व्यापारी भी जापान पहुँच गये। १७वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अँग्रेज व्यापारी भी जापान जा पहुँचे। यूरोप के ये व्यापारी हिन्द महासागर, मलक्का और फिलीपाइन के मार्ग से जापान जाते थे। इन व्यापारियों का मुख्य उद्देश्य जापान के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना था। चूँकि इन व्यापारियों द्वारा अपनाया गया मार्ग दक्षिणी जापान के समीप पड़ता था, अतः प्रारम्भ में दक्षिणी प्रदेशों में ही इन्होंने अपने-अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित किये। कियूशू (Kiyushu) और नागासाकी (Nagasaki) नामक नगर इनके व्यापार के मुख्य केन्द्र बन गये।

व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के साथ-साथ विभिन्न देशों के यात्रियों ने ईसाई धर्म के प्रसार को भी अपना उद्देश्य बनाया। इस उद्देश्य से सन् १५४६ ई० में जेसुइट धर्म प्रचारक फ्रांसिस जेवियर (Francis Xavier) अपने तीन सहयोगियों के साथ जापान गया। ईसाई धर्म का प्रचार एवं प्रसार करने में वह सफल रहा और इस सम्बन्ध में क्योतो तक जा पहुँचा। यद्यपि फ्रांसिस जेवियर की सन् १५५२ ई० में मृत्यु हो गई परन्तु उसने धर्म प्रसारकों के लिए मार्ग खोल दिया था। अब ईसाई धर्म प्रसारक निरन्तर जापान जाते रहे और बहुत जल्दी उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता भी मिली। हजारों की संख्या में जापान की जनता ईसाई धर्म की अनुयायी हो गयी। ईसाई धर्म का इतनी तेजी के साथ प्रसार होने का एक कारण सम्भवत कुछ सामन्तों द्वारा इन धर्म प्रचारकों की सहायता करना था। एक अन्य कारण ईसाई धर्म की नवीनता थी। जापान के लोग प्रारम्भ से ही चीन के अनेकानेक धार्मिक सम्प्रदायों को स्वीकार करते आ रहे थे। अतः वे इस विदेशी धर्म को स्वीकार करने के लिए भी उत्सुक हो गये। अन्तिम संभावित कारण शोगुनों की उदार नीति और व्यापार में इन विदेशियों के सहयोग का लाभदायक होना था। कुछ भी हो यह सही है कि कुछ समय के लिये ईसाई धर्म का जापान में अत्यधिक प्रसार हुआ।

ईसाई धर्म के इस बढ़ते हुए प्रभाव ने जापान के शोगुनों को इसके लिए विवश कर दिया कि वे ईसाई सम्प्रदाय के प्रसार को नियंत्रित करें। शोगुनों द्वारा ईसाई धर्म के नियन्त्रित करने के निम्नलिखित कारण थे—स्वयं ईसाई धर्म के अन्दर फैले हुए विभिन्न मत। शोगुनों के विरुद्ध किये जाने वाले एक राजनीतिक षड्यन्त्र में कुछ ईसाई व्यक्तियों का सम्मिलित होना, डच, स्पेनी और ब्रिटिश व्यापारियों का आपसी सन्देह और उसके फलस्वरूप होने वाली तनावपूर्ण स्थिति तथा यूरोप के देशों में ही ईसाई धर्म के सम्बन्ध में फैली हुई विभिन्न विचार धाराएँ आदि अनेक कारण थे।

उपर्युक्त कारणों से ईसाई धर्म प्रसारकों एवं व्यापारियों के प्रति तोकूगावा युग के शोगुनों ने कड़ा रुख अपनाया। आयेसू ने तो प्रारम्भ में इन विदेशियों के प्रति

उदारता की नीति अपनाई और अनेक देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध भी स्थापित किये। परन्तु बाद में ईसाई धर्म का विरोध हो जाने के कारण उसने उदारता की नीति त्याग दी। अब आयेमू ने कठोरता की नीति अपनायी और सम्भवतः इस नीति को अपनाने का कारण उसके विरुद्ध किये जाने वाले एक राजनीतिक षडयन्त्र में कुछ ईसाइयों का सम्मिलित होना था। आयेसू के उत्तराधिकारियों ने और भी कड़ा रुख अपनाया। वे ईसाई धर्म को देश से निकालने मात्र से ही सन्तुष्ट नही हुए अपितु उन्होंने बाहरी जगत के साथ अपने देश के सभी सम्पर्क लगभग समाप्त कर दिये। सभी देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध तोड़ दिये गये। सभी ईसाई धर्म प्रसारकों को देश से निष्कासित कर दिया गया। जापान के उन निवासियों से, जिन्होंने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था, कहा गया कि वे ईसाई धर्म का परित्याग कर बौद्ध धर्म को ग्रहण कर लें। केवल डच व्यापारियों को अत्यन्त कड़ी शर्तों के साथ नागासाकी नगर तक जाने और व्यापार करने की आज्ञा दी गयी। डच व्यापारियों को यह छूट केवल इसलिए दी गयी कि वे धर्म प्रसार की अपेक्षा व्यापार करने को अपना प्रमुख लक्ष्य समझते थे।

किन्तु विदेशों के साथ सभी सम्बन्ध तोड़ लेने पर भी जापान उनके प्रभाव से अछूता न रहा। ईसाई धर्म का पूर्ण विनाश नहीं किया जा सका और वह गुप्त रूप से जापान में प्रचलित रहा कला और साहित्य के क्षेत्र को भी इस विदेशी सम्बन्ध ने प्रभावित किया। इस युग को भवन-निर्माण कला में विदेशी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। पुर्तगाली भाषा के कुछ शब्द जापान की भाषा में हिलमिल गये और यूरोप के देशों की राजनीतिक संस्थाओं का परिचय जापान को इसी युग में प्राप्त हुआ। तोकूगावा युग के शोगुनों द्वारा समाप्त किये जाने वाले विदेशी सम्बन्धों का पुनःस्थापन १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कमोडोर पेरी के आगमन से हुआ।

परिशिष्ट-१

यूरोप के प्रमुख राज्य एवं राजवंश

इंग्लैण्ड

ट्यूडर वंश :

हेनरी सप्तम् १४८५-१५०९ ई०
हेनरी अष्टन् १५०९-१५४७ ई०
एडवर्ड षष्ठ १५४७-१५५३ ई०
मेरी ट्यूडर १५५३-१५५८ ई०
एलिजाबेथ प्रथम १५५८-१६०३ ई०

स्टुअर्ट वंश :

जेम्स प्रथम १६०३-१६२५ ई०
चार्ल्स प्रथम १६०३-१६४९ ई०
गणतन्त्र युग १५४९-१६६० ई०
ऑलिवर क्रामवेल १६५३-१६५८ ई० (प्रोटेक्टर अथवा संरक्षक)
रिचर्ड क्रामवेल १६५८-१६५९ ई०

पुन। स्टुअर्ट वंश :

चार्ल्स द्वितीय १६६०-१६८५ ई०
जेम्स द्वितीय १६४९-१६६० ई०
विलियम तृतीय एवं मेरी द्वितीय संयुक्त शासक १६८९-१७०२ ई०
एन १७०२-१७१४ ई०

हैनोवर वंश :

जार्ज प्रथम १७१४-१७२७ ई०
जार्ज द्वितीय १७२७-१७६० ई०
जार्ज तृतीय १७६०-१८२० ई०

फ्रांस

वैलोय (Valois) **वंश :**

चार्ल्स अष्टम् १४८३-१४९७ ई०
लुई द्वादश १४९७-१५१५ ई० –

फ्रांसिस प्रथम १५१५-१५४७ ई०
हेनरी द्वितीय १५४७-१५५६ ई०
फ्रांसिस द्वितीय १५५६-१५६० ई०
चार्ल्स नवम् १५६०-१५७४ ई०
हेनरी तृतीय १५७४-१५८६ ई०

बोरबाँ वंश :

हेनरी चतुर्थ १५८६-१६१० ई०
लुई त्रयोदश १६१०-१६४३ ई०
लुई चतुर्दश १६४३-१७१५ ई०
लुई पंचदश १७१५-१७७४ ई०
लुई सोलहवाँ १७७४-१७९३ ई०
लुई सत्रहवाँ १७९३-१७९५ ई० (शासक घोषित हुआ परन्तु शासन नहीं कर सका)

प्रथम गणतन्त्र युग १७९२-१८०४ ई०

बोनापार्ट वंश :

नैपोलियन बोनापार्ट १८०४-१८१४ ई०

ब्रैण्डेनबर्ग प्रशा

होहेनजोलर्न वंश :

जोशिम प्रथम १४९९-१५३५ ई०
जोशिम द्वितीय १५३५-१५७१ ई०
जॉन जॉर्ज १५७१-१५९८ ई०
जोशिम फ्रेडरिक १५९८-१६०८ ई०
जॉन सिगिसमण्ड १६०८-१६२० ई०
जार्ज विलियम १६२०-१६४०
फ्रेडरिक विलियम (महान् निर्वाचक) १६४०-१६८८ ई०
फ्रेडरिक प्रथम १६८८-१७१३ ई०
फ्रेडरिक विलियम प्रथम १७१३-१७४० ई०
फ्रेडरिक द्वितीय १७४०-१७८६ ई०

परिशिष्ट-२

घटना-तालिका

ईसवी सन्	८००	शार्लमेन का राज्यारोहण
	९६२-१८०६	पवित्र रोमन साम्राज्य
सम्भवतः	११००-१३००	धर्म-युद्ध
	१२१५	मैग्नाकार्टा
	१२२५-१२७४	टॉमस एक्विनास
	१२६५-१३२१	दाँते
	१२७६-१३३७	गियाटो
	१६३८-१४५३	शतवर्षीय युद्ध
	१३५०-१५५०	इटली का पुनर्जागरण
	१३६९-१४१५	जॉन हस
	१४५०-१६००	उत्तरकालीन पुनर्जागरण
	१४५२-१५१९	लियोनार्डो-द-विंची
	१४६३-१४९४	पिकाडेला
सम्भवतः	१४६६-१५३६	इरैसमस
	१४६९-१५२७	मैकियावली
	१४७१-१५२८	अलब्रेख्त ड्यूरर
	१४७३-१५४३	कोपरनिकस
	१४७५-१५६४	माइकेल एंजिलो ब्यूनारेत्ती
	१४७८-१५३५	सर टॉमस मोर
	१४८०	स्पेन में धार्मिक न्यायालयों की स्थापना
	१४८३-१५४६	मार्टिन लूथर
	१४८५-१५०९	हेनरी सप्तम्
	१४९२	कोलम्बस द्वारा अमेरिका की खोज
	१४९७-९८	वास्को-डि-गामा द्वारा भारत की यात्रा
	१५०९-१५६४	जॉन कैल्विन
	१५०९-१५४७	हेनरी अष्टम्
	१५१७	लूथर के ९५ निबन्ध
	१५१९-१५२२	मैगेलन द्वारा विश्व का परिभ्रमण

१५१६-१५५६	सम्राट चार्ल्स पंचम
१५२०-१५६६	सुलेमान महान
१५२४-१५२५	जर्मनी का कृषक-विद्रोह
१५३३-१५८४	रूस का जार इवान चतुर्थ
१५३४	इंग्लैण्ड का ऐक्ट ऑव् सुप्रीमेसी
१५४०	जेसुइट सम्प्रदाय को पोप की स्वीकृति प्राप्त होना
१५४५-१५६४	ट्रेन्ट की सभा
१५४७-१६१४	इलग्रेको (एलग्रीको)
१५४७-१६१६	सर्वेन्टीज
१५५५	आग्सबर्ग की सन्धि
१५५६-१५६८	स्पेन का फिलिप द्वितीय
१५५८-१६०३	एलिजाबेथ प्रथम
१५५६	फ्रांस एवं स्पेन के मध्य काती-कैम्ब्रेजी की सन्धि
१५६४-१६१६	विलियम शेक्सपीयर
१५६४-१६४२	गैलीलियो
१५७१-१६३०	केपलर
१५७८-१६५७	विलियम हारवे
१५८३-१६४५	ह्यूगो ग्रोटस
१५८८	स्पेनी आरमेडा की पराजय
१५८६-१६१०	फ्रांस का हेनरी चतुर्थ
१५६६-१६५०	देकार्त
१५६८	नांत का अध्यादेश
१६००	ब्रिटिश ईस्ट इन्डिया कम्पनी की स्थापना
१६०२-१७६८	डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी
१६०३	इंग्लैण्ड में स्टुअर्ट वंश का प्रभाव स्थापन
१६०३-१६२५	जेम्स प्रथम (इंग्लैण्ड)
१६०६-१६६६	रैम्ब्रेन्ट
१६०६-१६८४	कार्नेल
१६०८-१६७४	मिल्टन
१६१०-१६४३	लुई त्रयोदश
१६११-१६३२	गस्टवस एडाल्फस (स्वीडन)
१६१८-१६४८	तीस वर्षीय युद्ध

१६२२-१६७३	मॉलियर
१६२४-१६४३	कार्डिनल रिशेलू
१६२५-१६४६	चार्ल्स प्रथम (इंग्लैण्ड)
१६२८	अधिकार याचना-पत्र
१६३२-१७०४	जॉन लॉक
१६३२-१६७७	स्पिनोजा
१६४०-१६६०	लांग पार्लियामेण्ट
१६४२-१७२७	न्यूटन
१६४२-१६४८	इंग्लैण्ड का प्यूरिटन विद्रोह अथवा महायुद्ध
१६४३-१७१५	लुई चतुर्दश (फ्रांस)
१६४८-१६६१	कार्डिनल मजारें
१६४८	वेस्टफेलिया की सन्धि
१६४८-१६५३	फ्रौंदे विद्रोह (फ्रांस)
१५४६-१६६०	गणतन्त्र युद्ध (इंग्लैण्ड)
१६५१	हॉब्स का लेवियाथन
१६५३-१६५८	ऑलिवर क्रामवेल
१६५८-१६६०	रिचर्ड क्रामवेल
१६५६	फ्रांस एवं स्पेन के बीच पिरेनीज की सन्धि
१६६०-१६८५	चार्ल्स द्वितीय (इंग्लैण्ड)
१६६१-१६७६	कैवेलियर पार्लियामेन्ट
१६६२-१६८३	कोलबेर
१६६७-१७१४	लुई चतुर्दश के युद्ध
१६८५-१६८८	जेम्स द्वितीय (इंग्लैण्ड)
१६८७	न्यूटन की प्रिंसिपिया
१६८८-८६	रक्तहीन राज्यक्रान्ति
१६८६	बिल ऑव राइट
१६८६	लॉक के सरकार विषयक निबन्ध
१६८६-१७२५	पीटर महान् (रूस)
१६६४-१७७८	वॉल्तेयर
१६६६	कार्लोविल्ज की सन्धि—तुर्की साम्राज्य की शक्ति पर रोक

१७०१	ऐक्ट ऑव सेटिलमेन्ट
१७१२-१७७८	रूसो
१७१३-१७१४	युट्रेक्ट की सन्धि
१७१५-१७७४	लुई पंचदश
१७१५-१७२७	जार्ज प्रथम (इंग्लैण्ड)
१७२७-१७६०	जार्ज द्वितीय (इंग्लैण्ड)
१७४०-१७८०	मेरिया थेरेसा (आस्ट्रिया)
१७४२-१७८६	फ्रेडरिक महान् (प्रशा)
१७४८	मान्तेस्क्यू के सिद्धान्त
१७४९-१८३२	गेटे
१७५६-१७६३	सप्तवर्षीय युद्ध
१७५६-१७९१	मोजार्ट
१७६०-१८२०	जार्ज तृतीय (इंग्लैण्ड)
१७६२-१७९६	कैथरीन महान् (रूस)
१७६५	स्टाम्प ऐक्ट
१७७०-१८२७	बीथोवेन
१७७४-१७९२	लुई सोलहवाँ (फ्रांस)
१७७४-१७८९	फ्रांस की पुरातन-व्यवस्था
१७७४-१७८३	अमेरिकी स्वतन्त्रता का युद्ध
१७७६	अमेरिका द्वारा स्वतन्त्रता की घोषणा
१७७६	एडम स्मिथ का 'वेल्थ ऑव नेशन्स'
१७८७	फ्रांस की एसेम्बली ऑव नोटेबल्स
१७८८	स्टेट्स जनरल (फ्रांस) का आमन्त्रित किया जाना
१७८९	मई में स्टेट्स जनरल की बैठक एवं फ्रांस की राज्यक्रान्ति का प्रारम्भ।

अनुक्रमणिका